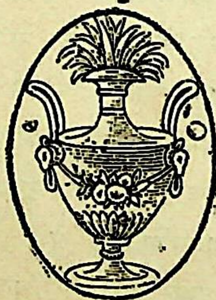
श्रीहरिः

निवेदन

इस समय सारे संसारमें द्वेष, कलह और मार-काट मची हुई है। सभी लोग एक दूसरेका विनाश करनेमें लगे हुए हैं, प्रकृति मानो पूर्णरूपसे क्षुब्ध हो रही है, किसीके जीवनमें सुख-शान्ति नहीं है, प्राणिमात्र विकल है। यह सब ईश्वरमें अविश्वास, सच्चे धर्मपर अनास्था और सदाचारके लोपका परिणाम है। इस भीषण स्थितिसे त्राण पाने और मानव-जीवनके प्रधान लक्ष्य भगवत्प्राप्तिके पुनीत पथपर लोगोंको अग्रसर करनेके लिये आवश्यकता है ईश्वरीय भावोंके पवित्र प्रचारकी। ऐसे आध्यात्मिक भाव सत्सङ्गके बिना सहजमें नहीं मिल सकते। परन्तु सत्पुरुषोंका सङ्ग सब लोगोंको मिलना कठिन है। इसीलिये सत्पुरुषोंकी वाणीका प्रचार किया जाता है, जिससे दूर-दूरके स्थानोंमें रहनेवाले लोग भी अनायास ही सत्सङ्ग-का लाभ उठा सकें। 'तत्त्व-चिन्तामणि' ग्रन्थ ऐसा ही ग्रन्थ है। अब-तक इसके चार भाग प्रकाशित हो चुके हैं और उनसे लोगोंको बड़ा लाभ पहुँचा है। यह उसका पाँचवाँ भाग है। इसमें भी 'कल्याण' में प्रकाशित लेखोंका ही संग्रह है। इन लेखोंमें अनुभव-सिद्ध तत्त्वोंका विवेचन और आदर्श सद्गुणोंका प्रदर्शन बड़े ही सुन्दर ढंगसे किया गया है। आसुरी दुर्गुणोंसे छूटकर अपनी ऐहिक और पारलौकिक उन्नति चाहनेवाले और मनुष्य-जीवनमें परम ध्येयकी प्राप्ति करनेकी इच्छा रखनेवाले प्रत्येक नर-नारीको इस ग्रन्थका अध्ययन और मनन करना चाहिये। आशा है, मेरे इस निवेदनपर सब लोग ध्यान देंगे।

फाल्गुन शुक्ला ११
सं० १९९८
रतनगढ़ (बीकानेर)

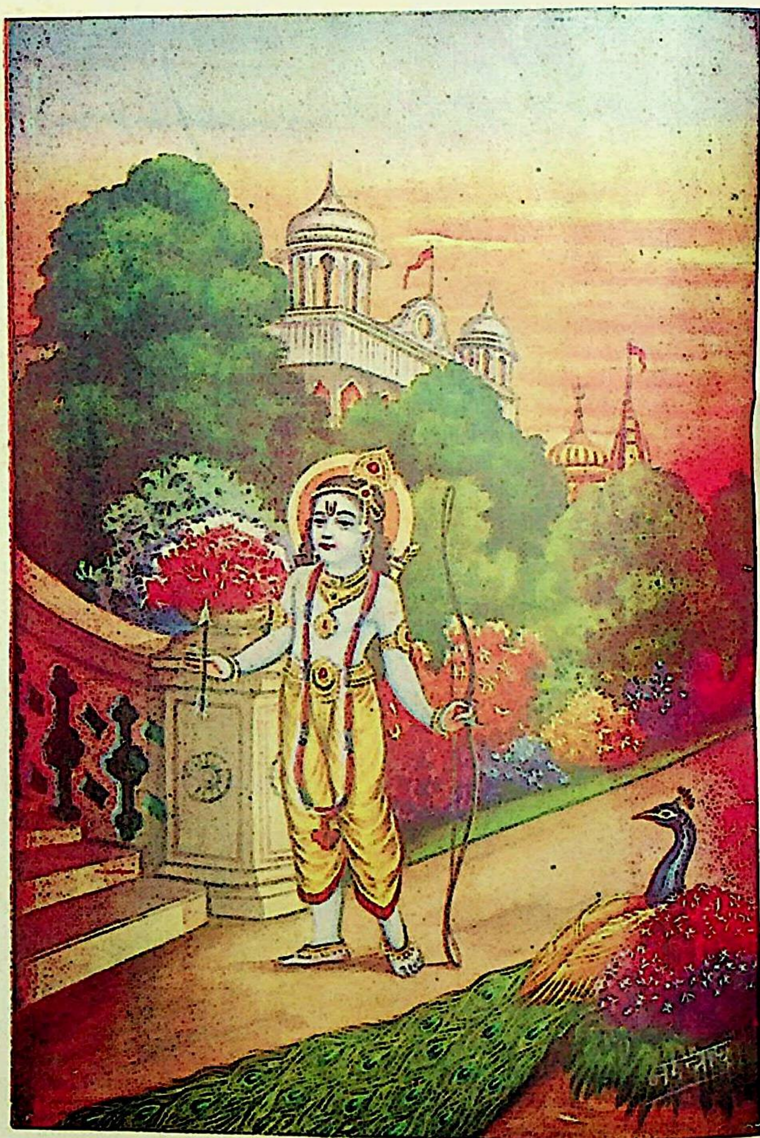
हनुमानप्रसाद पोद्दार
कल्याण-सम्पादक



* ॐ श्रीपरमात्मने नमः *

विषय-सूची

चित्र-सूची



भगवान् श्रीराम

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामके गुण और चरित्र

जिन मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके नाम, रूप, गुण, लीला, प्रेम और प्रभावकी अमृतमयी कथाओंका श्रवण, पठन और मनन ही परम कल्याण करनेवाला है, उन प्रभुके स्वरूपको लक्ष्यमें रखकर, उनके गुण और चरित्रोंको सर्वथा आदर्श मानकर और उनके वचनोंको परमधर्म समझकर जो मनुष्य तदनुसार आचरण करता है उसकी तो बात ही क्या है! ऐसे पुरुषके दर्शन, स्पर्श, भाषण आदिका सौभाग्य जिस मनुष्यको प्राप्त है, वह भी अत्यन्त धन्य है।

कुछ भाई कहा करते हैं कि हम भगवान्‌के नामका जप बहुत दिनोंसे करते हैं; परन्तु जितना लाभ बतलाया जाता है; उतना हमें नहीं हुआ। इसका उत्तर यह है कि भगवान्‌के नामकी महिमा तो इतनी अपार है कि उसका जितना गान किया जाय उतना ही थोड़ा है। नाम-जप करनेवालोंको लाभ नहीं दीखता, इसमें प्रधान कारण है दस नामापराधोंको छोड़कर जप न करना। दस* अपराधोंका त्याग करके जप करनेपर नाम-जपका शास्त्र-वर्णित फल अवश्य प्राप्त हो सकता है। दस अपराधोंको सर्वथा त्याग कर नाम-जप करनेवालेको प्रत्यक्ष महान् फल प्राप्त होनेमें तो सन्देह ही क्या है; केवल श्रद्धा और प्रेम—इन दो बातोंपर खयाल रखकर जो अर्थसहित नामका जप करता है उसे भी प्रत्यक्ष परमानन्दकी प्राप्ति बहुत शीघ्र हो सकती है। नाम-जपके साथ-साथ परमात्माके अमृतमय स्वरूपका ध्यान होते रहनेसे क्षण-क्षण-में उनके दिव्य गुण और प्रभावोंकी स्मृति होती है और वह स्मृति अपूर्व प्रेम और आनन्दको उत्पन्न करती है। यदि यह कहा जाय कि रामचरितमानसमें नाम-महिमामें यह कहा गया है—

भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥

—फिर श्रद्धासहित नाम जपनेसे ही फल हो, ऐसे ही जपनेसे

---

* १ सत्पुरुषोंकी निन्दा, २ अश्रद्धालुओंमें नाम-महिमा कहना, ३ विष्णु और शङ्करमें भेदबुद्धि, ४ वेदोंमें अश्रद्धा, ५ शास्त्रोंमें अश्रद्धा, ६ गुरुमें अश्रद्धा, ७ नाममाहात्म्यमें अर्थवादकी कल्पना, ८ शास्त्रनिषिद्ध कर्मका आचरण, ९ नामके बलपर शास्त्रविहित कर्मका त्याग तथा १० अन्य धर्मोंसे नामकी तुलना—ये दस नामापराध हैं।

फल न हो, यह बात कैसे हो सकती है ? तो इसका उत्तर यह है कि 'भाव-कुभाव' किसी प्रकार भी नाम-जपसे दसों दिशाओंमें कल्याण होता है, इस बातपर तो श्रद्धा होनी ही चाहिये। इसपर भी श्रद्धा न हो तब वैसा फल क्योंकर हो सकता है ? इसपर यदि कोई कहे कि 'विचारद्वारा तो हम श्रद्धा करना चाहते हैं, परन्तु मन इसे स्वीकार नहीं करता; इसके लिये क्या करें ?' तो इसका उत्तर यह है कि बुद्धिके विचारसे विश्वास करके ही नाम-जप करते रहना चाहिये। भगवान्‌पर विश्वास होनेके कारण तथा नाम-जपके प्रभावसे आगे चलकर पूर्ण श्रद्धा और प्रेम आप ही प्राप्त हो सकते हैं। परन्तु यदि अर्थसहित जप किया जाय तो और भी शीघ्र परमानन्दकी प्राप्ति हो सकती है।

बहुत-से भाई कहते हैं कि 'हमलोग वर्षोंसे मन्दिरोंमें भगवान्‌के दर्शन करने जाते हैं, परन्तु हमें विशेष कोई लाभ नहीं हुआ—इसका क्या कारण है ?' तो इसका उत्तर यह है कि विशेष लाभ न होनेमें एक कारण तो है श्रद्धा और प्रेमकी कमी तथा दूसरा कारण है भगवान्‌के विग्रह-दर्शनका रहस्य न जानना। मन्दिरमें भगवान्‌के दर्शनका रहस्य है—उनके रूप, लावण्य, गुण, प्रभाव और चरित्रका स्मरण-मनन करके उनके चरणोंमें अपनेको अर्पित कर देना। परन्तु ऐसा नहीं होता, इसका कारण रहस्य और प्रभाव जाननेकी त्रुटि ही है। मन्दिरमें जाकर भगवान्‌के स्वरूप और गुणोंका स्मरण करना चाहिये और भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये, जिससे उनके मधुर स्वरूपका चिन्तन सदा बना रहे और उनकी आदर्श लीला तथा आज्ञाके अनुसार आचरण होता रहे। जो ऐसा करते हैं, उन्हें भगवत्कृपासे बहुत ही शीघ्र

प्रत्यक्ष शान्तिकी प्राप्ति होती है। देह-त्यागके बाद परमगति मिलनेमें तो सन्देह ही क्या है।

श्रीभगवान्‌के अनन्त गुण हैं, उनका वर्णन कोई नहीं कर सकता। वे भगवान् जीवोंपर दया करके अवतार ग्रहण करते हैं और ऐसी लीला करते हैं जिसके श्रवण, गायन और अनुकरणसे जीवोंका परम कल्याण होता है। मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजी ऐसे ही परम दयालु अवतार हैं। इनके गुण, प्रभाव, आचरण, लीला आदिकी महिमा शेष, महेश, गणेश और सरस्वती भी नहीं गा सकते, तब मुझ-सरीखा एक साधारण मनुष्य तो क्या कह सकता है। तथापि जिन सज्जन महापुरुषोंने अपनी वाणीको पवित्र करनेके लिये महाराजके कुछ गुण शास्त्रोंमें गाये हैं, उन्हींके आधार-बलपर बालककी भाँति मैं भी कुछ कहनेकी चेष्टा करता हूँ।

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके गुण और चरित्र परम आदर्श थे और उनका इतना प्रभाव था कि जिसकी तुलना नहीं हो सकती। उनकी अपनी तो बात ही क्या है, उनके गुणों और चरित्रोंका प्रभाव उनके शासनकालमें सारी प्रजापर ऐसा विलक्षण पड़ा कि रामराज्यमें त्रेतायुग सत्ययुगसे भी बढ़कर हो गया। रामराज्यके वर्णनमें आता है—

सब लोग अपने-अपने वर्णाश्रमके अनुकूल वेदमार्गपर चलते हैं और सुख पाते हैं। भय, शोक, रोग तथा दैहिक, दैविक और भौतिक ताप कहीं नहीं हैं। राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह, झूठ-कपट, प्रमाद-आलस्य आदि दुर्गुण देखनेको भी नहीं मिलते। सब

लोग परस्पर प्रेम करते हैं और स्वधर्ममें दृढ़ हैं। धर्मके चारों चरणों—सत्य, शौच, दया और दानसे जगत् परिपूर्ण है। स्वप्न-में भी कहीं पाप नहीं है। स्त्री-पुरुष सभी रामभक्त हैं और सभी परम गतिके अधिकारी हैं। प्रजामें न छोटी उम्रमें किसीकी मृत्यु होती है, न कोई पीड़ा है; सभी सुन्दर और नीरोग हैं। दरिद्र, दुखी, दीन और मूर्ख कोई भी नहीं है। सभी नर-नारी दम्भरहित, धर्मपरायण, अहिंसापरायण, पुण्यात्मा, चतुर, गुणवान्, गुणोंका आदर करनेवाले, पण्डित, ज्ञानी और कृतज्ञ हैं—

बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहि नहिं भय सोक न रोग॥
दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहि ब्यापा॥
सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती
चारिउ चरन धर्म जग माहीं। पूरि रहा सपनेहुँ अघ नाहीं॥
राम भगति रत नर अरु नारी। सकल परम गति के अधिकारी
अल्पमृत्यु नहिं कवनिउ पीरा। सब सुंदर सब बिरुज सरीरा॥
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना।नहिं कोउ अबुध न लच्छनहीना
सब निर्दंभ धर्मरत पुनी। नर अरु नारि चतुर सब गुनी॥
सब गुनग्य पंडित सब ग्यानी। सब कृतग्य नहिं कपट सयानी

सभी उदार, परोपकारी, ब्राह्मणोंके सेवक और तन, मन, वचनसे एकपत्नीव्रती हैं। स्त्रियाँ सभी पतिव्रता हैं। ईश्वरकी भक्ति और धर्ममें सभी नर-नारी ऐसे संलग्न हैं मानो भक्ति और धर्म साक्षात् मूर्तिमान् होकर उनमें निवास कर रहे हों। पशु-पक्षी

सभी सुखी और सुन्दर हैं। भूमि सदा हरी-भरी और वृक्षादि सदा फूले-फले रहते हैं। सूर्य-चन्द्रमादि देवता बिना ही माँगे समस्त सुखदायी वस्तुएँ प्रदान करते हैं। सारे देशमें सुख-सम्पत्ति-का साम्राज्य छाया हुआ है। श्रीसीताजी और तीनों भाई तथा सारी प्रजा श्रीरामकी सेवामें ही अपना सौभाग्य मानते हैं और श्रीरामजी सदा उनके हितमें लगे रहते हैं। रामराज्यकी यह व्यवस्था महान् आदर्श है। आज भी संसारमें जब कोई किसी राज्यकी प्रशंसा करता है या महान् आदर्श राज्यकी बात कहता है तो सबसे ऊँची प्रशंसामें वह यही कहता है कि बस वहाँ तो 'रामराज्य' है।

जिनके गुणोंसे प्रभावित राज्यमें प्रजा ऐसी हो, उनके गुण और चरित्र कैसे होंगे, इसका अनुमान करते ही हृदय भक्तिसे गद्गद हो उठता है। भगवान्‌के अनन्त गुणों और चरित्रोंका जरा-सा भी स्मरण-मनन महान् कल्याणकारी और परम पावन है, इसी खयालसे यहाँ उनके कुछ गुणोंका बहुत ही संक्षेपमें वर्णन किया जाता है—

गुरुभक्ति

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी गुरुभक्ति आदर्श है। गुरुके प्रति कितनी आदरबुद्धि, कितना विश्वास, उनकी सेवामें कैसी प्रसन्नता और उनके साथ बोलचालमें कैसी विनय होनी चाहिये, इन बातोंका आदर्श श्रीरामकी गुरुभक्तिमें मिलता है। मुनि विश्वामित्रजी आप-के शिक्षागुरु हैं, 'विद्यानिधि भगवान्' ने उनसे विद्या ग्रहण की है। मुनिके साथ श्रीराम-लक्ष्मण दोनों भाई जनकपुरमें पधारते हैं और गुरुकी आज्ञासे नगरकी शोभा देखनेके बहाने नगर-

निवासी नर-नारियोंको नेत्रोंका परम लाभ प्रदान करनेके लिये जनकपुरमें जाते हैं। वहाँ कुछ देर हो जाती है, तब मनमें संकोच करते हैं कि गुरुजी कहीं नाराज तो न होंगे। इस प्रसङ्गमें श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

कौतुक देखि चले गुरु पाहीं। जानि बिलंबु त्रास मन माहीं॥
जासु त्रास डर कहुँ डर होई। भजन प्रभाउ देखावत सोई॥

... ...

सभय सप्रेम बिनीत अति सकुच सहित दोउ भाइ।
गुर पद पंकज नाइ सिर बैठे आयसु पाइ॥

रातको दोनों भाई नियमपूर्वक मानो प्रेमसे जीते हुए प्रेमपूर्वक श्रीगुरुजीके चरणकमल दबाते हैं—

तेइ दोउ बंधु प्रेम जनु जीते। गुर पद कमल पलोटत प्रीते॥

मुनि श्रीवशिष्ठजी आपके कुलगुरु हैं। आप सब प्रकारसे गुरुकी सेवा करनेमें मानो अपना सौभाग्य समझते हैं। वनमें जब वशिष्ठजी भरतजीका पक्ष लेकर भगवान्‌से कहते हैं—

सब के उर अंतर बसहु जानहु भाउ कुभाउ।
पुरजन जननी भरत हित होइ सो कहिअ उपाउ॥

—तब भगवान् श्रीभरतजीपर गुरुका स्नेह देखकर भरतजीके भाग्यकी सराहना करते हुए कहते हैं—

जे गुर पद अंबुज अनुरागी। ते लोकहुँ बेदहुँ बड़भागी॥
राउर जा पर अस अनुरागू। को कहि सकइ भरत कर भागू॥

'जो मनुष्य गुरुके चरणकमलोंके प्रेमी हैं वे लोक और वेद दोनोंमें बड़भागी हैं। फिर जिसपर आपका ऐसा स्नेह है, उस

भरतके भाग्यको तो कौन बखान सकता है ?' और इसी प्रसङ्गमें वशिष्ठजीसे कहते हैं—

························| नाथ तुम्हारेहि हाथ उपाऊ ॥
सब कर हित रुख राउरि राखें। आयसु किएँ मुदित फुर भाषें
प्रथम जो आयसु मो कहुँ होई। माथें मानि करौं सिख सोई ॥

'हे नाथ ! उपाय तो आपके ही हाथ है। आपका रुख रखनेमें और आपकी आज्ञाको सत्य कहकर प्रसन्नतापूर्वक पालन करनेमें ही सबका हित है। पहले तो मुझे जो आज्ञा हो, मैं उसी शिक्षाको सिर चढ़ाकर करूँ !'

एक बार वसिष्ठजी भगवान्से उनके चरणकमलोंमें जन्म-जन्मान्तरतक प्रेम बना रहे, यह वर माँगने आते हैं और भगवान्से एकान्तमें मिलते हैं, उस समय भी मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् गुरुभक्तिका आदर्श स्थापित करनेके लिये—

अति आदर रघुनायक कीन्हा। पद पखारि पादोदक लीन्हा ॥

—उनका अत्यन्त आदर करते हैं और चरण धोकर चरणामृत लेते हैं। धन्य !

पितृभक्ति

मर्यादापुरुषोत्तमकी पितृभक्ति भी अनूठी है। पिताकी स्पष्ट आज्ञाके पालन करनेकी तो बात ही क्या, पिताका संकेत पाकर आपने प्रसन्नतापूर्वक १४ वर्षके लिये अयोध्याका त्याग कर दिया। श्रीदशरथजीने वन-गमनके लिये इन्हें स्पष्ट शब्दोंमें आज्ञा नहीं दी थी। कैकेयी माताके द्वारा ही आपको पिता दशरथकी

मौन सम्मतिका पता लगा था, उसको आपने स्वीकार किया। भारी-से-भारी विपत्तिको सम्पत्ति मानकर उसे सिर चढ़ा लिया। जब माता कैकेयीने बड़ी कठोरताके साथ सब बातें सुनायीं, तब आपने बड़े हर्षके साथ विनयपूर्ण शब्दोंमें उत्साह दिखलाते हुए कहा—

अहं हि वचनाद्राज्ञः पतेयमपि पावके ।
भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे ।

(वा० रा० अयो० १८ । २८,२९)

'हे माता ! मैं महाराज पिताजीकी आज्ञासे आगमें भी कूद सकता हूँ, तीक्ष्ण विष भी खा सकता हूँ और समुद्रमें भी कूद सकता हूँ !'

सुनु जननी सोइ सुतु बड़भागी । जो पितु मातु बचन अनुरागी ।।
तनय मातु पितु तोषनिहारा । दुर्लभ जननि सकल संसारा ।।

मुनिगन मिलनु बिसेषि बन सबहि भाँति हित मोर ।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि संमत जननी तोर ।।

भरतु प्रानप्रिय पावहिं राजू । बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू ।।
जौं न जाउँ बन ऐसेहु काजा । प्रथम गनिअ मोहि मूढ़ समाजा ।।

माता कौसल्याजीके पास जब आप विदा माँगने गये, तब उन्हें बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने अपना दुःख सुनाकर इन्हें रोकना चाहा, तब आपने कहा—

नास्ति शक्तिः पितुर्वाक्यं समतिक्रमितुं मम ।
प्रसादये त्वां शिरसा गन्तुमिच्छाम्यहं वनम् ।।

(वा० रा० अयो० २१ । ३०)

'हे माता ! पिताजीकी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेकी शक्ति

मुझमें नहीं है। मैं सिरसे प्रणाम करता हूँ, तुम प्रसन्न होओ, मैं वनको जाना चाहता हूँ।'

इसी प्रकार आपने लक्ष्मणजीको धर्मकी महिमा और बड़ोंकी आज्ञाके पालनका महत्त्व समझाते हुए कहा—

धर्मो हि परमो लोके धर्मे सत्यं प्रतिष्ठितम्।
धर्मसंश्रितमप्येतत् पितुर्वचनमुत्तमम्॥
सोऽहं न शक्ष्यामि पुनर्नियोगमतिवर्तितुम्।
पितुर्हि वचनाद् वीर कैकेय्याहं प्रचोदितः॥

(वा० रा० अयो० २१। ४१,४३)

'लोकमें धर्म ही श्रेष्ठ है, धर्ममें ही सत्य (सत्यस्वरूप परमात्मा) प्रतिष्ठित है। पिताजीका यह वचन भी धर्मसे युक्त है, इसलिये श्रेष्ठ है। अतः मैं पिताजीकी आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं कर सकूँगा। हे भाई! पिताजीके कथनानुसार माता कैकेयीने मुझे वन जानेकी आज्ञा दी है।'

सत्यः सत्याभिसंधश्च नित्यं सत्यपराक्रमः।
परलोकभयाद् भीतो निर्भयोऽस्तु पिता मम॥

(वा० रा० अयो० २२। ९)

'हे भाई! मेरे पिताजी नित्य सत्यवादी, सत्यप्रतिज्ञ और सत्यपराक्रमी हैं। वे सत्यच्युत होनेके भयसे, परलोकके डरसे डर रहे हैं। मेरेद्वारा उनका यह भय दूर हो, वे निर्भय हो जायँ। अर्थात् मैं वनको चला जाऊँ, जिससे उनके वचन मिथ्या न हों।'

आप अपने शोकमग्न पिताजीसे कहते हैं—'महाराज! इस बहुत ही छोटी-सी बातके लिये आपने इतना दुःख पाया! मुझे

पहले किसीने यह बात नहीं जनायी। महाराजको इस दशामें देखकर मैंने माता कैकेयीसे पूछा और उनसे सब प्रसङ्ग सुनकर हर्षके मारे मेरे सब अंग शीतल हो गये। अर्थात् मुझे बड़ी शान्ति मिली। हे पिताजी! इस मंगलके समय स्नेहवश सोच करना त्याग दीजिये और हृदयमें हर्षित होकर मुझे आज्ञा दीजिये।' इतना कहते-कहते प्रभु श्रीरामचन्द्रजीके सब अङ्ग पुलकित हो गये।

अति लघु बात लागि दुखु पावा। काहुँ न मोहि कहि प्रथम जनावा॥
देखि गोसाइँहि पूँछिउँ माता। सुनि प्रसंगु भए सीतल गाता॥

मंगल समय सनेह बस सोच परिहरिअ तात।
आयसु देइअ हरषि हियँ कहि पुलके प्रभु गात॥

धन्य है आपकी पितृभक्तिको, जिसके कारण स्नेहवश होकर सत्यसन्ध दशरथजीने आपका स्मरण करते हुए ही शरीरका त्याग कर दिया!

मातृभक्ति

आपकी मातृभक्ति बड़ी ही ऊँची है। जन्म देनेवाली माता कौसल्याके प्रति तो आपका महान् आदरभाव है ही। विशेष बात तो यह है कि उनसे बढ़कर आदर आप उन माता कैकेयीजीका करते हैं जिन्होंने आपको कठोर वचन कहे तथा वनमें भेजा। माता कौसल्याने जब कहा कि पितासे माताकी आज्ञा बढ़कर होती है, इससे तुम वनमें न जाओ, तब आपने माता कैकेयीकी आज्ञा बतलायी। माता कौसल्याने उसे स्वीकार किया और कहा—

जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना॥

श्रीभरतजीके साथ जब कैकेयीजी वनमें पहुँचती हैं तब श्रीरामचन्द्रजी सबसे पहले उन्हींसे मिलते हैं और उन्हें समझा-बुझाकर उनका संकोच दूर करते हैं—

प्रथम राम भेंटी कैकेई। सरल सुभायँ भगति मति भेई॥
पग परि कीन्ह प्रबोधु बहोरी। काल करम बिधि सिर धरि खोरी॥

'सबसे पहले रामजी कैकेयी मातासे मिले और अपने सरल स्वभाव तथा भक्तिसे उनकी [तपती हुई] बुद्धिको तर (शीतल) कर दिया। फिर चरणोंमें गिरकर काल, कर्म और विधाताके सिर दोष मढ़कर उनको सान्त्वना दी।'

पञ्चवटीमें एक दिन बात-ही-बात में लक्ष्मणजीने भरतजीकी बड़ाई करते हुए माता कैकेयीकी निन्दा कर दी। उन्होंने कहा—

भर्ता दशरथो यस्याः साधुश्च भरतः सुतः।
कथं नु साम्बा कैकेयी तादृशी क्रूरदर्शिनी॥

(वा० रा० आर० १६। ३५)

'जिसके पति महाराज दशरथजी और पुत्र साधुस्वभाव भरतजी हैं, वह माता कैकेयी ऐसी निर्दय स्वभाववाली कैसे हुई?'

यह सुनते ही भगवान् श्रीरामजीने कहा—

न तेऽम्बा मध्यमा तात गर्हितव्या कदाचन।
तामेवेक्ष्वाकुनाथस्य भरतस्य कथां कुरु॥

(वा० रा० आर० १६। ३७)

'हे तात! तुमको मझली माता कैकेयीकी निन्दा कभी नहीं करनी चाहिये। इक्ष्वाकुकुलनाथ भरतकी ही बात करो।'

और तो क्या, लंका-विजयके पश्चात् जब दिव्यधामसे महाराज

दशरथजी आये तब उनसे भी हाथ जोड़कर यह प्रार्थना करते हैं कि 'हे धर्मज्ञ ! आप मेरी माता कैकेयी और भाई भरतपर प्रसन्न हों। आपने जो कैकेयीको यह शाप दिया था कि मैं तुम्हारा पुत्रसहित त्याग करता हूँ—यह भयंकर शाप, हे प्रभो ! पुत्रसहित माता कैकेयीको स्पर्श भी न करे।'

इति ब्रुवाणं राजानं रामः प्राञ्जलिरब्रवीत्।
कुरु प्रसादं धर्मज्ञ कैकेय्या भरतस्य च ॥
सपुत्रां त्वां त्यजामीति यदुक्ता कैकयी त्वया।
स शापः कैकयीं घोरः सपुत्रां न स्पृशेत् प्रभो ॥

(वा० रा० युद्ध० ११६। २४-२५)

जब अयोध्या लौटते हैं, तब भी पहले माता कैकेयीसे मिलते हैं और समझा-बुझाकर उन्हें सुखी करते हैं। इससे बढ़कर मातृ-भक्तिका और क्या उदाहरण होगा !

भ्रातृप्रेम

मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामका भ्रातृप्रेम भी अतुलनीय है। रामके भ्रातृप्रेमका आदर्श जगत् मान ले तो सारी कलह मिटकर सब भाइयोंमें शान्ति हो जाय। आप लड़कपनसे ही अपने तीनों भाइयोंसे अत्यन्त प्रेम करते थे। सदा उनकी देख-भाल करते और उन्हें सुख पहुँचाने तथा प्रसन्न रखनेकी चेष्टा करते। समय-समयपर खेलमें स्वयं हार मानकर उन्हें जिता देते थे। तीनों भाइयोंको एक साथ लेकर ही भोजन करते। विवाह भी चारोंके साथ ही हुए।

जब महाराज दशरथजीने रामजीके राज्याभिषेकका आयोजन किया, तब यह सुनकर आपके मनमें बड़ा ही खेद हुआ। आपने

पश्चात्ताप करते हुए कहा—हमारे निर्मल कुलमें यह एक प्रथा बड़ी अनुचित है जो दूसरे भाइयोंको छोड़कर अकेले बड़े भाईको राज्य दिया जाता है। अरे, हम सब जन्मे एक साथ, खाना-पीना, सोना-जागना, लड़कपनके खेल, कर्णवेध और उपनयन-संस्कार सब एक साथ हुए और विवाहोत्सव भी सबके एक साथ हुए, अब यह राज्य मुझ अकेलेको क्यों मिलता है ?

जनमे एक संग सब भाई। भोजन सयन केलि लरिकाई ॥
करनवेध उपबीत बिआहा। संग संग सब भए उछाहा ॥
बिमल बंस यहु अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू ॥

श्रीरामजीको अपने राज्याभिषेकका प्रस्ताव बहुत ही अनुचित जँचा; केवल पिताजीकी आज्ञा, प्रजाके हित और भाइयोंकी प्रसन्नता-के लिये ही उन्होंने अपना राज्याभिषेक स्वीकार किया था। इसीसे वन जानेके समय भरतको राज्य मिलनेकी बातसे आपको बड़ी प्रसन्नता हुई। वनमें आपने लक्ष्मणजीसे स्पष्ट शब्दोंमें कहा—

'हे लक्ष्मण ! मैं सत्यपूर्वक और आयुधको छूकर प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ कि मैं धर्म, अर्थ, काम और समस्त पृथ्वी तथा और जो कुछ भी चाहता हूँ, सब तुम्हीं लोगोंके लिये। मैं भाइयों (तुम्हीं लोगों) के संग्रह और सुखके लिये राज्यकी इच्छा करता हूँ। हे लक्ष्मण ! भरत, तुम और शत्रुघ्नको छोड़कर यदि मुझे कोई सुख मिले तो उसको आग जला दे।'

धर्ममर्थं च कामं च पृथिवीं चापि लक्ष्मण ।
इच्छामि भवतामर्थे एतत् प्रतिशृणोमि ते ॥

भ्रातॄणां संग्रहार्थं च सुखार्थं चापि लक्ष्मण ।
राज्यमप्यहमिच्छामि सत्येनायुधमालभे ॥
यद्विना भरतं त्वां च शत्रुघ्नं वापि मानद ।
भवेन्मम सुखं किञ्चिद् भस्म तत् कुरुतां शिखी ॥

(वा० रा० अयो० ९७ । ५, ६, ८)

लक्ष्मणजीके सामने आप भरतजीकी प्रशंसा करते-करते नहीं अघाते और भरतका गुण, शील, स्वभाव कहते-कहते प्रेमार्णवमें डूब जाते हैं—

कहत भरत गुन सीलु सुभाऊ । पेम पयोधि मगन रघुराऊ ॥

चित्रकूटमें भरतने जब श्रीरामजीको लौटानेके लिये बहुत ही अनुरोध किया तब आपने कह दिया, 'भरत ! सुनो; पिताजीने मेरे प्रेमका प्रण निबाहनेके लिये प्राण त्याग दिये, परन्तु सत्यके रक्षार्थ उन्होंने मुझको वनमें भेजा। ऐसे सत्यवादी पिताके वचन टालनेमें मुझको बड़ा संकोच है, परन्तु उससे भी बढ़कर संकोच मुझे तुम्हारा है। तुम संकोच छोड़कर जो कह दो मैं वही करनेको तैयार हूँ। प्रसन्न होकर कहो'—

मनु प्रसन्न करि सकुच तजि कहहु करौं सोइ आजु ।
सत्यसंध रघुबर बचन सुनि भा सुखी समाजु ॥

श्रीभरतजी भी तो आपके ही भाई थे। उन्होंने स्वामीको संकोचमें डालना अनुचित समझा और उन्हींको संकोच छोड़कर आज्ञा देनेको कहा, परन्तु श्रीरामजीका भ्रातृप्रेम यहाँपर परा-काष्ठाको पहुँच गया। वे जब देनेवाली माताके वचनोंको न मान-

कर वनमें चले आये थे, परन्तु आज भरतको कह रहे हैं कि तुम जो कहो सो करनेको तैयार हूँ।

श्रीरामचन्द्रजीने पिताजीकी आज्ञाको निमित्त बनाकर, वशिष्ठ जनकादि गुरुजनोंको तथा भरतको समझा-बुझाकर सन्तोष प्रदान किया और अन्तमें जिस किसी प्रकारसे भी राज्यका पालन भरतजीके जिम्मे लगाया। राज्य और भोग तुच्छ वस्तु हैं—यह आपने इस बातको अपने व्यवहारसे प्रत्यक्ष सिद्ध करके त्यागका एक महान् आदर्श उपस्थित कर दिया। भरतजी भी त्यागमूर्ति थे उन्होंने प्रभुकी आज्ञा मानकर केवल राज्यका पालन ही स्वीकार किया, राज्य नहीं। वे चौदह वर्षकी अवधितक अयोध्याके राज्यमें वैसे ही निर्लिप्त रहे जैसे चम्पाके बागमें भ्रमर रहता है—'चंचरीक जिमि चंपक बागा।'

लंका-विजयके पश्चात् जब विभीषण एक बार लंका पधारनेके लिये आपसे प्रार्थना करते हैं, तब आप कहते हैं—'भाई! तुम्हारा खजाना और घर सब मेरा ही है, यह तुम सत्य जानो! परन्तु भाई भरतकी दशाका स्मरण करके मुझे एक-एक निमेष कल्पके समान बीत रहा है। वह शरीर सुखाये तपस्वीके वेषमें निरन्तर मुझे ही याद कर रहा है, हे मित्र! अब तो वही यत्न करो जिससे मैं उसे जल्दी देख सकूँ। हे भाई! यदि मैं अवधि बीतनेपर जाऊँगा तो प्यारे भाईको जीता न पाऊँगा।' यों कहते भरतजीके प्रेमका स्मरण करके प्रभुका शरीर बार-बार पुलकित होने लगा।

बीतें अवधि जाउँ जौं जिअत न पावउँ बीर।
सुमिरत अनुज प्रीति प्रभु पुनि पुनि पुलक सरीर॥

जब अयोध्यामें पहुँचते हैं, तब तो प्रेमका समुद्र उमड़ पड़ता है। जमीनपर पड़े हुए भरतजीको जबरदस्ती उठाकर आप हृदयसे लगा लेते हैं, शरीर रोमाञ्चित हो जाता है और कमलके समान नेत्रोंसे प्रेमाश्रुओंकी धारा बहने लगती है।

फिर जब राज्याभिषेककी तैयारी होती है, सबका स्नान-मार्जन होता है तब प्रभु स्वयं अपने हाथोंसे भरतजीकी जटाको सुलझाते हैं और तीनों भाइयोंको स्वयं भलीभाँति नहलाते हैं। धन्य भ्रातृ-प्रेम!

पुनि करुनानिधि भरतु हँकारे। निज कर राम जटा निरुआरे॥
अन्हवाए प्रभु तीनिउ भाई। भगत बछल कृपाल रघुराई॥

श्रीलक्ष्मणजीको शक्ति लगती है और वे बेहोश हो जाते हैं। उस समयकी रामकी दशा तो भ्रातृप्रेमका बहुत ही सुन्दर आदर्श है। वे कहते हैं—

परित्यक्ष्याम्यहं प्राणान् वानराणां तु पश्यताम्।
यदि पञ्चत्वमापन्नः सुमित्रानन्दवर्द्धनः॥

(वा० रा० यु० ४९। ७)

'यदि सुमित्राका आनन्द बढ़ानेवाले लक्ष्मणके प्राण चले जायँगे तो मैं भी वानरोंके देखते-देखते ही अपने प्राणोंको त्याग दूँगा।'

गोस्वामी तुलसीदासजीने यहाँपर श्रीरामजीके प्रलापका जो वर्णन किया है, उससे भ्रातृप्रेमकी बड़ी सुन्दर शिक्षा मिलती है।

श्रीरामका राज्यग्रहण वास्तवमें भाइयोंको सुख पहुँचानेके

लिये ही था। ये समय-समयपर जो उपदेश-आदेश किया करते थे, वह भी भाइयोंके हितके लिये ही। उनका वर्ताव ऐसा होता था कि जिसमें भाइयोंको कोई संकोच न हो। एक बार जब भरतजी कुछ पूछना चाहते थे और संकोचवश स्वयं न पूछकर उन्होंने जब हनुमान्‌जीके द्वारा पुछवाया, तब आपने कहा था—

तुम्ह जानहु कपि मोर सुभाऊ। भरतहि मोहि कछु अंतर काऊ॥

अधिक क्या, आप अपने भाइयोंके गुण-गान और उनके स्मरणमें ही सुखी रहते थे—

भरत सरिस को राम सनेही। जगु जप राम रामु जप जेही॥

हनुमान्‌जीने कहा है—

रघुबीर निज मुख जासु गुन गन कहत अग जग नाथ जो।
काहे न होइ बिनीत परम पुनीत सदगुन सिंधु सो॥

इस प्रकार भ्रातृप्रेमका आदर्श उपस्थित करके आपने परमधामकी यात्रा भी अपने भाइयोंके साथ ही की थी। आज भी इन चारों भाइयोंका आदर्श प्रेम जगत्‌में सबके लिये महान् शिक्षाप्रद बना है और सदा बना रहेगा।

पत्नीप्रेम और एकपत्नीव्रत

भगवान् श्रीरामका सीताजीके प्रति जो आदर्श प्रेम था वह उनके महान् एकपत्नीव्रतका साक्षात् उदाहरण है। सीताजीकी प्रसन्नताके लिये ही आप उनको वनमें साथ ले जाते हैं और वहाँ नाना प्रकारके इतिहास, धर्मशास्त्र आदि सुनाकर उनको सुख पहुँचाते हैं। जब रावणद्वारा सीताजीका हरण हो जाता है, तब साधारण मानवकी तरह 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'

(जो मुझे जैसे भजता है उसको मैं वैसे ही भजता हूँ) इन नीतिके अनुसार भाँति-भाँतिसे विलाप करते हुए अपनी विरह-वेदना प्रकट करते हैं। यहाँतक कि उनकी उस विरहदशाको देखकर जगज्जननी सतीतकको मोह हो जाता है। श्रीरामजी उन्मत्तकी भाँति—

हा गुन खानि जानकी सीता। रूप सील ब्रत नेम पुनीता॥

—आदि पुकारते हुए लताओं, वृक्षों, पक्षियों, पशुओं और भ्रमरोंकी पंक्तियोंसे सीताजीका पता पूछते हैं। आकाशपथसे गिराये हुए सीताजीके वस्त्राभूषण जब सुग्रीवजी आपको देते हैं तब आप उन्हें हृदयसे लगाकर चिन्ता करने लगते हैं—'पट उर लाइ सोच अति कीन्हा।' जब हनुमान्‌जी लंका जाते हैं तब उनके द्वारा आप जो सन्देश भेजते हैं, वह तो इतना सुन्दर और इतना ऊँचा है कि उसमें प्रेमका समस्त स्वरूप ही आ जाता है। वे कहते हैं—'हे प्रिये! मेरे और तुम्हारे प्रेमका तत्त्व जानता है केवल एक मेरा मन, और वह मन सदा रहता है तुम्हारे पास! बस, इतनेमें ही मेरे प्रेमका सार समझ लो!'

तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मनु मोरा॥
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं॥

महारानी जानकीजीके पातिव्रत-धर्मके गौरवको और भी उज्ज्वल करनेके लिये प्रजारञ्जनके व्याजसे जब उन्हें वनमें भेज देते हैं, तब पीछेसे अश्वमेधयज्ञमें सीताजीकी स्वर्ण-प्रतिमा बनवाकर आप अपने एकपत्नीव्रतका बड़ा ही पवित्र आदर्श उपस्थित करते हैं। धन्य!

भक्तवत्सलता

भक्तवत्सलता तो भगवान्‌का विख्यात बाना ही है। ऐसा कोई काम नहीं जो भगवान् अपने भक्त या सेवकके लिये नहीं कर सकते। वस्तुतः भगवान्‌के अवतारका प्रधान हेतु भक्तोंपर अनुग्रह करना ही होता है—'परित्राणाय साधूनाम्।' जब भक्त भगवान्‌से मिलनेके लिये व्याकुल होकर उन्हें पुकारता है, तब भगवान्‌को स्वयं पधारना पड़ता है। दण्डकारण्यमें सुतीक्ष्ण नामक अगस्त्य-जीके शिष्य एक मुनि रहते थे। वे श्रीरामजीके बड़े ही अनन्य भक्त थे। उन्हें समाचार मिला कि भगवान् श्रीराम दण्डकवनमें आये हैं। वे दर्शनके लिये व्याकुल हो गये और पागलकी भाँति उठ दौड़े। वे प्रेममें ऐसे मग्न हो गये कि शरीरकी सुधितक भूल गये। श्रीशिवजी कहते हैं—

निर्भर प्रेम मगन मुनि ग्यानी। कहि न जाइ सो दसा भवानी॥
दिसि अरु बिदिसि पंथ नहिं सूझा। को मैं चलेउँ कहाँ नहिं बूझा॥
कबहुँक फिरि पाछें पुनि जाई। कबहुँक नृत्य करइ गुन गाई॥

भक्तवत्सल भगवान् अपने प्रिय भक्तकी यह दशा वृक्षकी ओटसे देख-देखकर मुग्ध हो रहे थे। मुनिका अत्यन्त प्रेम देखकर भगवान् उनके हृदयमें प्रकट हो गये। मुनि हृदयमें भगवान् अवधनाथके दर्शन पाकर पुलकित हो गये और रास्तेमें ही बैठ गये। भगवान् समीप आकर मुनिको ध्यानसे जगाते हैं, परन्तु ध्यानानन्दमें मतवाले मुनि जागते ही नहीं; तब श्रीरामजीने उनके हृदयसे अपना श्रीरामरूप हटा लिया, तब मुनिने व्याकुल होकर आँखें खोलीं। देखते हैं—नेत्रोंके सामने सुखधाम राम उपस्थित

हैं। मुनि कृतार्थ हो गये और प्रेममग्न होकर चरणोंपर गिर पड़े—

आगें देखि राम तनु स्यामा। सीता अनुज सहित सुख धामा॥
परेउ लकुट इव चरनन्हि लागी। प्रेम मगन मुनिबर बड़भागी॥

इसी प्रकार भगवान्‌ने शबरीजीके यहाँ स्वयं पधारकर उनकी अभिलाषा पूर्ण की और—

जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई। धन बल परिजन गुन चतुराई॥
भगति हीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल बारिद देखिअ जैसा॥

—कहकर उन्हें बड़ाई दी। उनके प्रेमभरे बेरोंको खा-खाकर आप अघाये ही नहीं। काकभुशुण्डिजीको तो प्रत्येक अवतारमें ही अपनी परम मधुर बाललीलाका आनन्द प्रदान करते हैं। धन्य हैं!

श्रीहनुमान्‌जीके तो आप अपनेको ऋणी मानते हैं। कहते हैं—

सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ सुर नर मुनि तनुधारी।
प्रति उपकार करौं का तोरा। सनमुख होइ न सकत मन मोरा।
सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं। देखेउँ करि बिचार मन माहीं।

वाल्मीकिरामायणमें भगवान्‌ने हनुमान्‌से कहा है—

चरिष्यति कथा यावदेषा लोके च मामिका।
तावत्ते भविता कीर्तिः शरीरेऽप्यसवस्तथा॥
लोका हि यावत्स्थास्यन्ति तावत्स्थास्यन्ति मे कथाः।
एकैकस्योपकारस्य प्राणान् दास्यामि ते कपे॥
शेषस्येहोपकाराणां भवाम ऋणिनो वयम्॥
मदङ्गे जीर्णतां यातु यत्त्वयोपकृतं कपे।
नरः प्रत्युपकाराणामापत्स्वायाति पात्रताम्॥

(वा० रा० उ० ४०। २१-२४)

'हे हनुमान् ! इस लोकमें जबतक मेरी यह कथा चालू रहेगी, तबतक तेरी कीर्ति और तेरे शरीरमें प्राण रहेंगे। और जबतक जगत् रहेगा तबतक मेरी कथा रहेगी। तेरे एक-एक उपकारके बदलेमें मैं अपने प्राण दे दूँ तो भी तेरे शेष उपकारोंके लिये तो मैं तेरा ऋणी ही बना रहूँगा। हे हनुमान् ! तूने मेरा जो कुछ उपकार किया है वह मेरे शरीरमें ही जीर्ण हो जाय, ऐसा अवसर ही न आवे जब तुझे उपकारोंका बदला पाने योग्य पात्र बनना पड़े। क्योंकि आपत्ति पड़नेपर ही मनुष्य प्रत्युपकारका पात्र होता है।'

शरणागतवत्सलता

भगवान्‌की शरणागतवत्सलता प्रसिद्ध है। उनकी घोषणा है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥

(वा० रा० युद्ध० १८। ३३)

'जो एक बार भी मेरी शरणमें आकर 'मैं तुम्हारा हूँ' ऐसा कहकर मुझसे अभय चाहता है उसको मैं सब भूतोंसे अभयदान दे देता हूँ, यह मेरा व्रत है।'

रावणको सुन्दर सीख देनेके बदलेमें चरणप्रहार पाकर विभीषण नाना प्रकारके सात्त्विक मनोरथ करते हुए भगवान्‌के शरण आते हैं। जब शिविरके द्वारपर पहुंचते हैं तो वानर उन्हें घेर लेते हैं। भगवान्‌के पास संवाद पहुँचता है। भगवान् श्रीरामजी अपने सब मन्त्रियों, सखाओं और सेनापतियोंसे सम्मति चाहते हैं। वाल्मीकीय रामायणके अनुसार वहाँ अंगद, जाम्बवान्, मैन्द, नल, हनूमान् आदि सब अपनी-अपनी सम्मति देते हैं। हनुमान्‌के

सिवा सभीकी सम्मति विभीषणके विरुद्ध ही होती है। रामचरितमानसमें सुग्रीव कहते हैं—राक्षसोंकी माया जानी नहीं जाती; पता नहीं, यह क्यों आया है। यह रावणका भेजा हुआ दुष्ट हमारा भेद लेने आया होगा। मेरा मन तो ऐसा कहता है कि इसे कैद कर लेना चाहिये—

जानि न जाइ निसाचर माया। कामरूप केहि कारन आया॥
भेद हमार लेन सठ आवा। राखिअ बाँधि मोहि अस भावा॥

भगवान् श्रीरामजीने कहा—मित्र ! तुम्हारी नीति तो ठीक है, परन्तु मेरा प्रण है शरणागतके भयको हरना—

सखा नीति तुम्ह नीकि बिचारि। मम पन सरनागत भयहारी॥

× × ×

सरनागत कहुँ जे तजहिं निज अनहित अनुमानि।
ते नर पावँर पापमय तिन्हहि बिलोकत हानि॥

कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू॥
सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जनम कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

अतएव हे सुग्रीव ! जाओ, उसे ले लाओ। सुग्रीव आदिके स्नेहवश आपत्ति करनेपर रामजीने स्पष्ट शब्दोंमें कह दिया—

जौं सभीत आवा सरनाई। रखिहउँ ताहि प्रान की नाई॥

यहाँ तक कि—

आनयैनं हरिश्रेष्ठ दत्तमस्याभयं मया।
विभीषणो वा सुग्रीव यदि वा रावणः स्वयम्॥

(वा० रा० यु० १८।३४)

'हे वानरश्रेष्ठ सुग्रीव ! (तुम घबड़ाते क्यों हो?) यह

व्यक्ति विभीषण अथवा रावण भी हो, तो भी उसको लिवा लाओ। मैंने उसे भी अभयदान दे दिया।'

सुग्रीवजी उन्हें ले आये। भगवान्‌ने उनको अपनी शरणमें रखकर कृतार्थ कर दिया।

लंकामें युद्धके समय एक बार रावणने क्रुद्ध होकर विभीषणपर शक्ति छोड़ी। शक्तिके लगते ही विभीषणका मरण हो जायगा, यह जानकर शरणागतवत्सल भगवान् श्रीरामजी तुरंत ही विभीषणको पीछे करके स्वयं सामने आ गये और भयानक शक्तिको अपने वक्षःस्थलपर ले लिया।

आवत देखि सक्ति अति घोरा। प्रनतारति भंजन पन मोरा॥
तुरत बिभीषन पाछें मेला। सन्मुख राम सहेउ सोइ सेला॥

विभीषणको राज्य तो मिला ही। उन्हें भगवान्‌ने अपनी परम दुर्लभ भक्ति प्रदान की।

सखाओंसे प्रेम

यों तो भगवान् सभी के परम सुहृद् तथा स्वाभाविक ही मित्र हैं, परन्तु लीलामें वे मित्रोंके साथ कैसा व्यवहार करते हैं—यहाँ आज यही देखना है। मनुष्योंको तो सभी अपना मित्र बनाते हैं, भगवान्‌ने राक्षस और वानर-भालुओंतकको अपना सखा बनाकर उन्हें धन्य किया। हनुमान्‌जीकी प्रेरणासे दुःखमें डूबे हुए सुग्रीवको अग्निकी साक्षी देकर आप अपना मित्र बनाते हैं और उनका दुःख सुनते ही आपकी भुजाएँ फड़क उठती हैं और आप कहते हैं—

सुनु सुग्रीव मारिहउँ बालिहि एकहिं बान।
ब्रह्म रुद्र सरनागत गएँ न उबरिहिं प्रान॥

तदनन्तर मित्रका धर्म बतलाते हुए आप कहते हैं—

जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिन्हहि बिलोकत पातक भारी॥
निज दुख गिरि सम रज करि जाना। मित्रक दुख रज मेरु समाना॥
जिन्ह कें असि मति सहज न आई। ते सठ कत हठि करत मिताई॥
कुपथ निवारि सुपंथ चलावा। गुन प्रगटै अवगुनन्हि दुरावा॥
देत लेत मन संक न धरई। बल अनुमान सदा हित करई॥
बिपति काल कर सतगुन नेहा। श्रुति कह संत मित्र गुन एहा॥

मित्रके ये लक्षण सदा ध्यानमें रखने योग्य हैं। इसके बाद भगवान् सुग्रीवको आश्वासन देते हुए कहते हैं—

सखा सोच त्यागहु बल मोरें। सब बिधि घटब काज मैं तोरें॥

मित्र सुग्रीवके सुखके लिये बड़ा भारी उलाहना सहकर भी भगवान् उसके शत्रु भाई वालीका वध कर डालते हैं और सुग्रीवकी मैत्रीको निबाहते हैं।

निषादको सखा बनाकर इतना ऊँचा बना दिया कि स्वयं वशिष्ठजी महाराज हृदयसे लगाकर मिलने लगे—

प्रेम पुलकि केवट कहि नामू। कीन्ह दूरि तें दंड प्रनामू॥
रामसखा रिषि बरबस भेंटा। जनु महि लुठत सनेह समेटा॥

जब भगवान् स्वयं किसी प्रकारका विचार न करके सखा भावसे निषादको हृदयसे लगाकर मिलते हैं तब वशिष्ठजी इस प्रकार मिलें, इसमें क्या आश्चर्य है—

हिंसारत निषाद तामस बपु पसु समान बनचारी।
भेट्यो हृदयँ लगाइ प्रेमबस नहिं कुल जाति बिचारी॥

लंकाविजय करके अयोध्या लौटनेपर अपने इन वानर-भालु

और विभीषणादि सखाओंको बुलाकर उनसे गुरुजीके चरणों
प्रणाम कराते हैं और परिचय देते हुए आप कहते हैं—

ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे। भए समर सागर कहँ बेरे॥
मम हित लागि जन्म इन्ह हारे। भरतहु ते मोहि अधिक पिआरे॥

राज्याभिषेकके पश्चात् अपने इन सब मित्रोंको बुलाक
आपने कहा—

अनुज राज संपति बैदेही। देह गेह परिवार सनेही॥
सब मम प्रिय नहिं तुम्हहि समाना। मृषा न कहउँ मोर यह बाना॥

फिर वस्त्राभूषण मँगवाकर तीनों भाइयोंसहित स्वयं भगवा
श्रीरामचन्द्रजीने अपने हाथोंसे उनको वस्त्राभूषण पहनाकर वि
किया।

भगवान्‌के उन बालसखाओंकी महिमा तो कह ही कौन सक
है, जिन्होंने श्रीअवधपुरीमें चारों भाइयोंके साथ खेलने-खाने
सौभाग्य प्राप्त किया था।

दयालुता

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीको दयाका सागर कहें, तब भी उन
अपरिमित दयाका तिरस्कार ही होता है। जीवोंपर उनकी
दया है, वह कल्पनातीत है। मनुष्य अपनी ऊँची-से-ऊँची कल्पना
उनकी दयाका जहाँतक अनुमान लगाता है, भगवान्‌की दया उ
अनन्तगुना अधिक ही नहीं, असीम और अत्यन्त विलक्षण है
भगवान् वस्तुतः दयामय ही हैं। 'है तुलसिहि परतीति एक प्र
मूरति कृपामयी है।' गीतामें भगवान् कहते हैं—'सुहृदं सर्वभूता
ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति' (५।२९) मुझको सब भूतोंका सुह
जानकर मनुष्य शान्तिको प्राप्त होता है।

अवश्य ही भगवान्‌की दया दोनों रूपोंसे सामने आती है। कहीं वह प्रेमके रूपमें दर्शन देती है, कहीं दण्डके रूपमें। राक्षसों-को भगवान्‌ने मारा, परन्तु मारा नहीं, वास्तवमें तार दिया। भगवान्‌का क्रोध भी मुक्ति देनेवाला है। 'निर्बानदायक क्रोध जाकर'। भगवान्‌के हाथोंसे जितने राक्षस मरे, सबको दुर्लभ गति प्राप्त हुई। कुछके नमूने देखिये—

ताड़काको—

एकहिं बान प्रान हरि लीन्हा। दीन जानि तेहि निज पद दीन्हा॥

विराधको—

तुरतहिं रुचिर रूप तेहिं पावा। देखि दुखी निज धाम पठावा॥

खर-दूषणादिको—

राम राम कहि तनु तजहिं पावहिं पद निर्बान।

मारीचको—

अंतर प्रेम तासु पहिचाना। मुनि दुर्लभ गति दीन्हि सुजाना॥

कुम्भकर्णको—तासु तेज प्रभु बदन समाना।

रावणको—तासु तेज समान प्रभु आनन।

सभी राक्षसोंको—

रामाकार भए तिन्ह के मन। मुक्त भए छूटे भव बंधन॥

इस प्रकार अपनेको दीन न समझनेवाले अति दीन राक्षसोंपर दया करके भगवान्‌ने उनको मारकर तार दिया।

प्रेमसे तो आपने अनेकोंको अपनाया है। सारे वानर-भालुओं-

को वह गौरव दिया जो बड़े-बड़े ऋषि-मुनियोंको भी दुर्लभ है—

प्रभु तरु तर कपि डार पर ते किए आपु समान।
तुलसी कहूँ न राम से साहिब सीलनिधान॥

गौतम मुनिकी पत्नी अहल्या पतिके शापवश पाषाणकी शिला हो गयी थी। उस बेचारीमें यह भी शक्ति नहीं थी कि आर्त्त होकर भगवान्‌को पुकार सके। उसकी दीन दशा देखकर दयामय भगवान्‌ने स्वयं वहाँ पधारकर अपने चरण-स्पर्शसे उसका उद्धार किया।

केवटसे पैर धुलवाकर उसे अपना सुर-मुनि-दुर्लभ चरणोदक देकर परिवारसहित पार कर दिया।

पद पखारि जलु पान करि आपु सहित परिवार।
पितर पारु करि प्रभुहि पुनि मुदित गयउ लेइ पार॥

दण्डकवनको स्वयं पधारकर शापमुक्त किया और वहाँ एक स्थानपर ऋषियोंकी हड्डियोंका ढेर देखकर प्रभु दयापरवश हो गये।

अस्थि समूह देखि रघुराया। पूछी मुनिन्ह लागि अति दाया॥

मुनियोंने दुखी मनसे कहा—भगवन्!

निसिचर निकर सकल मुनि खाए। सुनि रघुबीर नयन जल छाए॥

—राक्षसोंने सारे मुनियोंके समूहोंको खा डाला। यह हड्डियोंका ढेर उन्हीं मुनियोंके शरीरोंका है। यह सुनकर और उनके दुःखको देखकर श्रीरघुनाथजीके नेत्रोंमें जल छा गया और उन्होंने प्रतिज्ञा की·

निसिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह।

दीन सुग्रीवको बालीके महान् अत्याचारसे बचाया। अङ्गदको दीन जानकर अपनाया और उसे युवराजपद दिलाया।

गीधराज जटायुपर जो दया हुई, वह तो सर्वथा अनूठी है। रावणके द्वारा घायल होकर जटायु दीन दशामें पड़ा है। श्रीरघुनाथजी उसके समीप पहुँचते हैं और उसकी दीन दशा देखकर दुखी हो जाते हैं, उठाकर उसे अपनी गोदमें ले लेते हैं और नेत्रोंमें जल भरकर उसे आश्वासन देते हुए अपने कोमल कर-कमलोंको उसके मस्तकपर फ़िराते हुए उसे सुखी करते हैं! किसी कविने क्या ही सुन्दर कहा है—

दीन मलीन दयालु बिहंग परचो महि सोचत खिन्न दुखारी।
राघव दीनदयालु कृपालु को देख दुखी करुना भइ भारी॥
गीध को गोद में राखि कृपानिधि नैन सरोजन में भरि बारी।
बारहिं बार सुधारहिं पंख जटायु की धूरि जटान सों झारी॥

श्रीरघुनाथजीने कहा—'हे तात! आप कुछ दिन और जीवन धारण कीजिये और मुझे पिताका सुख दीजिये।' गीध बड़ा चतुर था, उसने कहा—

जा कर नाम मरत मुख आवा। अधमउ मुकुत होइ श्रुति गावा॥
सो मम लोचन गोचर आगें। राखौं देह नाथ केहि खाँगें॥

इतना कहकर भगवान्‌की गोदमें ही उनकी ओर निर्निमेष दृष्टिसे देखते हुए और मुखसे श्रीरामका पवित्र नाम उच्चारण करते हुए जटायुने मुनिदुर्लभ शान्ति प्राप्त की। तदनन्तर दयामय प्रभुने अपने हाथोंसे उसकी वैसे ही अन्त्येष्टि क्रिया की जैसे अपने पिताकी करते हैं—

पितु ज्यों गीध क्रिया करि रघुपति अपनें धाम पठायो।
ऐसे प्रभुहि बिसारि तुलसि सठ तूँ चाहत सुख पायो॥

दयालुताका कैसा अनुपम उदाहरण है !

प्रजावत्सलता

भगवान् श्रीरामचन्द्रजी अपने सुन्दर बर्ताव और वत्सलतापूर्ण क्रियाओंसे प्रजाके कितने अधिक प्रेमभाजन हो गये थे, इसका पता तब लगता है जब उनके वनगमनकी तैयारी होती है। राज्याभिषेकके उत्सवसे तमाम प्रजामें आनन्द छा रहा है। प्रजामें हर्षका सागर उमड़ उठता है। अचानक दृश्य बदल जाता है। श्रीराम लक्ष्मण और सीताजीको साथ लेकर मुनिवेषमें वनको पधार रहे हैं। प्रजा इस दृश्यको देख न सकी। प्रजा उनके विरहदुःखको सहनेमें अपनेको असमर्थ पाकर उनके साथ हो ली। श्रीरघुनाथजीने उन्हें बहुत प्रकारसे समझाया, परन्तु प्रेमवश कोई भी अयोध्यामें रहना नहीं चाहता।

सबहिं बिचारु कीन्ह मन माहीं। राम लखन सिय बिनु सुखु नाहीं॥
जहाँ रामु तहँ सबुइ समाजू। बिनु रघुबीर अवध नहिं काजू॥

यह निश्चय करके बालक और वृद्धोंको घरोंमें छोड़कर सब लोग उनके साथ हो लिये—

बालक बृद्ध बिहाइ गृहँ लगे लोग सब साथ।

आखिर श्रीरामजीको उन्हें सोये छोड़कर ही आगे बढ़ना पड़ा। जब श्रीभरतजी चित्रकूट जाने लगे, तब प्रजामें श्रीरामदर्शनकी इतनी उत्सुकता बढ़ी कि घरोंकी रखवालीके लिये किसीने घर रहना स्वीकार नहीं किया। जिसको घर रहनेके लिये कहा जाता वही समझता मानो मेरी गर्दन कट रही है।

जेहि राखहिं रहु घर रखवारी। सो जानइ जनु गरदनि मारी॥

सब लोग भरतजीके साथ चित्रकूट गये।

जब श्रीरघुनाथजी लंका-विजय करके लौटे तब तो प्रजाके हर्षका पार न रहा। समाचार पाते ही वे सब-के-सब नर-नारी, जो जैसे बैठे थे वैसे ही उठकर दौड़ पड़े। श्रीभगवान्‌को लक्ष्मणजी और जानकीजीसहित देखकर सब अयोध्यावासी हर्षित हो गये। उनकी वियोगजनित विपत्ति नष्ट हो गयी। सब लोगोंको प्रेमविह्वल तथा मिलनेके लिये अत्यन्त आतुर देखकर, भगवान् श्रीरामजीने एक चमत्कार किया। उसी समय कृपालु श्रीरामजी असंख्य रूपोंमें प्रकट हो गये और सबसे एक ही साथ यथायोग्य मिले। श्रीरघुवीरजीने कृपादृष्टिसे देखकर सब नर-नारियोंको शोकरहित कर दिया। भगवान् क्षणमात्रमें इस प्रकार सबसे मिल लिये। शिवजी कहते हैं—हे उमा! यह रहस्य किसीने नहीं जाना।

प्रभु बिलोकि हरषे पुरबासी। जनित बियोग बिपति सब नासी॥
प्रेमातुर सब लोग निहारी। कौतुक कीन्ह कृपाल खरारी॥
अमित रूप प्रगटे तेहि काला। जथाजोग मिले सबहि कृपाला॥
कृपादृष्टि रघुबीर बिलोकी। किए सकल नर नारि बिसोकी॥
छन महिं सबहि मिले भगवाना। उमा मरम यह काहुँ न जाना॥

सच पूछिये तो प्रजाके सुख और सन्तोषके लिये ही श्रीरामजीने राज्यपद स्वीकार किया। और वास्तवमें यही आदर्श है। जो प्रजाके सुखके लिये ही राजा बनता है वही राजा यथार्थ राजा है। अवधवासियोंके भाग्यका तो कहना ही क्या है, जहाँ प्रेम-परवश स्वयं भगवान् राजा बने हैं। शिवजी कहते हैं—

उमा अवधबासी नर नारि कृतारथ रूप।
ब्रह्म सच्चिदानंद घन रघुनायक जहँ भूप॥

आपकी प्रजावत्सलताका एक ऐसा उदाहरण है जिसकी तुलना जगत्में कहीं नहीं है। जिन सीताजीके लिये आप वन-वनमें विलाप करते भटके, जिनके लिये रावणसे घोर युद्ध किया—केवल प्रजारञ्जनके लिये हृदयको अत्यन्त कठोर बनाकर उन्हीं सीताजीको निर्दोष समझते हुए भी आपने वनमें भेज दिया। धन्य हैं!

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके गुणोंकी गाथा गाकर कौन पार पा सकता है। वे परम दयालु, परम प्रेमी, परम सुहृद्, परम संयमी, परम कल्याणाश्रय, महान् वीर्यवान्, महान् बुद्धिमान्, शस्त्रविद्याविशारद, सौन्दर्य-माधुर्यके निधि, कान्तिमान्, धृतिमान्, जितेन्द्रिय, अत्यन्त गम्भीर, परम विनयी, महान् धीर, अनुपम प्रियदर्शन, मधुरभाषी, महान् क्षमाशील, परम उदार, परम ब्रह्मण्य, संगीतकलानिपुण, आदर्श सत्यवादी और सत्यव्रती, कुसुमसे भी कोमल, किन्तु कर्तव्यपालनमें वज्रसे भी कठोर, परम यशस्वी, महान् वाग्मी, सर्वशास्त्रतत्त्वज्ञ, महान् प्रतिभाशाली, आदर्श पुत्र, आदर्श शिष्य, आदर्श पति, आदर्श भाई, आदर्श स्वामी, आदर्श राजा, आदर्श मित्र, आदर्श शूरवीर, आदर्श आश्रयदाता, आदर्श गुणवान्, आदर्श सदाचारी, आदर्श धर्मव्रती, आदर्श त्यागी, नीतिपरायण, साधुजनप्रिय, परम प्रतापवान्, धर्मरक्षक, सर्वप्रिय, सर्वान्तर्यामी और सर्वशक्तिमान् हैं।

सत्यवादिताके सम्बन्धमें तो उन्होंने स्वयं घोषणा की है—'रामो द्विर्नाभिभाषते' (वा० रा० अयोध्या० १८।३०)—राम दो बार नहीं बोलते! अर्थात् एक बार जो कह दिया सो निश्चित हो गया।

धर्मपरायणताका क्रियात्मक उदाहरण तो उनका समस्त जीवन ही है। साक्षात् भगवान् होनेपर भी आप धर्मकी मर्यादा-रक्षाके लिये नियमितरूपसे सन्ध्या-अग्निहोत्रादि कर्म स्वयं करते हैं। वर्णाश्रमके अनुसार ब्राह्मणों, ऋषियों तथा गुरुजनोंका पूजन करते हैं, यज्ञ-यागादि करते हैं, मन्दिरोंकी स्थापना और मूर्तिपूजन करते हैं, श्राद्ध-तर्पणादि क्रिया सावधानीसे करते हैं।

चित्रकूटमें भरतजीके साथ गये हुए ऋषियोंमें जाबालि नामक एक ऋषि थे। वे महाराज दशरथजीकी सभाके एक प्रधान सदस्य थे। श्रीरामजीकी अयोध्या लौटनेकी बात समझाते हुए उन्होंने कुछ ऐसी बातें कहीं जो नास्तिकवादका समर्थन करनेवाली थीं। उनकी बातोंको सुनकर मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् लीलासे उनपर रुष्ट हो गये और उन्होंने मुनिको फटकारकर बहुत कुछ कहा—

निन्दाम्यहं कर्म कृतं पितुस्तद्
यस्त्वामगृह्णाद् विषमस्थबुद्धिम्।
बुद्ध्यानयैवंविधया चरन्तं
सुनास्तिकं धर्मपथादपेतम्॥

(वा० रा० अयो० १०९। ३३)

"इस प्रकारकी बुद्धिसे आचरण करनेवाले तथा परम नास्तिक एवं धर्ममार्गसे हटे हुए आपको जो मेरे पिताजीने अपना याजक बनाया मैं उनके इस कार्यकी निन्दा करता हूँ, क्योंकि आप बुरे मार्गमें स्थित बुद्धिवाले हैं।'

इन वचनोंसे पता लगता है कि महाराज श्रीरामचन्द्रजी

नास्तिकवादको कितना बुरा समझते थे । नास्तिकवादकी निन्दामें अपने उन पिताके कार्यकी भी निन्दा की, जिनके वचनोंकी रक्षाके लिये आज वनमें बस रहे हैं ।

अन्तमें जाबालि मुनिके यह कहनेपर कि मैं नास्तिक नहीं हूँ; मैंने तो केवल आपको लौटानेके लिये तर्कके तौरपर ये बातें कही थीं । यह मेरा मत नहीं है और गुरु वशिष्ठजीके द्वारा जाबालिजीके इस कथनका समर्थन होनेपर भगवान् श्रीरघुनाथजी शान्त हुए ।

भगवान् श्रीरामजीके सभी भाव विलक्षण हैं । आपका जन्म, बालभाव, कुमारभाव, मिथिलाका मधुरभाव, वनका तापसभाव, लंकाका वीरभाव, राजभाव, प्रेमभाव—सभी आदर्श और महान् अनुकरणीय हैं । आपके आदर्श जीवनसे जो लाभ नहीं उठाता, वह बड़ा ही मन्दभागी है ।

श्रीरामचन्द्रजीके सभी गुण और आचरण आदर्श हैं । उनमें एक भी ऐसी बात नहीं है जो परम आदर्श और अनुकरण करने योग्य न हो । कहीं कोई बात असंगत या अपने मनके प्रतिकूल प्रतीत होती है तो उसमें प्रधान कारण है श्रद्धाकी कमी । श्रद्धा कम होनेसे भगवान्के तत्त्व, रहस्य, गुण और प्रभावका ज्ञान नहीं होता, इसी कारण उनकी लीलामें भ्रमवश मनमें शंका हो जाती है । कोई लीला न समझमें आवे तो उसके अतिरिक्त अन्यान्य आचरणोंका अनुकरण और उनके उपदेशोंका पालन अवश्य ही करना चाहिये । भगवान्ने अपने भाइयोंको तथा प्रजाको जो परम सुन्दर उपदेश दिये हैं उनका अक्षरशः पालन करनेकी चेष्टा

करनी चाहिये और प्रभुकी आज्ञा या उनके आचरणके अनुसार यत्किञ्चित् भी चेष्टा होने लगे तो इसमें प्रभुकी ही कृपा समझनी चाहिये। तथा भगवान्की इस कृपाका बारंबार लक्ष्य और अनुभव करते हुए क्षण-क्षणमें मुग्ध होना चाहिये। महाराजकी प्रत्येक लीलामें प्रेम, दया, क्षमा, सत्य, आदि गुण भरे हैं; उनका अपरिमित प्रभाव सब लीलाओंमें व्याप्त है—यह निश्चय करके प्रत्येक क्रियामें उनके आदर्श व्यवहार, उनके महान् गुण, उनके प्रभाव, तत्त्व और रहस्यका चिन्तन करते हुए तथा उनकी अमृतमय रूप-लावण्ययुक्त मनोमोहिनी मूर्तिका प्रत्यक्षवत् ध्यान रखते हुए सदा प्रसन्न होना चाहिये। वे पुरुष धन्य हैं जो साक्षात् पूर्णब्रह्म परमेश्वर मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजी महाराजके नाम, रूप, गुण, चरित्र, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यको समझ-समझकर प्रेम और आनन्दमें तन्मय हुए संसारमें उनका अनुकरण करते हुए विचरते हैं। यह पृथ्वी धन्य है जहाँ ऐसे पुरुष निवास करते हैं। ऐसे साक्षात् कल्याणमय पुरुषोंका जो दर्शन, भाषण, स्पर्श, स्मरण और सङ्ग लाभ करते हैं वे भी पवित्र हो जाते हैं। ऐसे पुरुषोंके जहाँ चरण टिकते हैं, वह देश तीर्थ बन जाता है और वहाँ प्रेम, आनन्द और शान्तिका स्रोत बहने लगता है। वह कुल धन्य, जगत्पूज्य और परमपवित्र है जहाँ ऐसे भगवत्परायण पुरुषरत्न उत्पन्न होते हैं। भगवान् शिवजी महाराज कहते हैं—

सो कुल धन्य उमा सुनु जगत पूज्य सुपुनीत।
श्रीरघुबीर परायन जेहिं नर उपज बिनीत॥

हमारा लक्ष्य और कर्तव्य

मनुष्य सबसे श्रेष्ठ प्राणी माना जाता है, वह अपनेको श्रे
समझता है, और विचार करनेपर यह सिद्ध होता है कि भगवान्
उसकी रचनामें विशेषता रक्खी भी है; परन्तु वह वास्तवमें श्रे
तभी है, जब कि अपने जीवनके प्रधान लक्ष्यको ध्यानमें रखक
अपना कर्तव्य पालन करता है। आजके संसारकी ओर देखते
तो मालूम होता है लक्ष्यको जानकर कर्तव्य पालन करना तो दू
रहा, लक्ष्य और कर्तव्य क्या है, इस बातको भी प्रायः लोग न
जानते और न जानना चाहते ही हैं!

बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिये कि वह शास्त्रोंसे; शास्त्रोंके वा
न समझमें आवें तो किन्हीं भगवत्प्राप्त पुरुषसे, वैसे पुरुष न मिले
तो धर्मको जानकर धर्मका आचरण करनेवाले किसी पुरुषसे, व
भी न मिले तो अपनी समझसे जो धर्मका जाननेवाला जान प

उसीसे पूछकर अपने कर्तव्यको जान ले। कुछ भी न हो, तो कम-से-कम अपने अन्तरात्मासे तो पूछते ही रहना चाहिये। एक आदमी कहता है 'सत्य बोलना धर्म है' दूसरा कहता है 'धर्म-कर्म कुछ भी नहीं है।' ऐसी अवस्थामें अपने अन्तरात्मासे पूछना चाहिये। बुद्धिसे कहना चाहिये कि वह निष्पक्षभावसे अपना मत जनावे। ऐसा किया जायगा तो अन्तरात्माकी आवाज या बुद्धिका निर्णय यही मिलेगा कि—'सत्य बोलना ही ठीक है।' क्योंकि सत्य सभीको प्रिय है। इसी प्रकार ब्रह्मचर्य, अहिंसादि अन्यान्य प्रसङ्गोंपर भी विचार करना चाहिये और अन्तरात्माका या बुद्धिका निर्णय प्राप्त हो जानेपर तदनुसार करनेके लिये तत्पर हो जाना चाहिये। ऐसे निर्णयको पाकर भी जो तदनुसार नहीं करते, वे अपना पतन आप ही करते हैं। अच्छी बात समझकर भी उसका पालन न करे और बुरी समझकर भी उसका त्याग न करे, उसका पतन अवश्य ही होना चाहिये। श्रीभगवान् कहते हैं—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥
(गीता ६।५)

'मनुष्यको चाहिये कि वह अपने द्वारा अपना संसार-समुद्रसे उद्धार करे और अपनेको अधोगतिमें न डाले; क्योंकि यह मनुष्य आप ही तो अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है।'

हमें जो राग-द्वेष, शोक-भय आदि होते हैं, वे क्यों होते हैं? लोग समझते हैं कि प्रारब्धसे होते हैं परन्तु बात ऐसी नहीं है। ये सब होते हैं अज्ञानसे। राग-द्वेष ही शोक-भयमें कारण हैं और

राग-द्वेष ही क्लेश हैं। अविद्या यानी अज्ञान ही इनका हेतु है— अविद्याका नाश होते ही इन सबका अपने-आप ही नाश हो जाता है।

धन प्राप्त होना या नष्ट हो जाना, बीमारी होना या स्वस्थ हो जाना और जन्म होना या मर जाना आदि-आदि—इन सबमें तो प्रारब्ध हेतु है। परन्तु चिन्ता, भय, शोक, मोह आदिमें तो अज्ञान ही प्रधान कारण है। अज्ञानका नाश होनेपर शोक-मोह नहीं रहते। श्रुति कहती है—

'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥' (ईश० ७)
'हर्षशोकौ जहाति' (कठ० १।२।१२)

शोकादिमें यदि प्रारब्ध हेतु होता तो भगवान् अर्जुनके प्रति यह कैसे कहते कि—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥
(गीता २।११)

'तू न शोक करने योग्य मनुष्योंके लिये शोक करता है और पण्डितोंके-से वचनोंको कहता है। परन्तु जिनके प्राण चले गये हैं उनके लिये और जिनके प्राण नहीं गये हैं, उनके लिये भी पण्डित जन शोक नहीं करते।'

अज्ञानका नाश ज्ञानसे होता है। हमें साधन करके उस ज्ञानको प्राप्त करना चाहिये जिससे शोक-मोह, चिन्ता-भय, चोरी-व्यभिचार, झूठ-कपट और आलस्य-अकर्मण्यता आदि दोषोंका सर्वथा नाश हो जाय। ज्ञान होनेपर अज्ञानका कार्य रह नहीं सकता।

बड़ी अच्छी रसोई बनी है, मिठाई बहुत ही स्वादिष्ट है; हम बड़े चावसे खानेको बैठे हैं। दो ही ग्रास लिये थे कि एक मित्रने चुपकेसे आकर सूचना दी कि 'मिठाईमें जहर है खाना मत' बस, इतना सुनते ही हम मुँहका ग्रास उसी क्षण थूक देते हैं, थाली दूर हटा देते हैं और पेटमें गये हुए ग्रासको भी जल्दी वमन करके वापस निकालनेकी चेष्टा करते हैं। जहरका ज्ञान हो जानेपर पदार्थ कितना ही मधुर और स्वादिष्ट क्यों न हो हम अब उसे नहीं खा सकते। मित्रकी बातपर विश्वास जो ठहरा, उसने जो बतलाया सो ठीक ही बतलाया है। बस, यही हाल संसारके भोगोंका है। हम यदि शास्त्र, भगवान् या सत्पुरुषोंकी वाणीपर विश्वास कर लें तो फिर इन भोगोंमें कभी मन न लगावें। भगवान् स्वयं कहते हैं—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(गीता ५। २२)

'जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं। इसलिये हे अर्जुन! बुद्धिमान् पुरुष उनमें नहीं रमता।'

इतना जानकर भी यदि मनुष्य इन्हींमें मन लगाता है तो वह महान् मूर्ख है। तुलसीदासजी महाराज भी कहते हैं—

नर तनु पाइ विषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ विष लेहीं॥

लोग कह सकते हैं कि विषका असर तो तुरंत होता है, परन्तु इसका कोई असर नहीं दिखलायी पड़ता, इसका उत्तर

यह है कि विष भी तो कई प्रकारके होते हैं, ऐसे विष भी होते ही
जिनका असर पड़ता तो है धीरे-धीरे, परन्तु पड़ता है बड़ा ही
भयानक ! भोग ऐसे ही धीरे-धीरे असर करनेवाला भयानक मं
विष है ।

इसीलिये राजस विषय-सुखको भगवान्‌ने परिणाममें विषतु
बतलाया है ।

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥
(गीता १८ । ३

'जो सुख विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होता है वह प
भोगकालमें अमृतके तुल्य प्रतीत होनेपर भी परिणाममें विषके तु
है । इसलिये वह सुख राजस कहा गया है ।'

यदि कहा जाय कि 'हमलोग तो बहुत विष खा चुके
इसके लिये क्या उपाय करें' उपाय बहुत हैं, पहले खाया हु
विष निकाला भी जा सकता है और पचाया भी ! अच्छे वैद्य इस
उपाय बतला सकते हैं, परन्तु पहले यह विश्वास भी तो हो
यह वस्तुतः विष है। विश्वास होता तो कम-से-कम भविष्यमें
विष खाना बंद हो ही जाता । जब खाना उसी प्रकार चालू
तब कैसे माना जाय कि हमने भगवान्‌के वचनोंपर विश्वास क
इन्हें दुःखदायी और विष मान लिया है ?

सुनते हैं, पढ़ते हैं, परन्तु विश्वास नहीं होता । पूरा विश्वा
होनेपर मनुष्य बिना उपाय किये रह ही कैसे सकता है ? विश्वा

ही विषनाशक साधनके लगनकी आधारभूमि है। सच्ची लगन कैसी होती है?

लगन लगन सब कोइ कहै, लगन कहावै सोय।
नारायन जेहि लगनमें तन-मन डारै खोय॥
जो सिर काटे हरि मिले तो हरि लीजै दौर।
ना जाने या देरमें गाँहक आवै और॥

परन्तु इस विष-सेवनका त्याग तो करना ही चाहिये और शीघ्र ही करना चाहिये। क्योंकि विलम्ब होनेसे रक्षा कठिन हो जायगी। जबतक मृत्यु दूर है, देहमें प्राण है, तभीतक शीघ्र-से-शीघ्र उपाय कर लेना चाहिये। यह नहीं सोचना चाहिये कि अभी क्या है, कुछ दिन बाद कर लेंगे। कौन जानता है, मृत्यु कब आ जायगी। दीर्घजीवनका पट्टा थोड़े ही है! इधर विष तो लगातार चढ़ ही रहा है। रातको ही मौत आ गयी तो फिर क्या होगा? अतएव इसी क्षणसे जग जाना चाहिये, और लग जाना चाहिये पूरी लगनसे!

हमारा लक्ष्य होना चाहिये परमात्माकी प्राप्ति, क्योंकि परमात्मा ही एकमात्र परमसुख और शाश्वती शान्तिके केन्द्र हैं, वे ही सर्वश्रेष्ठ और सबसे बढ़कर प्राप्त करने योग्य परम वस्तु हैं, उनकी प्राप्तिमें ही जीवनकी पूर्ण और यथार्थ सफलता है। और इस परम लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये सतत प्रयत्न करना ही मनुष्यजीवनके कर्तव्यका पालन करना है। इस कर्तव्य-पालनमें जो कुछ भी त्याग करना पड़े, वही थोड़ा है। बस, त्यागकी तैयारी होनी चाहिये, फिर शास्त्र कहते हैं कि परमात्मा मिल सकते हैं और उनका मिलना भी सहज ही है। और

यह भी विश्वास रखना चाहिये कि हम परमात्माकी प्राप्तिके अधि-
कारी हैं। तभी तो मनुष्य-शरीर भगवान्‌ने दिया है। दूसरी
योनियोंकी कमी तो थी ही नहीं; पशु, पक्षी, रीछ, बन्दर कुछ भी
बना सकते थे। फिर उन्होंने हमको 'मनुष्य' क्यों बनाया? इससे
सिद्ध है कि हम इसके अधिकारी थे। भगवान्‌ने हमें मुक्तिका पास
दे दिया है। अब जो कुछ कमी है, वह केवल हमारी ही ओरसे है।
उन्होंने मनुष्य-शरीर देकर हमें मुक्तिका अधिकारी बना दिया,
यदि अब प्रमाद औरपाप करें तो हमारी बड़ी भारी मूर्खता है।
ऐसे ही मूर्खोंके लिये भगवान् कहते हैं—

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥
(गीता १६।१९)

'ऐसे उन द्वेष करनेवाले पापाचारी और क्रूरकर्मी नराधमोंको
मैं संसारमें बार-बार आसुरी योनियोंमें ही डालता हूँ।'

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥
(गीता १६।२०)

'हे अर्जुन! जन्म-जन्ममें आसुरी योनिको प्राप्त वे मूढ़ पुरुष
मुझको न प्राप्त होकर उससे भी अति नीच गतिको ही प्राप्त होते
हैं अर्थात् घोर नरकमें पड़ते हैं।'

पापाचारी और क्रूरकर्मी नराधमोंके लिये आसुरी योनि और
नरकोंका विधान तो ठीक ही है। परन्तु भगवान्‌ने जो 'मुझको न
प्राप्त होकर' कहा, इसका क्या रहस्य है? ऐसे पापियोंके लिये

भगवत्प्राप्तिकी बात ही कैसी ? सरकारका यह कहना तो ठीक है कि अमुक चोर है, बदमाश है, उसे बार-बार जेलमें और कालेपानीमें भेजना है। परन्तु उसे राज्य न देकर जेलमें भेजना है इस कथनका क्या अभिप्राय है ? बात यह है कि भगवान् जब किसी जीवको मानव-शरीरमें भेजते हैं तो उसे मुक्तिका अधिकार देकर ही भेजते हैं। और वह मुक्तिका अधिकार प्राप्त करके आया हुआ जीव जब भगवान्को भूलकर—अपने जन्मसिद्ध अधिकारकी उपेक्षा कर पाप करता है और पुनः नरकोंमें जानेयोग्य बन जाता है, तब मानो भगवान् खेद प्रकट करते हुए-से कहते हैं कि, देखो, इसको मैंने अपनी प्राप्तिका अधिकार देकर भेजा था, परन्तु आज इसे नरकमें भेजनेकी व्यवस्था करनी पड़ती है, इससे बढ़कर खेदकी बात और क्या होगी ?

जैसे किसी राजाके पुत्रका राज्यपर जन्मसिद्ध अधिकार होता है परन्तु उस समय वह नाबालिग होनेके कारण राज्यशासनके योग्य नहीं समझा जाता। राजा स्वयं ही राज्यकी समस्त व्यवस्था करता है और राजकुमारके बालिग होनेपर उसे सारे अधिकार सौंप देनेकी इच्छा रखता है; परन्तु वह यदि अयोग्य निकलता है और बुरी सङ्गतमें पड़कर ऐसे नीच कर्म कर बैठता है जिनके फलस्वरूप, प्रजाका विनाश होता है तो ऐसी परिस्थितिमें जन्मसिद्ध स्वत्व होनेपर भी उसे राज्याधिकारसे वञ्चित कर दिया जाता है, इतना ही नहीं प्रत्युत उसे और भी दण्ड दिया जाता है। और उसे दण्ड देते समय जैसे राजा पश्चात्ताप करता है, ठीक वैसी ही बात मनुष्योंके लिये भी है। मनुष्यको भगवान्की प्राप्तिका जन्मसिद्ध अधिकार

है तथापि अपनी अयोग्यता और विपरीताचरणके कारण उसे अपने अधिकारसे वञ्चित रहकर उल्टा दण्ड भोग करना पड़ता है। इससे अधिक उसका दुर्भाग्य और क्या होगा? इसीलिये भगवान्‌ने उपर्युक्त श्लोकमें 'मुझे न प्राप्त होकर' नीच गतिको प्राप्त होते हैं, ऐसा कहा है।

वस्तुतः यह हमारे लिये बड़े ही परिताप और लज्जाकी बात है कि इस प्रकार हम दयालु भगवान्‌की दयाका तिरस्कारकर अपने मानव-जीवनको व्यर्थ खो रहे हैं। यही मानव-जीवनकी सबसे बड़ी विफलता है और यही मनुष्यकी सबसे बड़ी भूल है। भगवान् कहते हैं—जल्दी चेतो; कालका भरोसा करके विषय-भोगोंमें जरा भी मत फँसो। यह मत समझो कि शरीर सदा रहेगा; यह भी मत समझो कि मुझे भूलकर तुम इसमें कहीं भी सुखकी तनिक छाया भी पा सकोगे। यह मनुष्य-शरीर तो मैंने तुम्हें विशेष दया करके दिया है, अपनी ओर खींचकर परमानन्दरूप परमधाममें ले जानेके लिये। यह बड़ा ही दुर्लभ है। परन्तु यह है अनित्य, क्षणभङ्गुर और जो मुझको भूल जाता है उसके लिये नितान्त सुखरहित भी! इसको प्राप्त होकर तो बस, निरन्तर प्रेमपूर्वक मेरा भजन ही करो। तभी तुम जीवनके परम लक्ष्यरूप मुझको प्राप्त करके धन्य हो सकोगे।

'अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥'
(गीता ९। ३३)

जीवनका रहस्य

संसारकी विचित्र दशा है। मनुष्य जन्मता है, बड़ा होता है, विषय-भोग करता है, सन्तान उत्पन्न करता है, उनका पालन-पोषण करता है, धन, जमीन, मकान तथा अन्य भोगकी सामग्री एकत्र करता है; इनके संग्रहमें न्याय-अन्यायकी परवा नहीं करता और अन्तमें इन सबको यहीं छोड़कर असफलता और अतृप्तिका बोध करता हुआ चिन्ताओं और पापोंका बोझ सिरपर लिये हुए इस असार संसारसे चल देता है। अधिकांश मनुष्योंकी यही दशा है। इस प्रकारके जीवनमें और पशुजीवनमें क्या अन्तर है?

पशु भी अपना पेट भरते हैं, सन्तान उत्पन्न करते हैं और अन्तमें मर जाते हैं। बल्कि कई बातोंमें पशु आजके मनुष्योंसे कहीं

अच्छे हैं। उन्हें भविष्यकी चिन्ता नहीं होती, वे संग्रह नहीं करते और संग्रहके लिये दूसरोंका गला नहीं घोटते। फिर पशुओंमें तो अपना हिताहित सोचनेकी बुद्धि नहीं है, मनुष्यको भगवान्‌ने बुद्धि दी है। फिर भी वह सोचता नहीं कि यह मनुष्य-जीवन हमें किसलिये मिला है—क्या खाने-कमाने, भोग भोगने और अन्तमें असहायकी भाँति सब कुछ यहीं छोड़कर मर जानेके लिये ही हमें यह जीवन मिला है? जिस मनुष्य-जीवनको शास्त्रोंने देव-दुर्लभ बताया है, क्या उसकी चरितार्थता भोग भोगनेमें ही है? ये भोग तो हमें अन्य योनियोंमें भी सुलभतासे प्राप्त हो जाते हैं। जो सुख इन्द्रको अमरावतीमें इन्द्राणीके साथ रहनेमें मिलता है, वही सुख एक कुत्तेको कुतियाके सहवाससे प्राप्त होता है। जो स्वाद हमें षट्रस भोजन करनेमें मिलता है, वही स्वाद विष्ठा खानेवाली शूकरीको विष्ठामें मिलता है। जिस आरामका बोध हमें मखमलके गद्दोंपर लेटनेपर होता है, उसी आरामका बोध एक गदहेको घूरेपर पड़ी हुई राखकी ढेरीपर लोटनेमें होता है। फिर पशुओंमें और हममें क्या अन्तर रहा? हम अपनेको पशुओंसे श्रेष्ठ क्यों मानते हैं? आज हममेंसे कितने भाई इन प्रश्नोंपर गम्भीरतापूर्वक विचार करते हैं? हमारा जीवन भोगमय बन गया है, हम रात-दिन इस शरीरकी ही चिन्तामें व्यस्त रहते हैं। हमने शरीरको ही अपना आत्मा मान रक्खा है, इस शरीरके परे भी कोई वस्तु है, इस बातको जाननेकी हमें आवश्यकता ही नहीं प्रतीत होती। मरनेके बाद हम कहाँ जायँगे, इस जीवनके परे भी कोई जीवन है, इस जीवनमें किये हुए पाप और पुण्यका फल हमें इस जीवनके बाद भी मिल सकता है—इन स

बातोंको हम सोचते ही नहीं। इस जीवनमें हम सुखसे रहें, हमारा मान हो, हमें अधिक-से-अधिक भोग प्राप्त हों—यही हमारे जीवनका लक्ष्य हो गया है। परन्तु क्या यह लक्ष्य ठीक है, आज हम इसी विषयपर कुछ विचार करेंगे।

यह जीवन हमें सांसारिक भोग भोगनेके लिये नहीं मिला है। भोग सभी अनित्य, अस्थिर एवं क्षणभङ्गुर हैं। जिस प्रकार जुगनूकी चमक एक क्षणके लिये अपनी छटा दिखाकर तुरंत विलीन हो जाती है, उसी प्रकार विषय-सुख केवल भोगकालमें सुखदायी प्रतीत होते हैं—भोगके पूर्वकालमें हम उनकी कामनासे जलते हैं और परिणाम भी उनका दुःखदायी होता है। भोगकालमें भी हमें विषयोंमें सुखकी प्रतीतिमात्र होती है। वस्तुतः उनमें सुख नहीं है। यदि सुख होता तो वह ठहरता, उसका विनाश नहीं होता। क्योंकि सत् और असत्की व्याख्या करते हुए भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें हमें यही बतलाया कि सत् वस्तुका कभी विनाश नहीं होता और असत्का भाव नहीं होता—'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' (२। १६) अतएव जो सुख अटल है, नित्य है, ध्रुव है, अविनाशी है, वही वास्तविक सुख है। जो सुख क्षणस्थायी है, एक क्षणमें उत्पन्न होता है और दूसरे क्षणमें विनाश हो जाता है, वह सुख सुख ही नहीं है; वह मिथ्या सुख है, सुखकी भ्रान्ति है। विषयोंके सम्बन्धसे होनेवाले सुखको भगवान्ने राजस और परिणाममें विषके समान दुःखदायी बतलाया है—

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥
(गीता १८। ३८)

'जो सुख विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होता है, वह पहले— भोगकालमें अमृतके तुल्य प्रतीत होनेपर भी परिणाममें विषके तुल्य है, इसलिये वह सुख राजस कहा गया है।'

इसी प्रकार प्रमाद, आलस्य और निद्रासे उत्पन्न होनेवाले सुखको भगवान्‌ने तामस और मोहकारक बतलाया है—

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥

(गीता १८। ३९)

'जो भोगकालमें तथा परिणाममें भी आत्माको मोहित करनेवाला है—वह निद्रा, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न हुआ सुख तामस कहा गया है।'

विषयोंमें सुखकी प्रतीतिमात्र होती है, वास्तवमें उनमें कोई सुख नहीं है—इस तथ्यको समझानेके लिये महात्मालोग एक दृष्टान्त दिया करते हैं। कहते हैं, किसी सरोवरके किनारे एक वृक्षकी शाखामें एक अत्यन्त प्रकाशयुक्त मणि लटक रही थी। मणिकी परछाईं उस सरोवरके जलपर पड़ रही थी। किसी मनुष्यकी दृष्टि उस परछाईंपर गयी और उस परछाईंको मणि समझकर वह उसको पानेके लिये बार-बार जलमें गोता लगाने लगा। किन्तु मणि तो वहाँ थी नहीं, फिर वह उसके हाथ कैसे आती? एक महात्माने उसके व्यर्थ प्रयासको देखकर उससे कहा कि 'जिसे मणि समझकर पानेके लिये तुम बार-बार जलमें गोता लगा रहे हो, वह मणि नहीं है अपि तु मणिकी परछाईंमात्र है। मणि तो

ऊपर वृक्षकी शाखामें लटक रही है। परछाईंको पकड़नेकी तुम जीवनभर चेष्टा करते रहो, वह तुम्हारी पकड़में नहीं आनेकी। मणि प्राप्त करना चाहते हो तो परछाईंके लिये व्यर्थमें परेशान होना छोड़कर ऊपरकी ओर दृष्टि करो और वृक्षपर चढ़कर मणिको ले आओ।' अब तो उस मनुष्यको अपनी भूल समझमें आ गयी और उसने परछाईंको पकड़नेकी भूलभरी चेष्टा छोड़कर महात्माके बतलाये हुए मार्गसे वृक्षपर चढ़कर उस मणिको पा लिया। जो लोग सुखकी आशासे विषयोंके पीछे भटकते रहते हैं, उनकी दशा मणिको पानेकी आशासे उसकी परछाईंको पकड़नेके लिये व्यर्थ प्रयास करनेवाले उस मूढ़ मनुष्यकी-सी है। आज संसारमें यही हो रहा है। इसीलिये हमलोग असली सुखसे वञ्चित होकर जीवन-भर दुःख ही पाते रहते हैं। परन्तु बार-बार दुःख पानेपर भी हम विषयोंसे सुख पानेकी आशाको छोड़ते नहीं और बार-बार उन्हींको पकड़ते हैं। यही तो मोहकी महिमा है। मदिरा पीकर मनुष्य जैसे मतवाला हो जाता है और उसे पूर्वापरका ज्ञान नहीं रहता, उसी प्रकार हमलोग भी मोहरूपी मदिराको पीकर विवेकशून्य हो गये हैं और विषयोंके पीछे पागल हुए-से भटक रहे हैं—'पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत्।'

थोड़ी देरके लिये यदि मान लिया जाय कि विषयोंमें सुख है—क्योंकि हमें उसकी अनुभूति होती है—तो कम-से-कम इतनी बात तो स्पष्ट है कि वह सुख अल्प है, अनित्य है, क्षणिक है, सदा रहनेवाला नहीं है। यदि वह नित्य होता तो जिन्हें विषय-

सुख प्रचुरतासे प्राप्त है, वे कभी दुखी होते ही नहीं, सदा सुखी ही रहते। परन्तु ऐसा देखनेमें नहीं आता। जिनके पास जितनी ही अधिक विषय-भोगकी सामग्री है, वह उतना ही अधिक दुखी देखा जाता है। बात भी ठीक ही है। जो वस्तु स्वयं अनित्य है, वह हमें नित्य सुख कैसे दे सकती है? संसारका प्रत्येक पदार्थ नश्वर है, विनाशकी ओर जा रहा है। बल्कि यों कहना चाहिये कि प्रतिक्षण उसका विनाश हो रहा है। जैसे दीपककी लौ दीखनेमें एक होनेपर भी प्रतिक्षण बदलती रहती है, अथवा जैसे नदीका जल एक दीखनेपर भी प्रतिक्षण बदलता रहता है, उसी प्रकार संसारके प्रत्येक पदार्थका प्रतिक्षण रूपान्तर होता रहता है। आज किसी वस्तुको हम जिस रूपमें देखते हैं, कल उसका दूसरा ही रूप हो जायगा और परसों उसका रूप कुछ और ही हो जायगा। उदाहरणके लिये दूधको लीजिये। दूधकी जो आकृति, गुण और स्वाद आज है, कल उसकी वह आकृति, गुण और स्वाद नहीं रह जायगा। परसों उसकी आकृति, गुण और स्वादमें और भी अन्तर आ जायगा। आज तो दूध हमें अमृतके समान लगता है, कल वह खट्टा लगने लगेगा, परसों उसमें खट्टी बदबू आने लगेगी तथा उसका गुण और स्वाद भी बिगड़ जायगा एवं यदि कुछ दिन उसे और पड़ा रक्खा जाय तो जो दूध एक दिन स्वाद और गुणमें अमृतके समान था, वही विषतुल्य हो जायगा। यही बात न्यूनाधिक रूपमें संसारके सभी पदार्थोंके सम्बन्धमें समझनी चाहिये। किसीका रूपान्तर जल्दी हो जाता है किसीका देरसे होता है।

न्तु होता सबका है। ऐसे क्षणभङ्गुर पदार्थोंसे हम नित्य सुखकी ाशा ही कैसे कर सकते हैं ?

फिर विषयोंके साथ हमारा सम्बन्ध भी नित्य नहीं है। आज जस पदार्थको हम अपना मानकर इतराते हैं, कल ही उसके साथ मारा सम्बन्ध छूट सकता है। यह शरीर भी जब हमारा नहीं है, जिसको लेकर हम विषयोंको अपना माने हुए हैं, तब विषय तो मारे हो ही कैसे सकते हैं ? इस शरीरके साथ हमारा सम्बन्ध ब छूट जाय, पता नहीं। शरीर छूट जानेपर उन समस्त पदार्थोंसे जन्हें हम अपना माने हुए हैं, हमारा सम्बन्ध अपने-आप छूट ायगा। पूर्व जन्ममें हमारा जिन पदार्थोंसे अथवा व्यक्तियोंसे म्बन्ध था, आज सम्बन्धकी बात तो अलग रही, उनकी हमें स्मृति ी नहीं है। उसी प्रकार इस जन्मके पदार्थोंसे हमारा, मृत्यु ो जानेपर, कोई सम्बन्ध नहीं रह जायगा; बल्कि हमें इनकी मृतितक नहीं रह जायगी। लाख प्रयत्न करनेपर भी इनमेंसे एक ी पदार्थ हमारे साथ नहीं जा सकेगा। और मृत्यु हमारी एक--एक दिन निश्चित है। उसे हम एक क्षणके लिये भी नहीं ाल सकते। ऐसी दशामें यहाँके पदार्थोंसे सम्बन्ध जोड़ना, उन्हें पना मानना और उनके बटोरनेमें आयु बिता देना कहाँतक ुद्धिमानी है—इसे स्वयं सोच सकते हैं।

इसके अतिरिक्त जितने भी विषय-सुख हैं, वे सब क्षणिक ोनेके साथ ही विषयुक्त मधुकी भाँति दुःखमय हैं। भोगकालमें ुखरूप भासनेपर भी वे परिणाममें दुःखरूप ही हैं। उदाहरणतः

स्त्रीप्रसङ्गके सुखको ही लीजिये ! उससे क्षणभरके लिये हमें सुख प्रतीत होता है, उसके मुकाबिलेमें दुःखकी मात्रा कि अधिक होती है—इसका भी अंदाजा लगाइये । जिससे हमारे वीर्य, बुद्धि, तेज, आयु आदिका नाश होता है, लोक-पर बिगड़ता है और शरीरमें भी शिथिलता और क्लान्तिका ब होता है । ऐसी दशामें इन क्षणिक विषयोंके भोगनेमें ही बिता देना मूर्खता नहीं तो क्या है ? अतः विषय-सुखोंका कर जो वास्तविक एवं स्थायी सुख है, जिसका कभी नाश होता और जो मृत्युके बाद भी बना रहता है, उस सुखको करनेकी हमें प्राणपणसे चेष्टा करनी चाहिये । इस सुखको करना ही मनुष्य-जीवनका लक्ष्य है । यही परम पुरुषार्थ वेद-शास्त्र इसीको प्राप्त करनेकी हमें आज्ञा देते हैं । इसीको लेनेपर मनुष्य सदाके लिये निहाल हो जाता है, कृतकृत्य हो है, जन्म-मृत्युको लाँघ जाता है, सब प्रकारके दुःख, भय, और चिन्ताओंसे मुक्त हो जाता है, सब प्रकारके बन्धनों जाता है । इसीको परमात्मा अथवा परमपदकी प्राप्ति कहते इसीको प्राप्त करना हमारा सबसे बड़ा एवं मुख्य कर्तव्य है इसीके लिये हमें यह जीवन मिला है ।

भोग-सुख तो हमें देव, तिर्यक् आदि अन्यान्य योनियों प्राप्त हो सकते हैं । न जाने अबतक हमारे कितने जन्म हो हैं; न जाने कितनी बार हमने स्वर्गसुख भोगा है, कितनी हम इन्द्र बन चुके हैं, कितनी बार हम चक्रवर्ती सम्राट् हो हैं, कितनी बार हमने स्त्री-सुख, सन्तान-सुख, और जिह्वा

इन्द्रियोंके सुख भोगे हैं। परन्तु फिर भी इनसे हमारी तृप्ति नहीं हुई। हमारी सुखकी खोज अभी बनी ही हुई है। और जबतक हम परमात्मरूप नित्य एवं निरतिशय सुखकी प्राप्ति नहीं कर लेंगे तबतक हमारी यह सुखकी खोज बनी ही रहेगी, हमारी तृप्ति कभी होनेकी नहीं। अनन्त सुखकी खोज ही जीवका धर्म है। जबतक यह सुख उसे प्राप्त नहीं हो जायगा, तबतक उसे चैन नहीं मिलेगा; न उसका भटकना ही बंद होगा और न तो उसे विश्राम ही मिलेगा। इसलिये विषयोंके लिये भटकना छोड़कर उस परम सुखकी प्राप्तिके लिये ही मनुष्यको निरन्तर अथकरूपसे चेष्टा करनी चाहिये और जबतक वह प्राप्त न हो जाय तबतक उसे दूसरी ओर ताकना भी नहीं चाहिये।

इस परम सुखकी प्राप्ति मनुष्ययोनिमें ही सम्भव है, अन्य किसी योनिमें नहीं। क्योंकि और सब योनियाँ तो भोगयोनियाँ हैं। मनुष्यजीवनमें किये हुए शुभाशुभ कर्मोंका फल हम अन्य योनियोंमें भोगते हैं। कर्म करनेका अधिकार तो केवल मनुष्ययोनिमें है। इसीलिये इसे कर्मयोनि कहते हैं, इसीलिये इसे सब योनियोंमें श्रेष्ठ कहा गया है, इसीलिये गोस्वामी तुलसीदासजीने इसे 'साधन-धाम' और 'मोक्षका द्वार' कहा है, इसीलिये देवतालोग भी मनुष्य-योनिमें जन्म लेनेके लिये तरसते रहते हैं और इसीलिये इस मनुष्य-देहको क्षणभङ्गुर होनेपर भी देवदुर्लभ कहा गया है। यह देवदुर्लभ देह हमें भगवान्की कृपासे ही प्राप्त होती है। जब यह जीव चौरासी लाख योनियोंमें भटककर हैरान हो जाता है, तब भगवान् करुणा करके उसे मनुष्य-शरीर देते हैं—

कबहुँक करि करुना नर देही । देत ईस बिनु हेतु सनेही

ऐसे देव-दुर्लभ मनुष्य-शरीरको पाकर भी यदि हमने अप
असली काम नहीं बनाया—जिसके लिये हम इस संसारमें आ
हैं—तो हमसे बढ़कर मूर्ख कौन होगा ? शास्त्रोंने तो ऐसे मनुष्य
कृतघ्नी और आत्महत्यारा बतलाया है। गुसाईंजी महारा
शास्त्रोंका ही अनुवाद करते हुए कहते हैं—

> जो न तरै भव सागर नर समाज अस पाइ ।
> सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ ॥

यह मनुष्य-शरीर हमें बार-बार नहीं मिलनेका । ऐसे दु
अवसरको यदि हमने हाथसे खो दिया तो फिर सिवा पछताने
और कुछ हाथ नहीं लगेगा। मनुष्येतर प्राणियोंमें न तो भले-बुरे
पहचान होती है, न कार्याकार्यका ज्ञान होता है और न शास्त्रानु
आचरण करते हुए उस परम सुखको प्राप्त करनेका साधन ही ब
सकता है । इसलिये शीघ्र-से-शीघ्र इस जीवनमें ही हमें उस पर
सुखको प्राप्त कर लेना चाहिये और उसके लिये कोई उपाय छोड़
रखना चाहिये। इसीमें हमारी बुद्धिमत्ता है और इसीमें हमारे जीव
की सफलता है । यदि जीवनमें हमने बहुत-सी भोगसामग्री एक
कर ली, बहुत-सा मान-सम्मान प्राप्त किया, बहुत नाम कमाय
हजारों-लाखों रुपये, विपुल सम्पत्ति, हाथी, घोड़े, नौकर-चाक
तथा बहुत बड़े परिवारका संग्रह किया;किन्तु यदि जीवनका वास्तवि
उद्देश्य सिद्ध नहीं किया तो हमारा किया-कराया सब व्यर्थ है
नहीं हो गया, बल्कि यह सब करनेमें जो हमने पापाचरण किय

उसके फलरूपमें हमें नरकोंकी प्राप्ति होगी, हम नीचेकी योनियोंमें ढकेले जायँगे। इसके विपरीत यदि हमारा जीवन लौकिक दृष्टिसे कष्टोंमें वीता, हमें मान प्राप्त नहीं हुआ बल्कि जगह-जगह हम दुरदुराये गये, हमारा किसीने आदर नहीं किया, किसीने हमसे बात नहीं पूछी, किन्तु हमने अपने जीवनका सदुपयोग किया, जिस कार्यके लिये हम आये थे उस कार्यको बना लिया तो हम कृतकार्य हो गये, हमारा जीवन धन्य हो गया।

अब हमें यह देखना है कि दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति और अविनाशी सुखकी प्राप्तिका उपाय क्या है ? हम देखते हैं कि सभी प्राणी सुख चाहते हैं, दुःख कोई भी नहीं चाहता। परन्तु संसारमें सुख कहीं ढूँढ़नेसे भी नहीं मिलता। जहाँ देखिये वहीं हाय-हाय मची हुई है। सभी लोग दुःख और अशान्तिकी ज्वालासे जल रहे हैं। कोई हमारे देखनेमें सुखी है भी तो वह अधिक सुखके लिये लालायित है, अपनी स्थितिसे उसे सन्तोष नहीं है, दूसरोंको अपनेसे अधिक सुखी देखकर वह ईर्ष्यासे जलता रहता है, दूसरोंको नीचा दिखानेके लिये वह उपाय सोचता है, जो कुछ मान-मर्यादा और धन-सम्पत्ति उसे प्राप्त है, उसके नष्ट हो जानेका भय उसे सदा बना रहता है। जरा-सी प्रतिकूलता भी उसे सहन नहीं होती, प्रतिकूल आचरण करनेवाले और अपनी कामना-पूर्तिमें बाधा पहुँचानेवालेके प्रति उसकी द्वेषाग्नि भभक उठती है, प्रतिहिंसाके भाव जाग उठते हैं। बदलेमें दूसरे भी उसके प्रति वैसे ही भावोंका पोषण करते हैं। फलतः चारों ओर भय, आशङ्का, ईर्ष्या, द्वेष और कलहका वातावरण बन जाता है और उसीमें सभी मनुष्य रात-दिन जला करते हैं,

दुखी रहते हैं, अशान्तिमय जीवन व्यतीत करते हैं और मरने
नरकोंकी असह्य यन्त्रणा भोगते हैं। इसीलिये जगत्‌को भगवा
'दुःखालय'—दुःखोंका घर बतलाया है। सभी लोग किसी-न-कि
अभावका अनुभव करते हैं और अभाव दुःखका कारण है। ऐ
स्थितिमें इस दुःखमय जगत्‌से मुँह मोड़कर—उससे सुख पाने
आशा छोड़कर नित्य सुखके आकर सुखस्वरूप परमात्माका आ
ग्रहण करना, उसके तत्त्वको समझकर उसकी भक्ति करना, उ
नामका जप और उसके स्वरूपका चिन्तन करना, उसकी आज्ञा
का पालन करना तथा उसके विधानमें सन्तुष्ट रहना—यही उ
कृपाको प्राप्त करनेका सुगम उपाय है और उसकी कृपासे ही म
सब प्रकारके क्लेशोंसे मुक्त होकर परम सुखका अधिकारी बन जा
है—जिसके पा लेनेपर और कुछ पाना बाकी नहीं रह जाता, म
सदाके लिये कृतकृत्य हो जाता है, द्वन्द्वोंसे छूट जाता है।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि मनुष्यको चिन्ता, शोक,
दुःख आदि क्यों होते हैं ? यदि यह कहा जाय कि प्रारब्धकर्म
फलस्वरूप ही हमें सुख-दुःख आदिकी प्राप्ति होती है तो इसपर
शङ्का होती है कि प्रारब्धभोग तो जीवन्मुक्त महापुरुषोंका भी
रहता है, बिना प्रारब्ध-भोग शेष रहे उनका शरीर ही नहीं
सकता। उन्हें शारीरिक कष्ट, रोग, पीड़ा आदि भी होते देखे जा
हैं; परन्तु उन्हें सुख-दुःख, हर्ष-शोक आदि नहीं होते। श्रु
कहती है—'हर्षशोकौ जहाति' (कठ० १।२।१२), 'तत्र को मो
कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥' (ईश० ७) इत्यादि। गीतामें भी क
है—'गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥' (२।११)।

कारके और भी अनेकों वचन शास्त्रोंमें मिलते हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि ज्ञानी महात्माओंको हर्ष-शोक तथा सुख-दुःख आदि नहीं होते। सुख-दुःखकी घटना घटनेपर तथा सुख-दुःखके निमित्त प्राप्त होनेपर भी उनके अन्तःकरणमें हर्ष-शोक आदि विकार नहीं होते, उनकी स्थिति सदा अविचल, सम रहती है। इससे यह सिद्ध होता है कि हर्ष-शोक आदिके होनेमें प्रारब्ध हेतु नहीं है; बल्कि हमारा अज्ञान ही हेतु है। अज्ञानका नाश हो जानेपर राग, द्वेष, चिन्ता, शोक, भय आदिका भी अत्यन्ताभाव हो जाता है और अज्ञानका नाश होता है परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे। जिस प्रकार अन्धकारका नाश प्रकाशसे ही होता है, उसी प्रकार अज्ञानरूपी अन्धकारका नाश भी ज्ञानरूपी सूर्यके उदय होनेपर ही होता है। अतः दुःख एवं शोकसे छूटनेके लिये मनुष्यको चाहिये कि वह अपना सारा समय परमात्माके तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके साधनमें ही लगावे और उसे प्राप्त करके ही विश्राम ले। वह परमात्माका यथार्थ ज्ञान विवेक एवं वैराग्यपूर्वक सद्गुण और सदाचारके सेवनसे—जिन्हें गीतामें दैवी सम्पत्तिके नामसे कहा गया है—होता है और दैवी सम्पत्तिका अर्जन भगवान्की भक्तिसे सुलभ हो जाता है। इस प्रकार भगवान्की भक्ति ही उनका तत्त्वज्ञान करानेमें सर्वोपरि साधन है। अतः मनुष्यको चाहिये कि वह श्रद्धा एवं प्रेमपूर्वक भगवद्भक्तिका ही अभ्यास करे।

भगवद्भक्तिमें मनुष्यमात्रका समान अधिकार है। कोई किसी वर्णाश्रमका, किसी जातिका, किसी समाजका और किसी अवस्थाका

क्यों न हो, भगवान्‌की भक्ति करनेमें उसके लिये कोई रुकावट
है। भक्तिमें न विद्याकी आवश्यकता है, न बुद्धिकी। मूर्ख-से-
और पापी-से-पापी भी भगवान्‌की भक्ति करनेसे परम पवित्र हो
उनकी कृपा प्राप्त कर सकता है और उस कृपाके बलसे उसे
जल्दी परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। भगवान् गीतामें अर्जु
कहते हैं—

> अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
> साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
> क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
> कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
> (९। ३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त हो
मुझको निरन्तर भजता है, तो वह साधु ही माना जाने योग्य
क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है अर्थात् उसने भलीभाँति नि
कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है
उस भक्तिके प्रभावसे वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और स
रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्व
सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।'

यही नहीं, भक्ति करनेवालेको भगवान् स्वयं ज्ञान प्रदान क
उसके अज्ञानरूपी अन्धकारका सर्वथा नाश कर देते हैं, जैसा कि
गीतामें कहा है—

> तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
> ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥
(१० । १०-११)

'उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं और हे अर्जुन ! उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये उनके अन्तःकरणमें स्थित हुआ मैं स्वयं ही अज्ञानसे उत्पन्न हुए अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपकद्वारा नष्ट कर देता हूँ ।'

भगवान्‌का भजन और ध्यान करनेवाला उनकी कृपासे परमानन्द एवं परम शान्तिको प्राप्त कर ले, इसमें तो आश्चर्य ही क्या है। भगवान्‌के भक्तोंका आश्रय ग्रहण करके उनके वचनोंके अनुसार चलनेवाला अतिशय मूढ़ पुरुष भी दुःखोंसे मुक्त होकर परमात्माको प्राप्त हो जाता है। गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं—

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥
(१३ । २५)

'परन्तु इनसे दूसरे अर्थात् जो मन्दबुद्धिवाले पुरुष हैं, वे स्वयं इस प्रकार न जानते हुए, दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वके जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही तदनुसार उपासना करते हैं। और वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसारसागरको निःसन्देह तर जाते हैं।'

यहाँ यह प्रश्न होता है कि भगवान्‌का निरन्तर भजन करनेसे समस्त दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति होकर उनकी प्राप्ति हो जाती है, इसमें युक्ति क्या है ? निम्नलिखित उत्तरसे यह बात अच्छी तरहसे

स्पष्ट हो जायगी । यह एक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है कि मनुष्य जीवनकालमें जिस बातका निरन्तर अभ्यास करता है, अन्तकालमें उसीकी स्मृति होती है । और अन्तकालमें मनुष्यको जिस वस्तुकी स्मृति होती है, मृत्युके बाद उसे उसी स्वरूपकी प्राप्ति होती है-

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥

(गीता ८।६)

इसलिये भगवान् कहते हैं कि जो पुरुष अन्तकालमें मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीर त्यागकर जाता है, वह साक्षात् मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥

(गीता ८।५)

इससे यह बात सिद्ध हुई कि कोई कैसा ही पापी, कैसा ही मूर्ख क्यों न हो, भगवान्के स्मरणके अभ्याससे उसका एक क्षणमें उद्धार हो सकता है । अतः हमको चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते, सब समय भगवान्के स्मरणका अभ्यास निरन्तर करते रहना चाहिये । ऐसा करनेसे सारे दुर्गुण-दुराचारोंका मूलसहित नाश होकर मनुष्यका जीवन सद्गुण एवं सदाचारमय बन जाता है तथा उस परमपुरुष परमात्माके तत्त्वका यथार्थ ज्ञान होकर सदाके लिये परमानन्द एवं परम शान्तिकी प्राप्ति अनायास और अति शीघ्र हो जाती है ।

कुछ धारण करने योग्य अमूल्य बातें

आज आपलोगोंको कुछ ऐसी बातें बतलायी जाती हैं, जिनको नियमकी भाँति काममें लाना चाहिये। ये बातें बहुत अनमोल, सबके हितकी, अधिक-से-अधिक लाभदायक और लोक-परलोकमें कल्याण करनेवाली हैं! इन्हें नित्य काममें लानेकी इच्छासे पढ़ना चाहिये। केवल पढ़नेसे काम नहीं बनता, इनको जीवनमें उतारनेकी पूरी चेष्टा करनी चाहिये। बातें ये हैं—

१—प्रत्येक भाई-बहिनको अपने कल्याणके लिये नित्य नियम-पूर्वक अधिक-से-अधिक संख्यामें भगवन्नामका जप करना चाहिये। रोज जितना करते हैं उससे अधिक करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

२—चलते-फिरते, उठते-बैठते, काम-काज करते, सब समय भगवान्‌को याद रखनेका अभ्यास करना चाहिये। पहले आध घंटेपर, फिर पंद्रह मिनटके अन्तरसे, फिर दस मिनटपर, फिर पाँच

मिनटपर, इस प्रकार करते-करते निरन्तर भगवत्स्मरण करने चेष्टा करनी चाहिये । इसके लिये सबसे बढ़कर चार उपाय हैं आपलोग इन्हें काममें लावें तो इनसे बड़ी सहायता मिल सकती है । उपाय ये हैं—

क—एकान्तमें बैठकर करुणभाव और गद्गद वाणीसे भगवान् प्रार्थना करनी चाहिये कि 'हे परमेश्वर ! मैं हृदयसे आपकी स्मृ चाहता हूँ । आपसे आपकी स्मृति बनी रहनेकी भीख माँग हूँ ।' इस प्रकार नित्य अपने-अपने भावोंके अनुसार भगवान् कातर प्रार्थना करे । एक मिनटकी सच्ची प्रार्थनासे भी ब लाभ होता है ।

ख—नित्य नियमपूर्वक सत्सङ्ग करे, यदि कहीं सत्सङ्ग न मिले तं सद्ग्रन्थोंका स्वाध्याय एवं भगवद्वाक्योंका सङ्ग करे ।

ग—समय बड़ा मूल्यवान् है । मनुष्यका शरीर मिल गया, यह भगवान् की बड़ी दया है । अब भी यदि भगवत्प्राप्तिसे वञ्चित रह तो हमारे समान मूर्ख कौन होगा । हमें अपने अमूल्य समय अमूल्य कार्यमें ही लगाना चाहिये । भगवान्की स्मृति ही अमू है । इस प्रकार नित्य विचार करना चाहिये ।

घ—मृत्यु न मालूम कब आ जाय, वह प्रतिक्षण हमारे सामने मुँह बाये खड़ी है । अतः जबतक निरन्तर भजन न होने तबतक बड़ा खतरा है । इस प्रकार बराबर मृत्युको या रखनेसे भी विषयोंमें वैराग्य होकर भगवत्स्मृति बनी सकती है ।

इन चार उपायोंको काममें लानेसे भगवान्‌की स्मृतिमें मदद मिल सकती है ।

३—नित्य प्रातः-सायं बड़ोंको प्रणाम करना चाहिये । यदि इसका अभ्यास छूट गया हो तो फिरसे प्रारम्भ कर देना चाहिये । दिनमें कम-से-कम एक बार तो अवश्य ही गुरुजनोंको प्रणाम करना चाहिये । ऐसा करनेसे घरमें कलह नहीं होता, जो कि बहुत बड़ा लाभ है तथा तप, तेज, आयु, कीर्ति, विनय, बल और धर्मकी वृद्धि एवं मरनेपर उत्तम गति प्राप्त होती है ।

४—चौथी बात बहुत ही कीमती है । इसे आजसे ही काममें लानेकी चेष्टा करनी चाहिये । इससे बहुत थोड़े समयमें आप-लोगोंके भाव सुधर सकते हैं । भगवान् भी जल्दी ही मिल सकते हैं । बात कुछ कठिन भी नहीं है । सबसे प्रेम बढ़ाइये । मेरे द्वारा दूसरेका हित कैसे हो, निरन्तर यही बात सोचते रहना चाहिये । यथाशक्ति सबकी सेवा-सहायता करनी चाहिये । स्वयं भगवान्‌ने गीतामें डंकेकी चोट कहा है—

'ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥'

(१२ । ४)

'जो सब भूतोंके हितमें लगे रहते हैं वे मुझे ही प्राप्त होते हैं ।' अतः सबकी सेवा करनी चाहिये । अपनेसे जो बड़े हैं, पूज्य हैं, दुखी हैं, लाचार हैं, उनकी सेवाका और भी अधिक महत्त्व है । कोई भी मिल जाय, उसे देखकर प्रसन्न होना चाहिये । सबसे मीठा वचन बोलना चाहिये । प्रेमका व्यवहार करना चाहिये । अपनी दृष्टिसे सबको भगवान्‌का स्वरूप समझना चाहिये । सेवा भी

इसी भावसे करनी चाहिये । सेवाका इतना भारी प्रभाव है कि उससे भगवान् अपने-आप मिल सकते हैं । इसलिये तन-मन-धनसे दीन-दुखियोंकी, माता-पिता आदि गुरुजनोंकी, सबकी सेवा करनी चाहिये !

सेवा करनेके दो साधन हैं—दाम (धन) और काम (कर्म)। हमें भगवान्‌ने रुपये, भोग-पदार्थ, ऐश्वर्य आदि जो कुछ भी दिया है, वह यदि किसी प्रकार भी दूसरोंकी सेवामें लगे तो अपना अहोभाग्य समझना चाहिये । उसे दूसरोंको देकर बहुत प्रसन्न होना चाहिये। और यह मानना चाहिये कि इस प्रकार आज मैंने भगवान्‌की ही सेवा की है । इसी प्रकार शरीरसे करनेयोग्य सेवाका कोई कार्य सामने आ जाय तो उसे खूब परिश्रमके साथ प्रसन्न चित्तसे करना चाहिये ।

सेवाके ये दो साधन—दाम और काम—बड़े महत्त्वके हैं। एकमें ऐश्वर्यका त्याग है, दूसरेमें शारीरिक परिश्रम है । अथवा यों कहें कि एकमें ममताका त्याग है, दूसरेमें अहंताका त्याग है। अहंता और ममता—ये दो बड़ी व्याधियाँ हैं । इनका त्याग होना अत्यावश्यक है । अतः कहीं भी सेवाका अवसर मिल जाय तो समझना चाहिये कि असली धन मिल गया । सेवाका काम मिल गया तो ऐसी प्रसन्नता होनी चाहिये मानो राम मिल गये ।

अच्छे पुरुष अपने समयका एक-एक मिनट काममें लेते हैं। आयु समाप्त हो जाती है, पर काम नहीं समाप्त होता । भगवान्‌ने गीता २ । ४० में कर्मयोगकी बड़ी प्रशंसा की है । स्वार्थका त्याग ही कर्मयोग है । यही असली धर्म है । इसका उत्तम फल

नहीं होता, न इसका कभी नाश ही होता है। इसका थोड़ा-सा भी पालन किया जाय तो वह जन्म-मरणके बन्धनसे छुड़ा सकता है। इसीलिये सेवाको साक्षात् राम समझकर उसका आदर करना चाहिये और उसे तत्परताके साथ करनेकी पूरी चेष्टा करनी चाहिये।

सेवाके कई स्वरूप हैं। दूसरोंको मान-बड़ाई देना भी सेवा ही है। सेवा रत्नोंकी ढेरी है। उसे लूटनेकी चीज समझकर खूब लूटना चाहिये। कोई भी नीचा काम—जैसे पैर धुलाना, हाथ धुलाना, पत्तल उठाना आदि—मिल जाय तो समझना चाहिये कि भगवान्की विशेष दया है। यदि किसी बीमारकी टट्टी-पेशाब उठानेका काम मिल जाय तब तो भगवान्की पूर्ण दया समझनी चाहिये। सेवाकार्यमें जितना उच्च भाव रक्खा जा सके, रखना चाहिये। यदि सेवाकार्यको साक्षात् परमात्माकी सेवा समझी जाय तब तो कहना ही क्या है! उससे परमात्मा बहुत जल्दी मिल सकते हैं।

यदि कोई व्यक्ति हमसे सेवा करावे तो हमें अपने ऊपर उसकी बड़ी दया समझनी चाहिये। समझना चाहिये कि वही दाता है। हमें मुक्त करनेके लिये हमसे सेवा करवा रहा है। किसीने हमारी सेवा स्वीकार कर ली तो समझना चाहिये कि उसने हमारा उद्धार कर दिया और यदि सेव्यको ईश्वर मानकर उसकी सेवा की जाय तब तो खुला दरबार है। सेवकको साक्षात् नारायणकी सेवाका लाभ हो सकता है। यह बड़े ऊँचे दर्जेका भाव है। सेवाको नारायणकी सेवा बनाना सेवकके हाथकी बात है।

अपने धन और ऐश्वर्यको अपने पूज्यजनों एवं दीन-दुखियोंकी सेवामें समर्पित कर देना चाहिये। इससे भी ऊँचा भाव यह समझ-

कर देना है कि साक्षात् नारायण ही उनके रूपमें प्रकट होक
हमारे धन और ऐश्वर्यको सेवाके रूपमें स्वीकार कर रहे हैं। इस
दूसरा लाभ यह समझना चाहिये कि हमारी ममताका परित्या
हो रहा है। हमारा बोझा हलका हो रहा है। तीसरा लाभ यह
कि धन और ऐश्वर्यके त्यागसे उदारता बढ़ती है, दया बढ़ती है
ये सद्गुण धन और ऐश्वर्यसे कहीं अधिक मूल्यवान् हैं। आज य
हमारी मृत्यु हो जाय तो धन-ऐश्वर्य सब यहीं छूट जायँगे। अतः
बटोरकर रखनेसे कोई लाभ नहीं। ये उल्टे हमारे लिये बन्धन
हैं। परन्तु यदि हमने इनको दूसरोंके उपकारमें लगा दिया, इ
दूसरोंका उपकार हो गया तो समझ लीजिये कि उससे हमारा ब
हित हो गया। भगवान्की चीजें भगवान्के काममें लग गयीं। हमा
भार उतर गया। जीवनकी जोखिम बिक गयी। यदि ऐसा समझ
निष्कामभावसे अपना सारा स्वत्व दूसरोंकी सेवामें अर्पित क
दिया जाय तो उससे बड़ा भारी लाभ है।

इतनी बातें तो सबके लिये कही गयीं। अब कुछ स्त्रियों
कामकी बातें विशेष रूपसे कहनी हैं। स्त्रियोंमें कुछ अज्ञानता अधि
होती है। उनमें लड़ाई-झगड़ा प्रायः अधिक होता है, इसका कार
उनकी बेसमझी ही है। घरमें प्रेम बढ़ानेके लिये उन्हें सबसे हँ
कर बोलना चाहिये, सबके साथ विनयपूर्वक व्यवहार करना चाहिये
यदि कोई उनपर क्रोध करे तब भी उन्हें प्रसन्नतासे हँसकर मी
उत्तर देना चाहिये। मिष्टभाषिता स्त्रियोंका प्रधान गुण है। जो
दूसरोंको मान-बड़ाई देती है, सबके साथ विनय और प्रेमका बर्ता
करती है, उसपर भगवान् बहुत शीघ्र प्रसन्न होते हैं और सा

साथ उसके अहङ्कार तथा कठोरताका नाश होता है। यदि किसी स्त्रीके कारणसे घरमें कलह हो गया तो उसे ऐसा मानना चाहिये मानो मुझपर कलङ्क लग गया। इस बातका बराबर ध्यान रखना चाहिये कि अपने तो भलाई ही लेकर जाना है। और भलाई तभी मिल सकती है, जब हमारा व्यवहार सबके अनुकूल होगा।

स्त्रियाँ प्रायः भोली होती हैं, उनमें मोह और आसक्तिकी मात्रा अधिक होती है। उनकी गहनोंमें, कपड़ोंमें, शरीरमें, बाल-बच्चोंमें आसक्ति अधिक होती है; यह आसक्ति बन्धन है, मुक्तिमें बाधा डालनेवाली वस्तु है। दूसरेके हितके लिये उदारतापूर्वक इन वस्तुओंका त्याग करना चाहिये।

स्त्रियोंमें उदारताकी भी कमी होती है। किसी लक्षाधीशके घरकी मालकिन भी सालभरमें शायद ही सौ-दो-सौ रुपये अच्छे काममें खर्च करती हो! उदारताकी बड़ी आवश्यकता है। खासकर मारवाड़ी समाजकी स्त्रियोंमें इसकी बड़ी कमी है।

स्त्रियोंमें पुरुषोंकी ओर देखनेकी भी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, यद्यपि स्त्रियोंकी अपेक्षा भी पुरुषोंमें यह आदत अधिक पायी जाती है। स्त्री-पुरुष दोनोंहीके लिये परपुरुष अथवा परस्त्रीकी ओर देखना ब्रह्मचर्यमें कलङ्क समझना चाहिये। विधवा स्त्रीको तो यह समझना चाहिये कि यदि किसी पुरुषकी ओर उसकी दृष्टि चली गयी तो उसका धर्म नष्ट हो गया।

स्त्रियाँ झाड़-फूँक और टोना आदिपर अधिक विश्वास करती हैं, यह सब वहम है। इस वहमका एकदम त्याग कर देना चाहिये। इन सबमें विश्वास करना धूर्तोंके चंगुलमें फँसना है।

यदि कोई बीमार हो जाय तो उसके लिये औषधोपचारका प्रबन्ध करना चाहिये। कोई कामना करनी हो तो सीधे परमेश्वरसे करनी चाहिये। पतिव्रता स्त्री तो कभी कामना करती ही नहीं, यदि करती भी है तो अपने पतिसे ही करती है, किसी दूसरेसे नहीं। इसी प्रकार ईश्वरको छोड़कर किसी दूसरेसे कामना न करे। परमपतिके रहते किसी दूसरेसे याचना क्यों की जाय? सर्वोत्तम बात तो यह है कि किसीसे याचना करे ही नहीं। स्त्रियोंको चाहिये कि वे किसी कल्पित देवी-देवताके मन्दिर भूलकर भी न जायँ। बनावटी देवी-देवताओंकी रचना धूर्तोंने की है। उनकी मान्यता छोड़कर शास्त्रीय देवी-देवताकी उपासना करनी चाहिये। पार्वती, लक्ष्मी, सावित्री आदि देवियों; ब्रह्मा, विष्णु, सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु आदि देवताओं; व्यास, वशिष्ठ, नारद आदि ऋषि-महात्माओं और ध्रुव, प्रह्लाद, हनुमान् आदि महान् भक्तोंकी ही पूजा-उपासना करनी चाहिये। इनके स्मरणमात्रसे आत्मा पवित्र हो जाती है। इनके अलावा किसीके बहकावेमें पड़कर अशास्त्रीय देवी-देवताओंकी पूजा कदापि नहीं करनी चाहिये। नहीं तो धूर्तोंकी बन आती है। पीर, पैगंबर इत्यादिका पूजन तो बिल्कुल ही उठा देना चाहिये। इनका पूजन-अर्चन करना और इनसे किसी कामनाकी सिद्धि चाहना पाप और मूर्खताके सिवा और कुछ भी नहीं है। इनका परित्याग करके प्रत्येक स्त्रीको अपना घर शुद्ध-पवित्र बनाना चाहिये। पूजा या तो भगवान्‌की करनी चाहिये या शास्त्रीय देवी-देवताओंकी। भगवान्‌के भक्त तो देवताओंसे भी बढ़कर होते हैं।

स्त्रियोंको खान-पानमें भी भेदभाव नहीं रखना चाहिये। जो स्त्री घरमें खान-पानके सम्बन्धमें भेद-बुद्धि रखती है, वह मरकर चमगादड़ होती है—ऐसी बात शास्त्रोंमें लिखी है। इसलिये स्त्रियोंको चाहिये कि वे घरमें छोटे-बड़े सबको एक-सा भोजन परोसें, किसीको अच्छा और किसीको हलका नहीं।

स्त्रियोंके साथ-साथ पुरुषोंको भी अपने कर्तव्योंका पालन भलीभाँति करना चाहिये। पुरुषोंको लोभके त्यागका विशेष ध्यान रखना चाहिये। साथ-ही-साथ सत्यके पालनपर भी पूर्ण ध्यान देना चाहिये। प्राण जायँ, तो भले ही जायँ, परन्तु सत्य कभी न जाय—यह व्रत बना लेना चाहिये। यदि पुरुष झूठ-कपट, पराया हक मारनेकी चेष्टा तथा लोभका त्याग कर दें तो बहुत जल्दी सुधार हो सकता है। पुरुषोंके लिये आसक्तिका त्याग सर्वप्रधान कर्तव्य है; विशेष-कर कञ्चन, कामिनी और देहकी आसक्तिका त्याग बड़ी दृढ़ताके साथ करना चाहिये। काम, क्रोध और लोभ—ये तीन प्रबल शत्रु हैं—साक्षात् नरकमें ले जानेवाले हैं। इसलिये इनसे विशेष साव-धान रहना चाहिये।

मान-बड़ाई अथवा प्रतिष्ठाकी इच्छा करना मृत्युकी इच्छा करनेके समान है। अच्छे-अच्छे आदमी इसमें फँसकर साधनसे च्युत हो जाते हैं। यहाँतक कि कञ्चन-कामिनीका त्याग करनेवाले भी इसमें फँसकर रुक जाते हैं, साधनमार्गमें आगे नहीं बढ़ पाते। इनके आघातसे न जाने कितने पुरुष गिरकर चकनाचूर हो गये। इसलिये बड़ी सावधानीके साथ इनसे बचना चाहिये। वैराग्यका अभ्यास करना चाहिये और जीवनको कठोर संयमके साथ बिताना

चाहिये। संयम मनुष्यकी रक्षा करनेके लिये एक सुदृढ़ किला है
उसे हर एक शत्रु नहीं तोड़ सकता। मन, बुद्धि और इन्द्रियों
विषयोंसे रोकना ही संयम है। सांसारिक भोग-पदार्थोंसे इन्द्रि
और मनकी वृत्तियोंको वैराग्य, विवेक या भय दिखलाकर ह
रोकना चाहिये। इसीसे रक्षा होती है।

प्रत्येक मनुष्यको अधिकारानुसार स्वाध्याय करना चाहि
गीता, रामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत, वेद, उपनिषद् आदि
स्वाध्याय करना सबसे बढ़कर है। गीता, रामायण और म
पुरुषोंके वचनोंमें तो सबका अधिकार है और वे सबके लिये लाभ
हैं। इसलिये प्रतिदिन नियमसे एवं प्रेमपूर्वक उनका स्वाध्याय कर
चाहिये। प्यारे मनमोहनको कभी बिसारना नहीं चाहिये, हृद
सदा-सर्वदा उनका स्मरण करते रहना चाहिये। प्राण चाहे
जायँ, पर प्राणप्यारेकी स्मृति एक क्षणके लिये भी हृदयसे न
नेत्र उन्हींको देखें, कान उन्हींकी चर्चा सुनें, वाणीसे उन्हीं
गुणोंका कीर्तन और नामका जप हो, शरीरके द्वारा उन्हींको प्र
किया जाय और हाथ उन्हींकी सेवा-पूजामें लगे रहें अ
शरीर एवं मनसहित सारी इन्द्रियाँ भगवान्‌में लग जायँ, ऐसी
करनी चाहिये। यही सच्चा पौरुष है।

अब कुछ बालकोंके लाभकी बातें कही जाती हैं। ये बड़ों
भी कामकी हैं—

१—प्रत्येक बालकको इस बातकी चेष्टा करनी चाहिये
उसके बलकी वृद्धि हो। इसमें चार बातें सहायक हैं—

क—ब्रह्मचर्यका पालन; इससे शरीरके साथ-साथ आत्मबलकी भी वृद्धि होती है।

ख—नित्यप्रति नियमपूर्वक व्यायाम करना; इससे शरीरमें पौरुष एवं स्फूर्तिका उदय होता है।

ग—सायं-प्रातः उचित मात्रामें दुग्ध-पान करना। दूध साक्षात् अमृत है, बल एवं बुद्धिकी वृद्धि करनेवाला इससे बढ़कर और कोई पदार्थ नहीं है। व्यायाम करके दूध पीनेसे विशेष लाभ होता है। दूधसे मन सात्त्विक बनता है।

घ—स्वास्थ्यकी बातोंपर विशेष ध्यान रखना; नीरोग रहनेके लिये अपना घर और शरीरके वस्त्रोंको साफ रखना अत्यन्त आवश्यक है।

२—प्रत्येक बालकको अपनी बुद्धिका विकास करना चाहिये। विद्या और सत्-शास्त्रोंके अभ्याससे बुद्धि बढ़ती है, वृद्ध और अच्छे पुरुषोंका सङ्ग, सेवा और नमस्कार करनेसे विचार निर्मल होते हैं। उत्तम गुणोंका संग्रह, उत्तम आचरण एवं शौचाचारका पालन करनेसे भी बुद्धि पवित्र एवं तीक्ष्ण होती है।

३—सब बालकोंको भगवान्‌की भक्ति अपने हृदयमें धारण करनी चाहिये। भगवद्भक्तिसे सदाचार और सद्गुणोंकी वृद्धि अपने-आप होने लगती है। भगवद्भक्ति उत्तम आचरणोंकी जड़ है। भगवान्‌का भजन, ध्यान, पूजा, प्रार्थना, नमस्कार, स्तुति—ये सब भक्तिके अङ्ग हैं। बालकोंको इनपर विशेष ध्यान देना चाहिये।



ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्यका यौगिक अर्थ है ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये वेद
अध्ययन करना। प्राचीन कालमें छात्रगण ब्रह्मकी प्राप्तिके
गुरुके यहाँ रहकर सावधानीके साथ वीर्यकी रक्षा करते हुए वेदा
करते थे। इसलिये धीरे-धीरे 'ब्रह्मचर्य' शब्द वीर्यरक्षाके
रूढ़ हो गया। आज हमें इसी वीर्यरक्षाके सम्बन्धमें कुछ वि
करना है। वीर्यरक्षा ही जीवन है और वीर्यका नाश ही
है। वीर्यरक्षाके प्रभावसे ही प्राचीन कालके लोग दीर्घजीवी, नी
हृष्ट-पुष्ट, बलवान्, बुद्धिमान्, तेजस्वी, शूरवीर और दृढ़सङ्कल्प
थे। वीर्यरक्षाके कारण ही वे शीत, आतप, वर्षा आदिको स
नाना प्रकारके तप करनेमें समर्थ होते थे। ब्रह्मचर्यके बल
वे प्राणवायुको रोककर शरीर और मनकी शुद्धिके द्वारा
प्रकारके योग-साधनोंमें सफलता प्राप्त करते थे। ब्रह्मचर्यके
ही वे थोड़े ही समयमें नाना प्रकारकी विद्याओंको सीखकर

ज्ञानके द्वारा अपना और जगत्‌का लौकिक एवं पारमार्थिक दोनों प्रकारका कल्याण करनेमें समर्थ होते थे । शरीरमें सार वस्तु वीर्य ही है । इसीके नाशसे आज हमारा देश रसातलको पहुँच गया है । ब्रह्मचर्यके नाशके कारण ही आज हमलोग नाना प्रकारकी बीमारियोंके शिकार हो रहे हैं, थोड़ी ही अवस्थामें कालके गालमें जा रहे हैं । इसीके कारण आज हमलोग अपने बल, तेज, वीरता और आत्मसम्मानको खोकर पराधीनताकी बेड़ीमें जकड़े हुए हैं और जो हमारा देश किसी समय विश्वका सिरमौर और सभ्यताका उद्गमस्थान बना हुआ था, वही आज दूसरोंके द्वारा लाञ्छित और पददलित हो रहा है । विद्या-बुद्धि, बल-वीर्य, कला-कौशल—सबमें आज हम पिछड़े हुए हैं । इसीके कारण आज हम चरित्रसे भी गिर गये हैं । सारांश यह है कि किसी भी बातको लेकर आज हम संसारके सामने अपना मस्तक ऊँचा नहीं कर सकते । वीर्यका नाश ही हमारी इस गिरी हुई दशाका प्रधान कारण मालूम होता है । वीर्यके नाशसे शरीर, बल, तेज, बुद्धि; धन, मान, लोक, परलोक—सबकी हानि होती है । परमात्माकी प्राप्ति तो वीर्यकी रक्षा न करनेवालेसे कोसों दूर रहती है ।

ब्रह्मचर्यके बिना कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता । रोगसे मुक्त होनेके लिये, स्वास्थ्यलाभके लिये, बल-बुद्धिके विकासके लिये, विद्याभ्यासके लिये तथा योगाभ्यासके लिये तो ब्रह्मचर्यकी बड़ी भारी आवश्यकता है । उत्तम सन्तानकी प्राप्ति, स्वर्गकी प्राप्ति, सिद्धियोंकी प्राप्ति, अन्तःकरणकी शुद्धि तथा परमात्माकी प्राप्ति—ब्रह्मचर्यसे सब कुछ सम्भव है और ब्रह्मचर्यके बिना कुछ भी नहीं

हो सकता। सांख्ययोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, राजयोग, हठयो-
सभी साधनोंमें ब्रह्मचर्यकी आवश्यकता होती है। अतः लो
परलोकमें अपना हित चाहनेवालेको बड़ी सावधानी एवं तत्पर
साथ वीर्यरक्षाके लिये चेष्टा करनी चाहिये।

सब प्रकारके मैथुनके त्यागका नाम ही ब्रह्मचर्य है। मैथु
निम्नलिखित प्रकार शास्त्रोंमें कहे गये हैं—

(१) स्मरण—किसी सुन्दर युवती स्त्रीके रूप-ला
अथवा हाव, भाव, कटाक्ष एवं शृङ्गारका स्मरण करना, कु
पुरुषोंकी कुत्सित क्रियाओंका स्मरण करना, अपने द्वारा
घटी हुई मैथुन आदि क्रियाका स्मरण करना, भविष्यमें कि
स्त्रीके साथ मैथुन करनेका सङ्कल्प अथवा भावना करना, म
चन्दन, इत्र, फुलेल, लैवेंडर आदि कामोद्दीपक एवं शृङ्गारके पद
का स्मरण करना, पूर्वमें देखे हुए किसी सुन्दर स्त्री अथवा बाल
चित्रका अथवा अश्लील चित्रका स्मरण करना—ये सभी मान
मैथुनके अन्तर्गत हैं। इनसे वीर्यका प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष
नाश होता है और मनपर तो बुरा प्रभाव पड़ता ही है।
खराब होनेसे आगे चलकर वैसी क्रिया भी घट सकती है। इस
सर्वाङ्गमें ब्रह्मचर्यका पालन करनेवालेको चाहिये कि वह उक्त
प्रकारके मानसिक मैथुनका त्याग कर दे, जिससे मनमें कामो
हो ऐसा कोई सङ्कल्प ही न करे और यदि हो जाय तो उ
तत्काल विवेक एवं विचारके द्वारा त्याग कर दे।

(२) श्रवण—गंदे तथा कामोद्दीपक एवं शृङ्गाररसके गा
सुनना, शृङ्गाररसका गद्य-पद्यात्मक वर्णन सुनना, स्त्रियोंके रूप

तथा अङ्गोंका वर्णन सुनना, उनके हाव, भाव, कटाक्षका वर्णन सुनना, कामविषयक बातें सुनना आदि—ये सभी श्रवणरूप मैथुनके अन्तर्गत हैं। ब्रह्मचारीको चाहिये कि वह उक्त सभी प्रकारके श्रवणका त्याग कर दे।

(३) कीर्तन—अश्लील बातोंका कथन, शृङ्गाररसका वर्णन, स्त्रियोंके रूप-लावण्य, यौवन एवं शृङ्गारकी प्रशंसा तथा उनके हाव, भाव, कटाक्ष आदिका वर्णन, विलासिताका वर्णन, कामोद्दीपक अथवा गंदे गीत गाना तथा ऐसे साहित्यको स्वयं पढ़ना और दूसरोंको सुनाना तथा कथा आदिमें ऐसे प्रसंगोंको विस्तारके साथ कहना—ये सभी कीर्तनरूप मैथुनके अन्तर्गत हैं। ब्रह्मचारीको चाहिये कि वह इन सबका त्याग कर दे।

(४) प्रेक्षण—स्त्रियोंके रूप-लावण्य, शृङ्गार तथा उनके अङ्गोंकी रचनाको देखना, किसी सुन्दरी स्त्री अथवा सुन्दर बालकके रूप या चित्रको देखना, नाटक-सिनेमा देखना, कामोद्दीपक वस्तुओं तथा सजावटके सामानको देखना, दर्पण आदिमें अपना रूप तथा शृङ्गार देखना—यह सभी प्रेक्षणरूप मैथुनके अन्तर्गत हैं। ब्रह्मचारीको चाहिये कि वह जान-बूझकर तो इन वस्तुओंको देखे ही नहीं; यदि भूलसे इनपर दृष्टि पड़ जाय तो इन्हें स्वप्नवत्, मायामय, नाशवान् एवं दुःखरूप समझकर तुरंत इनपरसे दृष्टि हटा ले, दृष्टिको इनपर ठहरने न दे।

(५) केलि—स्त्रियोंके साथ हँसी-मजाक करना, नाचना-गाना, आमोद-प्रमोदके लिये क्लब वगैरहमें जाना, जलविहार करना, फाग खेलना, गंदी चेष्टाएँ करना, स्त्रीसङ्ग करना आदि—ये सभी केलि-

रूप मैथुनके अन्तर्गत हैं। ब्रह्मचारीको इन सबका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

(६) शृङ्गार—अपनेको सुन्दर दिखलानेके लिये बाल सँवारना, कंघी करना, काकुल रखना, शरीरको वस्त्राभूषणादि सजाना, इत्र, फुलेल, लैवेंडर आदिका व्यवहार करना; फूलोंकी माला धारण करना, अङ्गराग लगाना, सुरमा लगाना, उबटन करना, साबुन-तेल लगाना, पाउडर लगाना, दाँतोंमें मिस्सी लगाना, दाँतोंमें सोना जड़वाना, शौकके लिये बिना आवश्यकताके चश्मा लगाना, होठ लाल करनेके लिये पान खाना—यह सभी शृङ्गारके अन्तर्गत है। दूसरोंके चित्तको आकर्षण करनेके उद्देश्यसे किया हुआ यह सभी शृङ्गार कामोद्दीपक, अतएव मैथुनका अङ्ग होनेके कारण ब्रह्मचारीके लिये सर्वथा त्याज्य है। कुमारी कन्याओं, बाल विधवाओं, संन्यासियों एवं वानप्रस्थोंको तो उक्त सभी प्रकारके शृङ्गारसे सर्वथा बचना चाहिये। विवाहित स्त्री-पुरुषोंको भी ऋतु-कालमें सहवासके समयके अतिरिक्त और समयमें इन सब शृङ्गारोंसे यथासम्भव बचना चाहिये।

(७) गुह्यभाषण—स्त्रियोंके साथ एकान्तमें अश्लील बातें करना, उनके रूप-लावण्य, यौवन एवं शृङ्गारकी प्रशंसा करना, हँसी-मजाक करना—यह सभी गुह्यभाषणरूप मैथुनके अन्तर्गत है, अतएव ब्रह्मचारीके लिये सर्वथा त्याज्य है।

(८) स्पर्श—कामबुद्धिसे किसी स्त्री अथवा बालकका स्पर्श करना, चुम्बन करना, आलिङ्गन करना, कामोद्दीपक पदार्थोंका स्पर्श

करंना आदि यह सभी स्पर्शरूप मैथुनके अन्तर्गत है; अतएव ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करनेवालेके लिये त्याज्य है।

उपर्युक्त बातें पुरुषोंको लक्ष्यमें रखकर ही कही गयी हैं। स्त्रियोंको भी पुरुषोंके सम्बन्धमें यही बात समझनी चाहिये। पुरुषोंको परस्त्रीके साथ और स्त्रियोंको परपुरुषके साथ तो इन आठों प्रकारके मैथुनका त्याग हर हालतमें करना ही चाहिये; ऐसा न करनेवाले महान् पापके भागी होते हैं और इस लोकमें तथा परलोकमें महान् दुःख भोगते हैं। गृहस्थोंको अपनी विवाहिता पत्नीके साथ भी ऋतुकालकी अनिन्दित रात्रियोंको छोड़कर शेष समयमें उक्त आठों प्रकारके मैथुनसे बचना चाहिये। ऐसा करनेवाले गृहस्थ होते हुए भी ब्रह्मचारी हैं। बाकी तीन आश्रमवालों तथा विधवा स्त्रियोंके लिये तो सभी अवस्थाओंमें उक्त आठों प्रकारके मैथुनका त्याग सर्वथा अनिवार्य है।

परमात्मप्राप्तिके उद्देश्यसे किये गये उपर्युक्त ब्रह्मचर्यके पालनमात्रसे मनुष्यका कल्याण हो सकता है, यह बात भगवान् श्रीकृष्णने गीताके आठवें अध्यायके ११ वें श्लोकमें कही है। भगवान् कहते हैं—

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये॥

'वेदके जाननेवाले विद्वान् जिस सच्चिदानन्दघनरूप परम पदको अविनाशी कहते हैं, आसक्तिरहित यत्नशील संन्यासी महात्माजन जिसमें प्रवेश करते हैं और जिस परमपदको चाहनेवाले ब्रह्मचारी

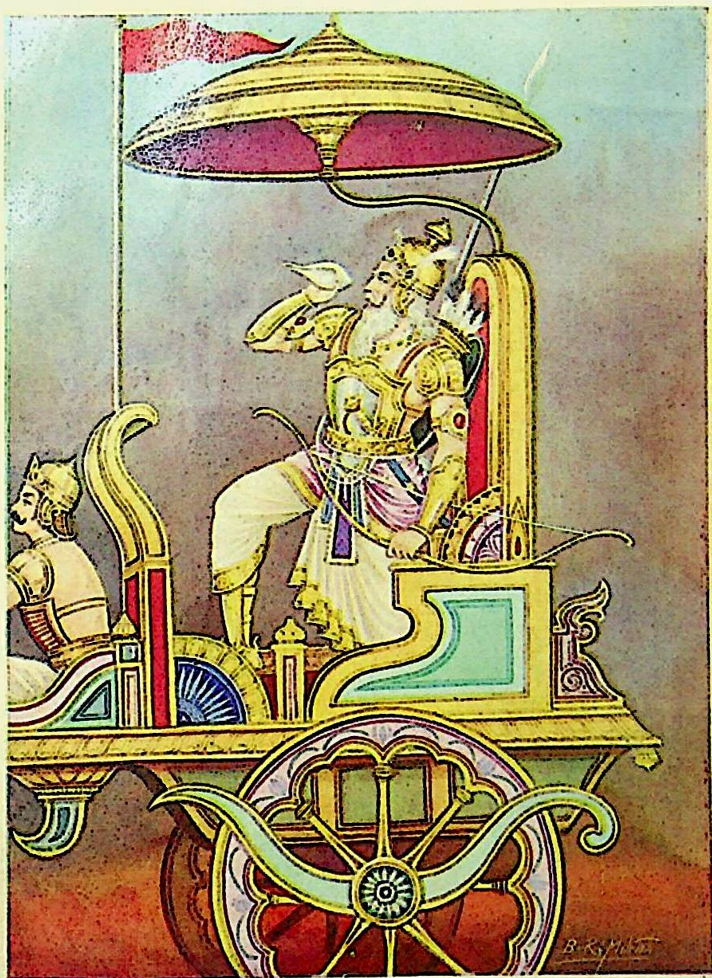
लोग ब्रह्मचर्यका आचरण करते हैं, उस परम पदको मैं तेरे लि
संक्षेपमें कहूँगा ।'

कठोपनिषद्में भी इस श्लोकसे मिलता-जुलता मन्त्र आया है

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपाँसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदँ संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥
(१।२।१

'सारे वेद जिस पदका वर्णन करते हैं, समस्त तपोंको जिस
प्राप्तिका साधन बतलाते हैं तथा जिसकी इच्छा रखनेवाले ब्रह्मचा
ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं उस पदको मैं तुम्हें संक्षेपसे बता
हूँ—'ओम्' यही वह पद है ।'

उक्त दोनों ही मन्त्रोंमें परमपदकी इच्छासे ब्रह्मचर्यके पालन
बात आयी है, इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि परमात्माकी प्राप्ति
उद्देश्यसे किये गये ब्रह्मचर्यके पालनमात्रसे मनुष्यका कल्याण
सकता है। क्षत्रियकुलचूडामणि वीरवर भीष्मकी जो इतनी महिमा
वह उनके अखण्ड ब्रह्मचर्य-व्रतको लेकर ही है। इसीके कार
उनका 'भीष्म' नाम पड़ा और इसीके प्रतापसे उन्हें अपने पि
शान्तनुसे इच्छामृत्युका वरदान मिला, जिसके कारण वे संसार
अजेय हो गये । यही कारण था कि वे सहस्रबाहु-जैसे अप्रतिम यो
की भुजाओंका छेदन करनेवाले तथा इक्कीस बार पृथ्वीको निःक्ष
कर देनेवाले महाप्रतापी परशुरामसे भी नहीं हारे। इतना ही न



वीरवर भीष्म

परात्पर भगवान् श्रीकृष्णको भी इनके कारण महाभारत-युद्धमें शस्त्र ग्रहण करना पड़ा। उनकी यह सब महिमा ब्रह्मचर्यके ही कारण थी। वे भगवान्‌के अनन्य भक्त, आदर्श पितृभक्त तथा महान् ज्ञानी एवं शास्त्रोंके ज्ञाता भी थे; परन्तु उनकी महिमाका प्रधान कारण उनका आदर्श ब्रह्मचर्य ही था। इसीके कारण वे अपने अस्त्रविद्याके गुरु भगवान् परशुरामके कोपभाजन हुए; परन्तु विवाह न करनेका अपना हठ नहीं छोड़ा। धन्य ब्रह्मचर्य! भक्तश्रेष्ठ हनुमान्, सनकादि मुनीश्वर, महामुनि शुकदेव तथा बालखिल्यादि ऋषि भी अपने ब्रह्मचर्यके लिये प्रसिद्ध हैं।

ब्रह्मचर्यकी रक्षासे लाभ और उसके नाशसे हानियाँ

ब्रह्मचर्यकी रक्षासे शरीरमें बल, तेज, उत्साह एवं ओजकी वृद्धि होती है, शीत, उष्ण, पीड़ा आदि सहन करनेकी शक्ति आती है, अधिक परिश्रम करनेपर भी थकावट कम आती है, प्राणवायुको रोकनेकी शक्ति आती है, शरीरमें फुर्ती एवं चेतना रहती है, आलस्य तथा तन्द्रा कम आती है, बीमारियोंके आक्रमणको रोकनेकी शक्ति आती है, मन प्रसन्न रहता है, कार्य करनेकी क्षमता प्रचुर-मात्रामें रहती है, दूसरेके मनपर प्रभाव डालनेकी शक्ति आती है, सन्तान दीर्घायु, बलिष्ठ एवं स्वस्थ होती है, इन्द्रियाँ सबल रहती हैं, शरीरके अङ्ग-प्रत्यङ्ग सुदृढ़ रहते हैं, आयु बढ़ती है, वृद्धावस्था जल्दी नहीं आती, शरीर स्वस्थ एवं हलका रहता है, स्मरणशक्ति बढ़ती है, बुद्धि तीव्र होती है, मन बलवान् होता है, कायरता नहीं आती, कर्तव्यकर्म करनेमें अनुत्साह नहीं होता, बड़ी-से-बड़ी विपत्ति आनेपर भी धैर्य नहीं छूटता, कठिनाइयों एवं विघ्न बाधाओंका वीरता-

पूर्वक सामना करनेकी शक्ति आती है, धर्मपर दृढ़ आस्था होती। अन्तःकरण शुद्ध रहता है, आत्मसम्मानका भाव बढ़ता है, दुर्बलों को सतानेकी प्रवृत्ति कम होती है, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष आदिके भा कम होते हैं, क्षमाका भाव बढ़ता है, दूसरोंके प्रति सहिष्णुता त सहानुभूति बढ़ती है, दूसरोंका कष्ट दूर करने तथा दीन-दुखियों सेवा करनेका भाव बढ़ता है, सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है, वीर्य अमोघता आती है, परस्त्रीके प्रति मातृभाव जाग्रत् होता। नास्तिकता तथा निराशाके भाव कम होते हैं, असफलतामें विषाद नहीं होता, सबके प्रति प्रेम एवं सद्भाव रहता है, तथा सब बढ़कर भगवत्प्राप्तिकी योग्यता आती है, जो मनुष्य-जीवनका च फल है, जिसके लिये यह मनुष्यदेह हमें मिला है।

इसके विपरीत ब्रह्मचर्यके नाशसे मनुष्य नाना प्रकार बीमारियोंका शिकार हो जाता है, शरीर खोखला हो जाता। थोड़ा-सा भी परिश्रम अथवा कष्ट सहन नहीं होता; शीत, उ आदिका प्रभाव शरीरपर बहुत जल्दी होता है, स्मरणशक्ति कमजो हो जाती है, सन्तान उत्पन्न करनेकी शक्ति नष्ट हो जाती। सन्तान होती भी है तो दुर्बल एवं अल्पायु होती है, मन अत्य दुर्बल हो जाता है, सङ्कल्पशक्ति कमजोर हो जाती है, स्वभा चिड़चिड़ा हो जाता है, जरा भी प्रतिकूलता सहन नहीं होती आत्मविश्वास कम हो जाता है, काम करनेमें उत्साह नहीं रहता, शरीरमें आलस्य छाया रहता है, चित्त सदा सशङ्कित रह है, मनमें विषाद छाया रहता है, कोई भी नया काम हाथमें लें भय मालूम होता है, थोड़े-से भी मानसिक परिश्रमसे दिमागमें थका

आ जाती है, बुद्धि मन्द हो जाती है, अधिक सोचनेकी शक्ति नहीं रहती; असमयमें ही वृद्धावस्था आ घेरती है और थोड़ी ही अवस्था-में मनुष्य कालके गालमें चला जाता है, चित्त स्थिर नहीं हो पाता, मन और इन्द्रियाँ वशमें नहीं हो पातीं और मनुष्य भगवत्प्राप्तिके मार्गसे कोसों दूर हट जाता है। वह न इस लोकमें सुखी रहता है और न परलोकमें ही। ऐसी अवस्थामें मनुष्यको चाहिये कि बड़ी सावधानीसे वीर्यकी रक्षा करे। वीर्यरक्षा ही जीवन है और वीर्यनाश ही मृत्यु है—इस बातको सदा स्मरण रक्खे। गृहस्था-श्रममें भी केवल सन्तानोत्पादनके उद्देश्यसे ऋतुकालमें अधिक-से-अधिक महीनेमें दो बार स्त्रीसङ्ग करे।

ब्रह्मचर्यरक्षाके उपाय

उपर्युक्त प्रकारके मैथुनके त्यागके अतिरिक्त निम्नलिखित साधन भी ब्रह्मचर्यकी रक्षामें सहायक हो सकते हैं—

(१) भोजनमें उत्तेजक पदार्थोंका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। मिर्च, राई, गरम मसाले, अचार, खटाई, अधिक मीठा और अधिक गर्म चीजें नहीं खानी चाहिये। भोजन खूब चबाकर करना चाहिये। भोजन सदा सादा, ताजा और नियमित समयपर करना चाहिये। मांस, लहसुन, प्याज आदि अभक्ष्य पदार्थ और मद्य, गाँजा, भाँग आदि अन्य नशीली वस्तुएँ तथा केशर, कस्तूरी एवं मकरध्वज आदि वाजीकरण औषधोंका भी सेवन नहीं करना चाहिये।

(२) यथासाध्य नित्य खुली हवामें सबेरे और सायंकाल पैदल घूमना चाहिये।

(३) रातको जल्दी सोकर सबेरे ब्राह्म मुहूर्तमें अर्थात् पहर भर रात रहे अथवा सूर्योदयसे कम-से-कम घंटेभर पूर्व अवश्य उठ जाना चाहिये । सोते समय पेशाब करके, हाथ-पैर धोकर तथा कुल्ला करके भगवान्‌का स्मरण करते हुए सोना चाहिये ।

(४) कुसङ्गका सर्वथा त्याग करके यथासाध्य सदाचारी, वैराग्यवान्, भगवद्भक्त सत्पुरुषोंका सङ्ग करना चाहिये, जिससे मलिन वासनाएँ नष्ट होकर हृदयमें अच्छे भावोंका संग्रह हो ।

(५) पति-पत्नीको छोड़कर अन्य स्त्री-पुरुष अकेलेमें कभी न बैठें और न एकान्तमें बातचीत ही करें ।

(६) भगवद्गीता, रामायण, महाभारत, उपनिषद्, श्रीमद्भागवत आदि उत्तम ग्रन्थोंका नित्य नियमपूर्वक स्वाध्याय करना चाहिये । इससे बुद्धि शुद्ध होती है और मनमें गंदे विचार नहीं आते ।

(७) ऐश, आराम, भोग, आलस्य, प्रमाद और पापमें समय नहीं बिताना चाहिये । मनको सदा किसी-न-किसी अच्छे काममें लगाये रखना चाहिये ।

(८) मूत्रत्यागके और मलत्यागके बाद इन्द्रियोंको ठंढे जलसे धोना चाहिये और मल-मूत्रकी हाजतको भी नहीं रोकना चाहिये ।

(९) यथासाध्य ठंढे जलसे नित्य स्नान करना चाहिये ।

(१०) नित्य नियमितरूपसे किसी प्रकारका व्यायाम करना चाहिये । हो सके तो नित्यप्रति कुछ आसन एवं प्राणायामका भी अभ्यास करना चाहिये ।

(११) लँगोटा या कौपीन रखना चाहिये ।

(१२) नित्य नियमितरूपसे कुछ समयतक परमात्माका ध्यान अवश्य करना चाहिये ।

(१३) यथाशक्ति भगवान्‌के किसी भी नामका श्रद्धा-प्रेमपूर्वक जप तथा कीर्तन करना चाहिये । कामवासना जागृत हो तो नाम-जपकी धुन लगा देनी चाहिये, अथवा जोर-जोरसे कीर्तन करने लगना चाहिये । कामवासना नाम-जप और कीर्तनके सामने कभी ठहर नहीं सकती ।

(१४) जगत्‌में वैराग्यकी भावना करनी चाहिये । संसारकी अनित्यताका बार-बार स्मरण करना चाहिये । मृत्युको सदा याद रखना चाहिये ।

(१५) पुरुषोंको स्त्रीके शरीरमें और स्त्रियोंको पुरुषके शरीरमें मलिनत्व-बुद्धि करनी चाहिये । ऐसा समझना चाहिये कि जिस आकृतिको हम सुन्दर समझते हैं, वह वास्तवमें चमड़ेमें लपेटा हुआ मांस, अस्थि, रुधिर, मज्जा, मल, मूत्र, कफ आदि मलिन एवं अपवित्र पदार्थोंका एक घृणित पिण्डमात्र है ।

(१६) महीनेमें कम-से-कम दो दिन अर्थात् प्रत्येक एकादशी-को उपवास करना चाहिये और अमावास्या तथा पूर्णिमाको केवल एक ही समय अर्थात् दिनमें भोजन करना चाहिये ।

(१७) भगवान्‌की लीलाओं तथा महापुरुषों एवं वीर ब्रह्म-चारियोंके चरित्रोंका मनन करना चाहिये ।

(१८) यथासाध्य सबमें परमात्मभावना करनी चाहिये ।

(१९) नित्य-निरन्तर भगवान्‌को स्मरण रखनेकी चेष्टा करनी चाहिये ।

ऊपर जितने साधन बताये गये हैं; उनमें अन्तिम साधन स
उत्तम तथा सबसे अधिक कारगर है। यदि नित्य-निरन्तर अ
करणको भगवद्भावसे भरते रहनेकी चेष्टा की जाय तो मनमें
भाव कभी उत्पन्न हो ही नहीं सकते। किसी कविने क्या ही सु
कहा है—

> जहाँ राम तहँ काम नहिं, जहाँ काम नहिं राम।
> सपनेहुँ कबहुँक रहि सकैं, रबि रजनी इक ठाम॥

जिस प्रकार सूर्यके उदय होनेपर रात्रिके घोर अन्धका
नाश हो जाता है, उसी तरह जिस हृदयमें भगवान् अपना डेरा
लेते हैं; अर्थात् नित्य-निरन्तर भगवान्का स्मरण होता है, वहाँ
का उदय भी नहीं हो सकता। भगवद्भक्तिके प्रभावसे हृदयमें
एवं वैराग्यका अपने-आप उदय हो जाता है। पद्मपुराणान्त
श्रीमद्भागवतके माहात्म्यमें ज्ञान और वैराग्यको भक्तिके पुत्र
वर्णन किया गया है। अतः ब्रह्मचर्यकी रक्षा करनेके लिये नि
निरन्तर भगवान्का स्मरण करते रहना चाहिये। भगवत्स्मर
प्रभावसे अन्तःकरण सर्वथा शुद्ध होकर बहुत शीघ्र भगवान्की प्रा
हो जाती है, जो मनुष्य-जीवनका चरम लक्ष्य और ब्रह्मचर्य
अन्तिम फल है। भगवान्ने स्वयं गीताजीमें कहा है—

> अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
> तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥
> (८।१

त्रिविध तप

शास्त्रोंमें तीन प्रकारके पाप बतलाये गये हैं-(१) कायिक अर्थात् शरीरसे होनेवाले, (२) वाचिक अर्थात् वाणीसे होनेवाले और (३) मानसिक अर्थात् केवल मनसे होनेवाले । वैसे तो तीनों प्रकारके पापोंमें मनका संयोग रहता है, क्योंकि मनके बिना कोई भी क्रिया फलदायक नहीं हो सकती ।

भगवान् मनुने कायिक पाप तीन बतलाये हैं—बिना दिया हुआ धन लेना, शास्त्रविरुद्ध हिंसा और परस्त्रीगमन*। वाचिक पाप चार हैं—कठोर वचन कहना, झूठ बोलना, चुगली करना और बे-सिर-पैरकी व्यर्थ बातें करना । † और मानसिक पाप तीन हैं—दूसरेका माल मारनेका दाँव सोचना, मनसे दूसरेका अनिष्ट-चिन्तन करना और मैं शरीर हूँ, इस प्रकारका झूठा अभिमान करना। ‡

---

*अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः ।
परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम् ॥
(मनु० १२ । ७)

†पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चापि सर्वशः ।
असम्बद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम् ॥
(मनु० १२ । ६)

‡परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्टचिन्तनम् ।
वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम् ॥
(मनु० १२ । ५)

इन त्रिविध पापोंका नाश करनेके लिये भगवान् श्रीकृ गीतामें तीन प्रकारके तप बतलाये हैं—शारीरिक तप, वाङ् तप और मानस तप । उक्त तीन प्रकारके तपका स्वरूप भगव इस प्रकार बतलाया है—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥
(१७।

'देवता, ब्राह्मण, गुरु एवं ज्ञानीजनोंका पूजन, शरीर, एवं आचरणकी पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य एवं अहिंसा- शरीरसम्बन्धी तप कहा जाता है ।'

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥
(१७।

'जो उद्वेगको न करनेवाला, प्रिय और हितकारक एवं भाषण है तथा जो वेद-शास्त्रोंके पठन एवं परमेश्वरके नाम- अभ्यास है, वही वाणीसम्बन्धी तप कहा जाता है ।' तथा-

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥
(१७।

'मनकी प्रसन्नता, शान्तभाव, भगवच्चिन्तन करनेका स्व मनका निग्रह और अच्छी प्रकार अन्तःकरणकी पवित्रता- प्रकारका यह मनसम्बन्धी तप कहा जाता है ।'

शारीरिक पापोंमें बिना दिये हुए धनके ग्रहणरूपी पापका नाश शौच अर्थात् द्रव्यकी पवित्रतासे होता है। न्यायोपार्जित द्रव्य ही पवित्र होता है और जिसने हक्का पैसा ग्रहण करनेका ही नियम ले लिया है, उससे फिर बिना हुक्म या बिना दिये हुए किसीका धन या किसीकी वस्तुको लेनारूप पापकर्म नहीं बन सकता। हिंसारूपी पापका नाश अहिंसारूपी तपसे होता है; जिसने अहिंसा-का व्रत ले लिया है, उसके द्वारा किसी प्रकारकी हिंसा कभी हो ही नहीं सकती। और जिसने ब्रह्मचर्यका व्रत ले लिया है, उसके द्वारा परस्त्रीगमन हो ही कैसे सकता है?

इसी प्रकार जिसने अनुद्वेगकर एवं प्रिय वचन बोलनेका नियम ले लिया है उसके मुखसे परुष वचन कभी निकल ही नहीं सकते। जिसने हितकर वाणी बोलनेका सङ्कल्प कर लिया है, वह किसीकी चुगली कैसे कर सकता है और जिसने सत्यभाषण तथा स्वाध्यायके अभ्यासका नियम ले लिया है, वह न तो झूठ बोल सकता है और न असम्बद्ध प्रलाप ही कर सकता है। क्योंकि वह सदा सतर्क रहेगा कि मेरे मुखसे कोई झूठ बात भूलसे भी न निकल जाय, किन्तु जो असम्बद्ध तथा व्यर्थकी बातें करता है उसके द्वारा पद-पदपर असत्यभाषणकी गुंजाइश रहती है। सत्यभाषणके लिये मितभाषणकी भी आवश्यकता होती है। जिसकी वाणीपर लगाम नहीं है, जो अनर्गल बोलता रहता है, उसके द्वारा, और नहीं तो, भूलमें ही असत्यभाषण हो सकता है।

मानस पापोंमें दूसरेके धनको हड़पनेका भाव एवं दूसरेका

अनिष्टचिन्तन तथा मैं देह हूँ, इस प्रकारका मिथ्याभिमान—येतो ही अन्तःकरणकी संशुद्धिरूपी तपसे नष्ट हो जाते हैं।

उक्त तीनों प्रकारके तपकी विस्तृत व्याख्या गीतातत्त्वाङ्क ऊपर उद्धृत किये हुए तीनों श्लोकोंकी व्याख्यामें देखनी चाहि

इस प्रकारके तपको भगवान्‌ने मनुष्यमात्रके लिये अवश्यक बतलाया है। 'तप' का अर्थ है तपाना। तपके द्वारा मन, इं एवं शरीरको तपाया जाता है; इसीलिये उसे तप कहते जैसे सोनेको अग्निमें तपानेसे उसके सारे विकार जल जाते हैं उसका शुद्ध निखरा हुआ रूप सामने आ जाता है, उसी प्र तपके द्वारा मनुष्यके अन्तःकरण तथा इन्द्रियोंका मल नष्ट होक पवित्र हो जाते हैं। गीताने तपको पुनः तीन भेदोंमें विभक्त कि है—सात्त्विक, राजस, तामस। सात्त्विक तपका लक्षण इस प्र किया गया है—

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते॥

(१७।१

'फलको न चाहनेवाले साधक पुरुषोंद्वारा परम श्रद्धासे हुए उस पूर्वोक्त तीन प्रकारके तपको सात्त्विक कहते हैं।' रा तपका स्वरूप इस प्रकार है—

---

* गीतातत्त्वाङ्क 'कल्याण' का १४वें वर्षका विशेषाङ्क है। ३.५०। मिलनेका पता—कल्याण-कार्यालय, गोरखपुर।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥
(१७ । १८)

'जो तप सत्कार, मान और पूजाके लिये अथवा केवल पाखण्डसे ही किया जाता है, वह अनिश्चित एवं क्षणिक फलवाला तप यहाँ राजस कहा गया है।' और तामस तपका लक्षण इस प्रकार है—

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥
(१७ । १९)

'जो तप मूढ़तापूर्वक हठसे, मन, वाणी और शरीरकी पीड़ाके सहित अथवा दूसरेका अनिष्ट करनेके लिये किया जाता है, वह तामस कहा गया है।'

मनुष्य यदि उपर्युक्त कायिक, वाचिक, मानसिक तपसे जो स्थायी लाभ उठाना चाहे अर्थात् अतीत एवं अनागत सभी प्रकारके शुभाशुभ कर्मोंसे छूटकर परमात्माकी प्राप्ति करना चाहे तो उसे ऊपर कहे हुए सात्त्विक तपका ही आचरण करना चाहिये। क्योंकि मोक्ष अथवा भगवत्प्राप्तिके लिये कर्मकी उतनी प्रधानता नहीं है जितनी भावकी। कर्म चाहे ऊँचा न हो, कर्ताका भाव यदि ऊँचा है तो उसका फल ऊँचा ही होगा। इसके विपरीत यदि कर्म ऊँचे-से-ऊँचा हो, किन्तु भाव नीचा हो, तो उसका फल नीचा ही होगा। पूर्ण निष्कामभावसे केवल कर्तव्य समझकर अथवा भगवत्प्राप्ति, भगवत्प्रेम अथवा मुक्तिकी कामनासे किये हुए शिल्प, व्यापार एवं सेवा आदि लौकिक दृष्टिसे छोटे माने जानेवाले कर्म भी महान् फलके देनेवाले होते हैं और लौकिक

फलकी कामनासे किये हुए यज्ञ, दान, तप आदि ऊँचे-से-ऊँचे भी तुच्छ फल देनेवाले ही होते हैं। क्योंकि जिस उद्देश्यसे जो किया जाता है, उसका वैसा ही फल मिलता है। जो कर्म पुत्र, धन, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा अथवा स्वर्गसुख आदिके लिये किया जाता है, उसके फलरूपमें यही नाशवान् पदार्थ मिलते हैं। स्वर्ग यद्यपि इहलौकिक सुखोंकी अपेक्षा अधिक स्थायी है, किन्तु है अनित्य ही। क्योंकि स्वर्गप्राप्ति करानेवाले शुभ कर्मके समाप्त जानेपर स्वर्गस्थ जीव पुनः मर्त्यलोकमें ढकेल दिये जाते (गीता ९।२१)। इसीलिये सत्कार, मान, पूजा आदि लिये अथवा दम्भसे किये जानेवाले राजस तपको भगवान् अध्रुव और चल बतलाया है। अध्रुव तो उसे इसलिये कहा उससे सत्कार, मान, पूजा आदिका मिलना निश्चित नहीं है और मिल जायँ तो भी क्षणिक हैं। और अस्थायी उसको इसलिये कि मान, सत्कार आदि उससे मिलनेवाली वस्तुएँ अनित्य हैं; उनका सम्बन्ध इसी लोकसे है और जबतक हम मान-सत्कारके योग्य करते हैं, तभीतक हमें ये मिलते हैं। अवश्य ही तामस तपकी भाँति राजस तप निषिद्ध नहीं है।

इसलिये ऊँचे-से-ऊँचा फल चाहनेवालोंको ऊपर कहे सात्त्विक तपका ही आचरण करना चाहिये। क्योंकि उपर्युक्त तप कर्म स्वरूपतः सात्त्विक होनेपर भी वास्तवमें सात्त्विक तभी होता जब हमारा भाव भी सात्त्विक हो अर्थात् उसे हम किसी लौकिक कामनाके लिये न करें। हमारा भाव यदि राजस है तो उसका भी उसके अनुसार ही होगा। रजोगुण एवं तमोगुणका

भगवान्ने क्रमशः दुःख एवं अज्ञान बतलाया है (गीता १४।१६) अतएव कल्याणकामी पुरुषके लिये राजस एवं तामस दोनों ही प्रकारके तप त्याज्य हैं।

तामस तप तो स्वरूपसे ही त्याज्य है। क्योंकि उसका तो आरम्भ ही अज्ञान एवं हठसे होता है और अज्ञान एवं हठ तमोगुणके कार्य होनेसे अधोगतिको ले जानेवाले हैं (गीता १४। १८)। इसलिये जो तप दूसरेका अनिष्ट करनेके उद्देश्यसे किया जाता है; वह तो प्रत्यक्ष ही हानिकारक है, उसके तो मूलमें ही हिंसा रहती है; अतः उसका फल नरकोंकी प्राप्ति होना ही चाहिये।

जो अशास्त्रविहित घोर तप करते हैं,उनको भगवान्ने अज्ञानी एवं आसुर स्वभाववाला बतलाया है। भगवान् कहते हैं—

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान् विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥
(गीता १७। ५-६)

'जो मनुष्य शास्त्रविधिसे रहित केवल मनःकल्पित घोर तपको तपते हैं तथा दम्भ और अहङ्कारसे युक्त एवं कामना, आसक्ति और बलके अभिमानसे भी युक्त हैं, तथा जो शरीररूपसे स्थित भूत-समुदायको और अन्तःकरणमें स्थित मुझ अन्तर्यामीको भी कृश करनेवाले हैं; उन अज्ञानियोंको तू आसुर स्वभाववाले जान।' इसलिये अशास्त्रविहित तप वास्तवमें तप ही नहीं है, वह तो तामसी पुरुषोंकी दृष्टिमें ही तप है।

शास्त्रविधिका उल्लङ्घन करके जो मनमाने ढंगसे तप आं करते हैं, उनके विषयमें भगवान्ने कहा है कि उन्हें न तो लौकि सिद्धि (ऐश्वर्य आदि) मिलती है, न सात्त्विक सुख मिलता है औ न मोक्ष अथवा भगवत्प्राप्तिरूप परमगति ही मिलती है*। इसलि कौन-सा तप करना चाहिये और कौन-सा नहीं करना चाहि इसका निर्णय भी हमें शास्त्रोंके द्वारा ही करना चाहिये। भगवा कहते हैं—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥

(गीता १६। २४

'इससे तेरे लिये इस कर्तव्य और अकर्तव्यकी व्यवस्थां शास्त्र ही प्रमाण है। ऐसा जानकर तू शास्त्रविधिसे नियत कर्मां करने योग्य है।'

इससे यह सिद्ध हुआ कि तप भी हमें वही करना चाहि जो शास्त्रविहित हो। इस प्रकारके तपको ही भगवान्ने (गीत १८। ५ में) अवश्यकर्तव्य बताया है।

केवल तपसे ही मनुष्य सारे पापोंसे मुक्त होकर परमात्मा प्राप्त हो सकता है, यह बात भगवान्ने गीताके चौथे अध्याय कही है। चौथे अध्यायके २८ वें तथा ३१ वें श्लोकोंको मिलाक पढ़नेसे यह बात स्पष्ट हो जाती है। २८ वें श्लोकमें भगवान्

---

* यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥

(गीता १६। २३

तपको भी एक यज्ञ बतलाया है और ३१ वें श्लोकमें भगवान्ने यज्ञशेषरूप अमृत खानेवालोंको सनातन ब्रह्मकी प्राप्ति बतलायी है। ४। ३१ में 'यज्ञ' शब्द परमात्मप्राप्तिके सभी साधनोंका उपलक्षण है और उन साधनोंके अनुष्ठान करनेसे साधकोंका अन्तः-करण शुद्ध होकर उसमें जो प्रसादरूप प्रसन्नताकी उपलब्धि होती है (गीता २। ६४-६५; १८। ३६-३७), वही यहाँ यज्ञसे बचा हुआ अमृत समझना चाहिये। उस विशुद्ध भावसे उत्पन्न सुखमें नित्य तृप्त रहना ही उस यज्ञशेष अमृतको खाना है और उसको खानेवाला समस्त पापोंसे छूटकर सनातन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है, यही बात भगवान्ने ४। ३१ में कही है।

अब जब यह बात सिद्ध हो गयी कि यज्ञरूपमें केवल तपके आचरणसे ही मनुष्य समस्त पापोंसे छूटकर परमात्माको प्राप्त हो सकता है, तब यह प्रश्न होता है कि इस प्रकारके तपरूपी यज्ञमें सबका अधिकार है अथवा किसी खास वर्ण अथवा आश्रम-वालोंका ही ? इसका उत्तर यह है कि गीतामें बताये हुए शारीरिक, वाचिक, मानसिक—तीनों प्रकारके तपका सभी वर्ण और सभी आश्रमवालोंको अधिकार है। केवल कुछ बातें ऐसी हैं जिनका स्वरूप अधिकारके अनुसार कुछ बदल जाता है। उदाहरणके लिये शारीरिक तपमें ब्रह्मचर्यका रूप गृहस्थाश्रमियोंके लिये कुछ और है और इतर आश्रमवालोंके लिये कुछ और है। ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ एवं संन्यासीके लिये स्त्रीसङ्गका सर्वथा त्याग कहा गया है; अतएव उनके लिये अष्टविध मैथुनका त्याग ही ब्रह्मचर्य है। किन्तु गृहस्थोंके लिये, जिन्हें पितृऋणसे मुक्त होनेके लिये सन्तानोत्पादनके हेतु

ऋतुकालमें शास्त्रानुकूल अपनी विवाहिता पत्नीके साथ सहवा करनेकी आज्ञा दी गयी है, ऋतुकालकी सोलह रात्रियोंमेंसे निन्दित रात्रियाँ और शेष दस रात्रियोंमेंसे आठ और रात्रियाँ छो कर केवल दो ही रात्रियोंमें सन्तानोत्पादनके हेतु स्त्रीसहवास कर ब्रह्मचर्यके ही अन्तर्गत माना गया है। भगवान् मनु कहते हैं—

> निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन्।
> ब्रह्मचार्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन्॥
>
> (३।५०)

अर्थात् 'जो मनुष्य निन्दित छः रात्रियोंमें तथा आठ अ रात्रियोंमें स्त्रीसङ्गका त्याग कर देता है, वह चाहे जिस आश्रम रहे, ब्रह्मचारी ही है।'

निन्दित छः रात्रियाँ कौन हैं, इस सम्बन्धमें मनुजी वचन है—

> तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी च या।
> त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः॥
>
> (३।४७)

अर्थात् 'ऋतुकालकी सोलह रात्रियोंमें पहली चार रात्रियाँ त ग्यारहवीं और तेरहवीं रात्रियाँ निन्दित हैं, शेष दस रात्रि प्रशस्त हैं।'

इन दस रात्रियोंमेंसे भी पुत्रकी कामनावालेको चार अयु रात्रियाँ अर्थात् पाँचवीं, सातवीं, नवीं और पंद्रहवीं रात्रि छो देनी चाहिये, क्योंकि भगवान् मनु कहते हैं—

युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु ।
तस्माद्युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्तवे स्त्रियम् ॥
(३ । ४८)

अर्थात् 'छठी, आठवीं, दसवीं, बारहवीं, चौदहवीं तथा सोलहवीं रात्रिमें स्त्रीसङ्ग करनेसे पुत्र उत्पन्न होते हैं और अयुग्म रात्रियोंमें सङ्गम करनेसे कन्याएँ होती हैं। इसलिये पुत्र चाहनेवाले-को ऋतुकालमें स्त्रीके पास युग्म रात्रियोंमें ही जाना चाहिये।'

इस प्रकार सोलह रात्रियोंमेंसे पुत्र चाहनेवालेके लिये छः निन्दित और चार अयुग्म—यों दस रात्रियाँ तो टल गयीं, शेष बची हुई छः युग्म रात्रियोंमें भी पर्व-दिनोंको छोड़कर स्त्रीसङ्गम करनेकी आज्ञा है—'पर्ववर्जं व्रजेच्चैनाम्' (मनु० ३ । ४५)। पर्वके दिन हैं चार—अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या और पूर्णिमा। इसी प्रकार एकादशी, संक्रान्ति आदि पुण्यतिथियाँ भी स्त्रीसङ्गके लिये वर्जित हैं। इनमेंसे कुछ तो पहले बतलाये हुए दस वर्जित दिनोंके अन्तर्गत ही आ जायँगी। इस प्रकार महीनेभरमें शायद दो ही दिन ऐसे मिलेंगे जिनमें गृहस्थ स्त्रीसङ्ग कर सकता है। इसीलिये मनुजीने ऋतुकाल-की भी चौदह रात्रियोंको टालनेवालेको ब्रह्मचारी बतलाया है। महीनेभरमें केवल एक बार स्त्रीसङ्ग करनेवालेकी शास्त्रोंने विशेष प्रशंसा की है।

इसी प्रकार यदृच्छा अर्थात् अनिच्छासे प्राप्त हुए धर्मसङ्गत युद्धको शास्त्रोंने क्षत्रियोंके लिये धर्म बतलाया है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा है—

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥
(२।३१)

'तथा (युद्ध करनारूप) अपने धर्मको देखकर भी तू भय करनेयोग्य नहीं है, अर्थात् तुझे भय नहीं करना चाहिये। क्योंकि क्षत्रियके लिये धर्मयुक्त युद्धसे बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारक कर्तव्य नहीं है।' और युद्धमें हिंसा आवश्यक होती है, ऐसी दशामें क्षत्रियके लिये धर्मयुद्धमें अनिवार्यरूपसे की जानेवाली हिंसा अहिंसाके ही अन्तर्गत मानी जायगी; वैसी हिंसासे उसे पाप नहीं लगेगा। इसीलिये भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥
(गीता १८।४७)

'अच्छी प्रकार आचरण किये हुए दूसरेके धर्मसे गुणरहित भी अपना धर्म अति उत्तम है। क्योंकि स्वभावसे नियत किये हुए स्वधर्मरूप कर्मको करता हुआ मनुष्य पापको नहीं प्राप्त होता।'

यही नहीं, भगवान् तो यहाँतक कह देते हैं कि अपने स्वाभाविक कर्मका, चाहे वह दोषयुक्त ही क्यों न हो, त्याग नहीं करना चाहिये; क्योंकि जिस प्रकार अग्निके साथ धूएँका सम्बन्ध किसी-न-किसी मात्रामें रहता ही है, उसी प्रकार क्रियामात्रमें, चाहे वह कितना ही सात्त्विक क्यों न हो—कोई-न-कोई दोष रहता ही है।* अतः अनिच्छासे प्राप्त धर्मयुक्त युद्धमें उ

* सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥ (गीता १८।४८)

द्वारा अनिवार्यरूपमें होनेवाली हिंसा क्षत्रियके लिये अहिंसा ही है।

वाचिक तपमें शूद्रके लिये स्वाध्यायका अर्थ भगवन्नामका जप ही लेना चाहिये, क्योंकि शूद्रके लिये वेदाध्ययनकी आज्ञा शास्त्रोंने नहीं दी है, किन्तु द्विजाति वर्णोंके लिये वेद-शास्त्रोंका अध्ययन तथा भगवन्नामका जप दोनों ही स्वाध्यायके अन्तर्गत माने गये हैं। इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिये कि वेदाध्ययनका अधिकार न देकर शास्त्रोंने शूद्रोंको घाटेमें रक्खा है। जो फल द्विजातियोंको भगवन्नाम-जप तथा वेदाध्ययनरूप तपसे प्राप्त हो सकता है, वही शूद्रोंको केवल भगवन्नामजपसे मिल सकता है। परमात्माकी प्राप्तिमें सभीका समान अधिकार माना गया है।

मानसिक तपका आचरण सभी वर्णों और सभी आश्रमोंके लोग समानरूपसे कर सकते हैं। और मानसिक तप कायिक, वाचिक दोनों प्रकारके तपसे श्रेष्ठ एवं कठिन भी है। मानसिक तपके द्वारा जिसका मन निगृहीत, शुद्ध एवं शान्त हो गया है, उसके द्वारा शारीरिक एवं वाचिक तप तो स्वाभाविक ही होने लगेंगे। क्योंकि शरीर एवं वाणीके द्वारा जितने दोष होते हैं, उनका हेतु कोई-न-कोई मानसिक विकार ही होता है। अतः कल्याणकामी पुरुषको चाहिये कि गीतोक्त तीन प्रकारके तपको परम श्रद्धा एवं तत्परताके साथ निष्कामभावसे करे।



धर्मके नामपर पाप

कलियुग अपना प्रभाव सर्वत्र दिखा रहा है। प्रायः
क्षेत्रोंमें दिखौआपन आ गया है। मिथ्याचारी लोग प्रायः
क्षेत्रोंमें घुसकर अपना स्वार्थ सिद्ध कर रहे हैं। दम्भी
अनेक रूप बनाकर, अनेक वेष धारणकर लोगोंको
लगे हुए हैं। धार्मिक क्षेत्रमें, जहाँ अधिकांश बातें विश्वा
सम्बन्ध रखनेवाली होती हैं, दम्भके लिये अधिक गुंजाइश
है। इसीसे धर्मध्वजीलोग धर्मका बाना ग्रहणकर भोली-भा
जनताको अनेक प्रकारके प्रलोभन देकर, सब्ज बाग दिखा
ठगा करते हैं और इस प्रकार अपना स्वार्थ सिद्ध करते
भक्तिके नामपर भी लोग इसी प्रकार भोले-भाले लोगोंको

चंगुलमें फँसाकर उनका धन अपहरण करते हैं। स्त्रियाँ इन बगुले भक्तोंके हथकंडोंकी अधिक शिकार होती हैं, क्योंकि वे विवेक-शक्तिसे कम काम लेती हैं और विश्वासकी मात्रा भी उनमें अधिक होती है। इसीसे वे बहुत जल्दी धोखेमें आ जाती हैं और अपने धन तथा सतीत्वको भी, जो भारतीय स्त्रियोंकी सबसे बड़ी सम्पत्ति है, खो बैठती हैं। तीर्थोंमें, देवालयोंमें, धर्मस्थानोंमें आये दिन इस प्रकारकी घटनाएँ हुआ करती हैं। इसीसे आज धर्म और ईश्वरके प्रति लोगोंकी आस्था कम होती जा रही है। जगत्में बढ़ती हुई नास्तिकता तथा धर्मके प्रति उदासीनताके लिये ऐसे ही लोग अधिक जिम्मेवार हैं, जो अपनेको आस्तिक तथा धर्मप्रेमी कहकर अपने आचरणोंद्वारा धर्म और आस्तिकताकी जड़पर कुठाराघात करते हैं। जनताको चाहिये कि ऐसे धर्मध्वजी लोगोंसे खूब सावधान रहे।

स्त्रियोंको इस सम्बन्धमें विशेष सावधानी रखनेकी आवश्यकता है। उनमें प्रायः बुद्धिकी अपेक्षा श्रद्धाकी मात्रा अधिक होती है। यद्यपि अध्यात्ममार्गमें श्रद्धाकी अधिक आवश्यकता है, परन्तु विवेकरहित श्रद्धा बहुधा हानिकारक होती है, इसीलिये हमारे शास्त्रोंमें स्त्रियोंको स्वतन्त्रता नहीं दी गयी है। स्त्रियोंके लिये पति ही परमेश्वर है, पति ही परम देवता है, पति ही तीर्थ है, पति ही गुरुहै। सौभाग्यवती स्त्रीके लिये पतिकी सेवासे बढ़कर और कोई साधन नहीं है। पतिकी अवहेलना करके व्रत-उपवास, तीर्थ-सेवन, देवदर्शन, गङ्गास्नान आदि करनेसे स्त्रीको कोई पुण्य नहीं होता। विधवा स्त्रीके लिये भी यही उचित है कि वह घरसे बाहर

किसी तीर्थ अथवा देवालयमें, गङ्गास्नान आदिके लिये अथ कथा-कीर्तन आदिमें जाय तो अपने घरवालोंसे पूछकर घरवाले साथ जाय, उनकी आज्ञा लेकर भी अकेले कहीं न जाय। भगव मनु कहते हैं—

> बालया वा युवत्या वा वृद्धया वापि योषिता।
> न स्वातन्त्र्येण कर्तव्यं किञ्चित्कार्यं गृहेष्वपि॥
> बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत्पाणिग्राहस्य यौवने।
> पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत् स्त्री स्वतन्त्रताम्॥
> नास्ति स्त्रीणां पृथग् यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषणम्।
> पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते॥

(मनुस्मृति ५ । १४७, १४८, १५

'लड़की, जवान या वृद्ध स्त्रीको भी घरोंमें भी कोई कार्य स्वत होकर न करना चाहिये। बाल्यावस्थामें स्त्री पिताके अधीन जवानीमें पतिके अधीन और पतिके मर जानेपर पुत्रोंके अ होकर रहे, स्त्री स्वतन्त्र होकर कभी न रहे। स्त्रियोंको पतिके अलग यज्ञ, व्रत और उपवास करनेका अधिकार नहीं है। स्त्री केवल पतिकी सेवासे ही स्वर्गमें आदर पाती है।'

पुनश्च—

> सूक्ष्मेभ्योऽपि प्रसङ्गेभ्यः स्त्रियो रक्ष्या विशेषतः।
> द्वयोर्हि कुलयोः शोकमावहेयुररक्षिताः॥

(मनु० ९ । ५

'जहाँ थोड़े-से भी सङ्गदोषकी सम्भावना जान पड़े, ऐसे प्रसं

से भी स्त्रियोंकी विशेष यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिये; क्योंकि अरक्षित स्त्रियाँ पिता और पति दोनोंके कुलोंको सन्तापित करती हैं।'

सुना गया है, आजकल बंबई, कलकत्ता, लाहौर, लखनऊ आदि बड़े-बड़े नगरोंमें कीर्तन-भजनके नामपर बड़ा पाप फैलाया जा रहा है। कलकत्तेमें तो कुछ स्त्रियाँ गङ्गास्नानके अथवा देवदर्शनके बहाने टोलियाँ बनाकर कुछ निर्दिष्ट स्थानोंपर एकत्र होती हैं, नाचती-गाती हैं और कीर्तन करती हैं। आगे चलकर उनके आचरणोंमें इतनी अश्लीलता आ जाती है, जिसका स्पष्ट शब्दोंमें उल्लेख नहीं किया जा सकता। वहाँ बहुत-सी ऐसी स्त्रियाँ हैं जिन्होंने गीता आदि धार्मिक ग्रन्थ पढ़ाना और इसी बहाने भले घरोंकी स्त्रियोंको अपने यहाँ एकत्रित कर उन्हें कुमार्गमें प्रवृत्त करना—यही पेशा बना लिया है। हमारे भाइयोंको चाहिये कि वे ऐसी स्त्रियोंसे सावधान हो जायँ, अपने घरकी स्त्रियोंको किसी दूसरेके घर किसी निमित्तसे अकेले न जाने दें और न इस प्रकारकी स्त्रियोंको गीता आदि पढ़ानेके बहाने अपने घरोंमें आने दें। सुननेमें तो यहाँतक आया है कि कुछ स्त्रियाँ इस प्रकारकी पेशेवर स्त्रियोंके बहकावेमें आकर अपने पिता, पुत्र, पति आदिका विरोध करके भी उपर्युक्त स्थानोंपर जाती हैं और वहाँ धर्म और भक्तिके नामपर अनर्थ होता है।

जो लोग इस प्रकार कथा-कीर्तनके बहाने परायी स्त्रियोंको अपने घरपर बुलाकर पाप करते हैं, उनके सम्बन्धमें तो क्या कहा जाय? वे मूढ़ तो अपने ही हाथों अपने लिये नरकका द्वार खोलते हैं। उन्हें यह सोचना चाहिये कि बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी स्त्रियोंके

सङ्गमें रहकर अपनेको नहीं बचा सके; फिर हम मनुष्य-कीटों
तो बात ही क्या है, जो कामके किङ्कर बने हुए हैं! स्त्रि
सङ्गकी तो बात ही क्या है, शास्त्रोंने तो स्त्रियोंका सङ्ग करनेवा
सङ्गको भी अत्यन्त त्याज्य बतलाया है—

स्त्रीणां स्त्रीसङ्गिनां सङ्गं त्यक्त्वा दूरत आत्मवान्।

(श्रीमद्भा० ११। १४।

उसी भागवतमें अन्यत्र स्त्रियोंका सङ्ग करनेवालोंके स
नरकका द्वार बतलाया गया है। ऐसी दशामें ऐसा कौन म
है जो स्त्रियोंके सङ्गमें रहकर अपनेको पवित्र रख
ऊपर कहे हुए लोग तो वास्तवमें बड़े दयनीय हैं, वे तो ध
आड़में पाप कमाते हैं। उनपर तो कामका भूत सवार
जैसे रोगग्रस्त मनुष्य विषयासक्तिके वशीभूत होकर कुपथ्य
बैठता है और पीछे रोता है, उसी प्रकार ये लोग भी बुरी नी
अधर्माचरणरूपी कुपथ्यका सेवन करते हैं और अन्तमें जब वे
मनुष्यशरीरसे हाथ धो बैठेंगे, उस समय रोनेके सिवा और कुछ
उनके हाथ नहीं आनेका। जो पुरुष कथा-कीर्तन आदिके नाम
भक्ति और धर्मकी आड़में पाप करता है वह तो महान् नीच
उसके तो दर्शन करनेवालेको पाप लगता है। अतः सभी भाइ
चाहिये कि इस प्रकारके घोर पापसे अपनी माता-बहिनोंको बचा
तत्परतापूर्वक चेष्टा करें। इस कार्यमें साम, दान, दण्ड, भेद
प्रकारकी नीति व्यवहारमें लायी जा सकती है। जिस किसी प्रका
भी हो, समाजको इस महान् पतनसे बचानेकी पूरी चेष्टा क
चाहिये।

सौभाग्यवती स्त्रियोंके लिये सबसे बड़ा कर्तव्य है पातिव्रत-धर्मका पालन करना—शरीर और मनसे पतिके अनुकूल आचरण करना, सब तरहसे पतिको प्रसन्न करनेकी चेष्टा करना और उसीकी आज्ञासे, उसीकी प्रसन्नताके लिये घरके अन्य लोगोंकी तथा अतिथियोंकी श्रद्धा और प्रेमपूर्वक सेवा करना। ईश्वरभक्ति, सद्गुण-सदाचारका सेवन, दुर्गुण-दुराचारका त्याग तथा सेवा—इनमें सबका अधिकार है। परन्तु सौभाग्यवती स्त्रियोंके लिये तो पतिको ही ईश्वरका प्रतिनिधिरूप मानकर पातिव्रत-धर्मका पालन ही मुख्य कर्तव्य है। उपर्युक्त साधनोंसे जिस वस्तुकी प्राप्ति होती है, सौभाग्यवती स्त्रीको ईश्वरबुद्धिसे केवल पतिकी सेवा करनेसे ही वह वस्तु प्राप्त हो जाती है। ऐसी दशामें पतिको छोड़कर सौभाग्यवती स्त्रीको कहीं अन्यत्र जानेकी आवश्यकता नहीं है। उसके लिये पति ही सब कुछ है। भगवान्‌की पूजा-अर्चा आदि भी उसे घरहीमें रहकर करना चाहिये। भक्तिमें कहीं दिखौआपन नहीं आना चाहिये।

पुरुषके लिये परस्त्रीके साथ और स्त्रीके लिये परपुरुषके साथ एकान्तवास, परस्पर हँसी-मजाक या कामबुद्धिसे दर्शन, स्पर्श, सम्भाषण आदि व्यभिचार ही माना गया है। इसलिये कल्याण चाहनेवालोंको इन सबसे परहेज रखना चाहिये। स्त्रियोंके साथ पुरुषोंको और पुरुषोंके साथ स्त्रियोंको किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं रखना चाहिये। अत्यावश्यक होनेपर परस्पर अत्यन्त पवित्रभावसे बातचीत और प्रणामादि व्यवहार हो सकता है, इससे अधिक सम्बन्ध वाञ्छनीय नहीं है। मनुजी महाराजने तो अपनी माता,

बहिन, पुत्री आदिके साथ भी एकान्तमें बैठनेतकको मना किया क्योंकि यद्यपि इन सबके साथ हमारा स्वाभाविक ही परम सम्बन्ध है, फिर भी इन्द्रियाँ बड़ी बलवान् हैं; वे बड़े-बड़े तथा विचारवान् पुरुषोंके मनको भी आकर्षित कर लेती हैं-

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥

(मनु० २।

ऐसी दशामें स्त्रियोंको परपुरुषसे और पुरुषोंको परस्त्रीसे ही रहना चाहिये। इसीमें दोनोंका भला है।

उपर्युक्त कथनसे कोई यह न समझे कि मैं स्त्रियोंके भजन-ध्यान, व्रत, उपवास आदि करना तथा कथा-कीर्तनमें सम्मिलित होना बुरा समझता हूँ। इन्हें बहुत उत्तम मानता भी मैं इस बुरे समयको और पुरुषजातिकी नीच प्रवृत्तिको एक स्थानपर बहुत-सी स्त्रियोंके एकत्र होने तथा किसीके देवालय अथवा तीर्थस्थानपर एकत्र होकर स्वतन्त्रतापूर्वक कीर्तनके उद्देश्यसे भी गाने, बजाने, नाचने आदिका विरोध हूँ; क्योंकि इसका परिणाम बहुधा विपरीत होता है। स्त्रियोंके मैं यही ठीक समझता हूँ कि वे अपने घरहीमें रहकर साधनोंको करें; कहीं अन्यत्र जायँ तो अपने घरवालोंके साथ अकेले कहीं न जायँ। वर्तमान युग स्त्रियोंके लिये विशेष है। उनके लिये पद-पदपर खतरा है। ऐसी स्थितिमें सतीत्वकी रक्षाके लिये विशेष सावधानीकी आवश्यकता है

जो भोले-भाले मनुष्य अच्छे भावसे भी स्त्रियोंको इकट्ठा करके गाना, बजाना, नाचना आदि करते हैं, वे भी भूल करते हैं। प्रारम्भमें शुद्ध भाव रहनेपर भी आगे चलकर उनमें भी दोष आ जानेकी बहुत सम्भावना रहती है। ऐसी स्थितिमें उन्हें स्त्रियोंके सङ्गसे सर्वथा बचना चाहिये। जो लोग अपनी इस अनधिकार चेष्टाके समर्थनमें यह दलील पेश करते हैं कि ब्याह-शादीके अवसरोंमें भी तो स्त्रियाँ एकत्र होकर गाना, बजाना, नाचना आदि करती हैं, बल्कि गालियोंके रूपमें गंदे गीत भी गाती हैं, दामादके साथ अश्लील बातें करती हैं;फिर यदि वे भगवद्भजन-कीर्तन आदिके लिये एकत्र हों तो इसमें क्या आपत्ति है ? इसका उत्तर यह है कि ब्याह-शादीके अवसरोंपर भी स्त्रियोंका एकत्र होकर गाना, बजाना नाचना आदि प्रमाद ही है। उसे मैं ठीक नहीं समझता। गंदे गीत गाना और किसी भी पुरुषके साथ अश्लील बातें करना तो बड़ा भारी प्रमाद और पाप है तथा व्यभिचारमें सहायक होनेके नाते एक प्रकारका व्यभिचार ही है। ऐसी स्थितिमें उसका उदाहरण देकर स्त्रियोंके एक स्थानपर एकत्र होकर गाने, बजाने, नाचने आदिका समर्थन करना कदापि युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता।

फिर जो लोग महंत बनकर स्त्रियोंसे पैर पुजाते हैं,उन्हें अपने शरीरका सेवन, पादोदक अथवा उच्छिष्ट देते हैं तथा अपना फोटो पूजाके लिये देते हैं अथवा स्वयं कृष्ण बनकर स्त्रियोंके साथ रासलीला करते हैं, वे तो महान् पाप करते हैं और अपना तथा अपनी पूजा करनेवालोंका महान् अहित करते हैं। इसलिये उनका चरणोदक आदि लेना, उनके शरीरकी अथवा फोटोकी पूजा करना अत्यन्त

निषिद्ध है। और स्त्रियोंके लिये तो अपने पतिको छोड़कर किसी दूसरे पुरुषके शरीरका स्पर्श करना, चरणोदक लेना सर्वथा वर्जित है। सतीशिरोमणि जगज्जननी जानकीने तो हनुमान-जैसे आदर्श यति तथा परम भक्तके द्वारा भी लङ्कासे श्रीरामके पास ले जाया जाना इसीलिये अस्वीकार कर दिया कि वे जान-बूझकर किसी परपुरुषका स्पर्श नहीं कर सकतीं, चाहे वह अपना पुत्र ही क्यों न हो। यह कथा वाल्मीकि रामायणके सुन्दरकाण्डमें आती है। किसी दशामें स्त्रियोंका अपने पतिको छोड़कर किसी भी दूसरे पुरुषका स्पर्श करना तथा चरणोदक अथवा उच्छिष्ट लेना कदापि न्यायसङ्गत नहीं कहा जा सकता। इसका जहाँतक हो सके खूब विरोध करना चाहिये। बहुत जगह तो ऐसा होता है कि स्त्रियाँ अपने सम्बन्धियों के यहाँ—मामा, बहिन आदिके यहाँ—अथवा ससुरालसे नैहर या नैहरसे ससुराल जाने तथा देवालय, तीर्थ आदिमें जानेका बहाना करके इस प्रकारके गुट्टोंमें शामिल हो जाती हैं और इसका परिणाम प्रायः महान् भयङ्कर होता है।

इस प्रकार धर्मकी आड़में जब पाप होने लगता है, आस्तिकता के नामपर नास्तिकताका ताण्डव नृत्य होने लगता है, तब स्वयं भगवान् अथवा उनकी विभूतियाँ धर्म तथा आस्तिकताको शुद्ध रूपमें प्रकट करनेके लिये धर्म एवं आस्तिकताका विरोध तथा अधर्म एवं नास्तिकताका प्रचार करने लगते हैं। आज भी जब कथा-कीर्तनके नामपर जगह-जगह व्यभिचारको आश्रय दिया जाने लगा है, ऐसे समय यदि कोई शुद्ध नीयतसे कथा-कीर्तनका विरोध करे तो वह अनु

नहीं कहा जायगा। क्योंकि वे लोग वास्तवमें कथा-कीर्तनका विरोध नहीं करते बल्कि उसके नामपर होनेवाले पापाचरणका विरोध करते हैं।

ऐसी स्थितिमें देश और समाजका हित चाहनेवाले प्रत्येक व्यक्तिका यह कर्तव्य है कि वह धर्मके नामपर होनेवाले ऐसे पापोंको रोकनेकी पूरी चेष्टा करे। किसी भी बहाने अपने घरकी स्त्रियोंको दूसरोंके यहाँ न जाने दे, तीर्थों और देवालयोंमें तथा अपने विश्वास-पात्रके घर भी अकेले न जाने दे। जो स्त्रियाँ मूर्खतावश ऐसा करती हैं, उन्हें सब प्रकारकी नीतिसे समझानेकी चेष्टा करे। गड्ढेमें गिरते हुए अपने स्वजन-सम्बन्धीको बलपूर्वक बचाना भी कर्तव्य होता है। जिस-किसी प्रकारसे भी हो, उनकी बुद्धिमें इस बातको जँचा देनेकी आवश्यकता है कि स्त्रियोंका स्वतन्त्रतापूर्वक एकत्र होना उनके लिये खतरेसे खाली नहीं है, पतिको छोड़कर किसी भी पुरुषका चरणोदक अथवा उच्छिष्ट लेना पाप है चाहे वह साधु ही क्यों न हो। देश, धर्म और समाजके नेताओं, सुधारकों, महात्माओं तथा देश और समाजकी सेवा करनेवाले उत्साही नवयुवकोंसे मेरी अपील है कि जहाँ कहीं वे इस प्रकारका अत्याचार देखें वहीं वे इसका जोरके साथ विरोध करें। जिस किसी प्रकारसे हो, नारीजातिकी पवित्रताकी रक्षा करना, समाजको पाससे बचाना हमलोगोंका प्रधान कर्तव्य है। सतीत्व ही नारीका भूषण है। याद रखना चाहिये कि सती स्त्रियाँ ही देश और धर्मकी रक्षा करनेवाली वीर एवं धार्मिक सन्तान उत्पन्न कर सकती हैं।

स्त्रियोंका पुरुषोंके साथ स्वतन्त्ररूपसे घूमना, सैर-सपाटेके लिये

बाहर जाना, नाटक-सिनेमा आदिमें जाना, पार्टियोंमें सम्मिलि होना, ताश, चौपड़, शतरंज आदि खेलना, क्लबोंमें जाना, युव अध्यापकोंद्वारा युवती कन्याओंका पढ़ाया जाना, युवक-युवतियों एक साथ पढ़ना आदि तो और भी खतरनाक है । पाश्चात्त्यों देखा-देखी हमारे शिक्षित समाजमें भी धीरे-धीरे स्त्री-पुरुषोंका संग बढ़ता जाता है, जो देशके लिये कभी हितकर नहीं कहा जा सकता पाश्चात्त्य देशोंमें स्त्रियोंको सब प्रकारकी स्वतन्त्रता देनेका जो भयंक दुष्परिणाम दृष्टिगोचर हो रहा है, उससे हमें शिक्षा लेनी चाहि और हम भी उसका कटु अनुभव करें इससे पहले ही हमें चे जानेकी आवश्यकता है । हमलोगोंको चाहिये कि सभी बातों पाश्चात्त्योंका अनुकरण न कर केवल उनके गुणोंको ग्रहण करें इसीमें हमारा कल्याण है। ऐसा न कर यदि हम अंधाधुंध पाश्चात्त्यों का सभी बातोंमें अनुकरण करनेमें ही लगे रहे तो भगवान् जा हमलोगोंकी क्या दुर्दशा होगी, हमलोग पतनके किस गर्तमें गिरेंगे इसलिये बुद्धिमानी इसीमें है कि हमलोग समय रहते चेत जायँ औ अपनी प्राचीन संस्कृतिके महत्त्वको समझकर उसे पुनर्जीवित करनेकी चेष्टा करें ।



सच्ची वीरता

महाराज युधिष्ठिरने शकुनिके द्वारा छलपूर्ण जुएमें हराये जानेपर बारह वर्षतक वनवास और एक वर्ष अज्ञातवासके आपद्धर्मका पालन करनेके अनन्तर धरोहररूपसे रक्खे हुए अपने राज्यको लौटानेके लिये साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णको दूतरूपसे दुर्योधनके पास भेजकर अपनी न्याययुक्त माँग पेश की। भगवान् श्रीकृष्णने नीति और धर्मयुक्त वचनोंके द्वारा दुर्योधनको बहुत समझाया, परन्तु वह कब माननेवाला था। उसने स्पष्ट कह दिया—

यावद्धि तीक्ष्णया सूच्या विध्येदग्रेण केशव।
तावदप्यपरित्याज्यं भूमेर्नः पाण्डवान्प्रति ॥

(महा० उद्योग० १२७। २५)

'हे केशव ! तीखी सूईकी नोकसे भूमिका जितना भाग बिंध सके उतना भी हमें पाण्डवोंके लिये नहीं देना है।'

भगवान् वहाँसे निराश होकर कुन्तीदेवीके पास गये और उन्हें

दुर्योधनकी कही हुई सारी बातें सुनायीं। इन बातोंको सुनकर माता कुन्तीने वीर क्षत्राणी विदुलाका उदाहरण देते हुए युधिष्ठिर, भीम और अर्जुनको वीरतापूर्वक युद्ध करनेका सन्देश भेजा।* माताने युधिष्ठिर आदिको कहलाया—

युध्यस्व राजधर्मेण मा निमज्जीः पितामहान्।
मा गमः क्षीणपुण्यस्त्वं सानुजः पापिकां गतिम्॥

(महा० उद्योग० १३२। ३४)

'[हे कृष्ण! युधिष्ठिरसे कहना कि] तू क्षत्रिय-धर्मके अनुसार युद्ध कर, अपने पितामहोंको नरकमें न डाल तथा अपने भाइयों-सहित पुण्यहीन होकर पापियोंकी गतिको न प्राप्त हो।'

नमो धर्माय महते धर्मो धारयति प्रजाः।
एतद्धनञ्जयो वाच्यो नित्योद्युक्तो वृकोदरः॥
यदर्थं क्षत्रिया सूते तस्य कालोऽयमागतः।
न हि वैरं समासाद्य सीदन्ति पुरुषर्षभाः॥

(महा० उद्योग० १३७। ९-१०)

'मैं महान् (सर्वश्रेष्ठ) धर्मको प्रणाम करती हूँ, क्योंकि वह सब प्रजाको धारण कर रहा है; तुम अर्जुनसे तथा युद्धके लिये नित्य तैयार रहनेवाले भीमसेनसे कहना कि क्षत्राणी अपने पुत्रोंको जिस कामके लिये उत्पन्न करती है, उस कामको पूर्ण करनेका यह समय अब आ पहुँचा है, श्रेष्ठ पुरुष किसीसे वैरभाव होनेपर शिथिल नहीं रहते।'

---

* इसका विस्तार महाभारत उद्योगपर्व अध्याय १३२ से १३७ में है।

माताके उपर्युक्त सन्देशको पाकर युधिष्ठिर आदिको बिना इच्छा भी युद्धमें प्रवृत्त होना पड़ा।

इससे हमें यह उपदेश मिलता है कि यदि कोई हमपर अत्याचार करे तो उसको ठीक रास्तेपर लानेके लिये जहाँतक हो सके उसे प्रेमपूर्वक समझाकर काम लेना चाहिये। इसपर भी न समझे तो उसका स्वार्थ दिखलाकर दाननीतिसे काम लेना चाहिये। यदि इस नीतिसे भी काम न चले और हमें दण्डनीतिसे काम लेना पड़े तो संसारके हितकी दृष्टि रखकर वैसा बर्ताव करना चाहिये। बिना दण्डनीतिका प्रयोग किये यदि संसारका भारी अहित होता हो तो ऐसी परिस्थितिमें दण्डनीतिका प्रयोग न करना नीतिमान् पुरुषकेलिये दया नहीं, अपितु कायरता है। जिस समय दोनों सेनाओंके बन्धु-बान्धवोंको देखकर युद्ध न करनेकी इच्छा प्रकट करते हुए अर्जुनने यह कहा कि—

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते॥
निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः॥

(गीता १। ३५-३६)

'हे मधुसूदन! मुझे मारनेपर भी अथवा तीनों लोकोंके राज्यके लिये भी मैं इन सबको मारना नहीं चाहता; फिर पृथ्वीके लिये तो कहना ही क्या है? हे जनार्दन! धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारकर हमें क्या प्रसन्नता होगी? इन आततायियोंको मारकर तो हमें पाप ही लगेगा।'

—उस समय इसके उत्तरमें भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके इस भावको कायरतापूर्ण बतलाकर उसे युद्धमें प्रवृत्त होनेकी आज्ञा दी। श्रीभगवान् बोले—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥
क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप॥

(गीता २। २-३)

'हे अर्जुन! तुझे इस असमयमें यह मोह किस हेतुसे प्राप्त हुआ? क्योंकि न तो यह श्रेष्ठ पुरुषोंद्वारा आचरित है, न स्वर्गको देनेवाला है और न कीर्तिको करनेवाला ही है। इसलिये हे अर्जुन! नपुंसकताको मत प्राप्त हो, तुझमें यह उचित नहीं जान पड़ती। हे परन्तप! हृदयकी तुच्छ दुर्बलताको त्यागकर युद्धके लिये खड़ा हो जा।'

अतएव गीताके इस आशयको समझकर ऐसे मौकेपर धीरता और गम्भीरतापूर्वक वीरताको काममें लाना चाहिये।

पूर्वापरके परिणामको बिना सोचे-समझे द्वेषपूर्ण बुद्धिसे, क्रोधके आवेशमें आकर मन, वाणी और शरीरके द्वारा किसीका किसी प्रकार भी अहित करना, वीरता नहीं है, वह तो उद्दण्डतापूर्ण हिंसा है। इसलिये जहाँ कोई अपने या दूसरे किसीपर अत्याचार करता हो उस मौकेपर उस अत्याचारका प्रतीकार करनेके लिये बहुत धैर्यके साथ पूर्वापरको सोचकर काम करना चाहिये। जैसे पाण्डवोंके राजसूय-यज्ञमें जब शिशुपाल भगवान् श्रीकृष्णकी अग्रपूजाके

क्षुब्ध होकर अनेक प्रकारके न कहने योग्य दुर्वचन कहने लगा तो भगवान् श्रीकृष्णने धीरतासे उनको सहन करते हुए विचारपूर्वक निर्भयताके साथ सभासदोंसे कहा कि यह शिशुपाल अनुचित कर रहा है। इसपर वह दुष्ट हँसकर भगवान्‌का तिरस्कार करता हुआ और भी बकने लगा। जब उसके अत्याचारकी मात्रा अत्यन्त बढ़ गयी तो भगवान्‌को उसे दण्ड देना पड़ा। यह धीरता और गम्भीरतासे युक्त वीरताका निदर्शन है।* अतएव अहंकार, आसक्ति, ममता और स्वार्थको त्यागकर लोक-हितके लिये कर्तव्यबुद्धिसे किसीको जानसे मार डालना भी वास्तवमें हिंसा नहीं है। गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते॥
हत्वापि स इमाँल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते॥
(१८। १७)

'जिस पुरुषके अन्तःकरणमें 'मैं करता हूँ' ऐसा भाव नहीं है तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थोंमें और कर्मोंमें लिपायमान नहीं होती, वह पुरुष इन सब लोकोंको मारकर भी वास्तवमें न तो मारता है और न पापसे बँधता है।'

इसलिये मनुष्योंको उचित है कि यदि कहीं किसी स्त्री, बालक, अनाथ, दीन, दुखी और निर्बल प्राणीपर कोई बलवान् किसी प्रकारका भी अत्याचार करता हो तो उस अत्याचारको

---

* महाभारत सभापर्व अध्याय ३७ से ४५ तक इसका विस्तृत वर्णन है।

मिटानेके लिये साम और दानसे काम न चलनेपर अहंकार, स्व और आसक्तिको त्यागकर दण्डका प्रयोग करना चाहिये। ऐ परिस्थितिमें पड़नेपर यदि प्राणोंका भी नाश हो जाय तो उ कल्याण ही है। यदि कोई हमारे साथ भी अत्याचार करे उससे हमारी या किसीकी हानि होती हो तो उस समय राग- रहित होकर आत्मरक्षाके लिये उसका प्रतीकार करना कोई प नहीं है। भगवान् श्रीकृष्ण गीतामें कहते हैं—

> सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
> ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥
>
> (२। ३८)

'जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःख समान समझ उसके बाद युद्धके लिये तैयार हो जा। इस प्रकार युद्ध करनेसे पापको नहीं प्राप्त होगा।'

यदि कोई आदमी किसी विधर्मीद्वारा धर्मत्यागके लिये दबा जाय तो उस स्थानपर धर्मकी रक्षाके लिये अपना प्राण भले ही त्या दे पर धर्मका त्याग न करे; इसीमें कल्याण है। गीतामें भगवा कहा है—

> स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥
>
> (३। ३५)

'अपने धर्ममें मरना भी कल्याणकारक है, पर दूसरेका धर्म भय देनेवाला है।'

जो देहात्मवादी अज्ञलोग शरीरको ही आत्मा मानते हैं अर्थात् शरीरके नाशसे आत्माका मरना मानते हैं, वे लोग ही अनुचित आक्रमणका सामना करनेमें काँपने लग जाते हैं, और वीरतापूर्वक प्रतीकार नहीं कर सकते; किन्तु जिन्होंने श्रीमद्भगवद्गीताका अध्ययन करके आत्मतत्त्वका रहस्य जान लिया है, वे शरीरके नाशसे आत्माका विनाश नहीं मानते। भगवान्‌ने गीतामें यह सिद्धान्त बतलाया है कि जो सत् वस्तु है, उसका विनाश नहीं होता और मिथ्या वस्तु कायम नहीं रहती। इस सिद्धान्तके अनुसार अकर्ता, निर्विकारी चेतन आत्माको नित्य और अविनाशी होनेसे सत् बतलाया गया है और नाशवान् क्षणभङ्गुर विकाररूप इस जड देहको अनित्य होनेसे असत् बतलाया गया है।*

इसलिये वे आत्मतत्त्वको जाननेवाले मृत्युसे निर्भय होकर धीरता और गम्भीरतापूर्वक वीरताके द्वारा अत्याचारोंका अन्त कर डालते हैं।

वास्तवमें तो यदि कोई किसीपर अत्याचार करता है तो वह अत्याचार स्वयं ही उस अत्याचारीका विनाश कर डालता है। जैसे प्रह्लादपर किये गये अत्याचारने हिरण्यकशिपुका, दमयन्तीपर किये गये अत्याचारने व्याधका, सीतापर किये गये अत्याचारने रावणका, शचीपर किये गये अत्याचारने राजा नहुषका, वसुदेव-देवकी और उनके पुत्रोंपर किये गये अत्याचारोंने कंसका, द्रौपदीपर किये गये

* यह सिद्धान्त श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय २ श्लोक ११ से ३० तक विस्तारसे समझाया गया है।

अत्याचारने दुर्योधन, दुःशासन और जयद्रथादिका, ईसापर किये अत्याचारोंने यहूदियोंके शासनका और गुरु गोविन्दसिंहके लड़कों किये गये अत्याचारने मुगलशासनका विनाश कर डाला।

इसी प्रकारके और भी बहुत-से उदाहरण हैं। यद्यपि अत्याचार स्वयं ही अत्याचारीका नाश कर डालता है, किन्तु जिसपर अत्याचार होता है वह भी यदि आत्मरक्षाके लिये प्रत्याक्रमण करे तो कोई दोष नहीं है, इसलिये सब कुछ भगवान्‌की लीला समझकर निरन्तर भगवान्‌का स्मरण रखते हुए भगवान्‌की प्रीतिके लिये ही यह सब करना चाहिये। जो मनुष्य इस प्रकार भगवान्‌में मन-बुद्धि लगाकर भगवान्‌को निरन्तर याद रखता हुआ भगवान्‌की आज्ञानुसार कर्तव्यकर्मका आचरण करता है, वह भगवान्‌को प्राप्त होता है।

भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥

(गीता ८।७)

'इसलिये हे अर्जुन! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निःसन्देह मुझको ही प्राप्त होगा।'

समाजके कुछ त्याग करने योग्य दोष

भली और बुरी—दोनों ही बातें समाजमें रहती हैं। कभी भली बढ़ती हैं तो कभी बुरी। परिवर्तन होता ही रहता है। यह ठीक नहीं कि पुरानी सभी बातें बुरी ही होती हैं अथवा नयी सभी बातें अच्छी ही होती हैं। अच्छी-बुरी दोनोंमें ही हैं। मनुष्यको विवेक-विचार तथा साहसके साथ बुरीका त्याग और अच्छीका ग्रहण करना चाहिये। जो मनुष्य मिथ्या आग्रहसे किसी बातपर अड़ जाता है, उसका विकास नहीं होता। यही हाल समाजका है। हमारे हिंदू-समाजमें भी अच्छी-बुरी बातें हैं—जो अच्छी हैं उनके सम्बन्धमें तो कुछ कहना नहीं है। जो बुरी हैं—फिर चाहे वे नयी हों या पुरानी—उन्हींपर विचार करना है। यहाँ संक्षेपमें कुछ ऐसी बुराइयोंपर विचार किया जाता है जिनका त्याग समाजके लिये आध्यात्मिक, धार्मिक, नैतिक और आर्थिक सभी दृष्टियोंसे परम आवश्यक है।

रहन-सहन

समय, वातावरण तथा स्थितिके अनुसार रहन-सहनमें परिवर्तन तो होता ही है, परन्तु ऐसी कोई बात नहीं होनी चाहिये जो घातक हो। इस समय हम देखते हैं कि समाजका रहन-सहन बहुत तीव्र

गतिसे पाश्चात्त्य ढंगका होता चला जा रहा है। पाश्चात्त्य रहन-
बहुत अधिक खर्चीला होनेसे हमारे लिये आर्थिक दृष्टिसे तो घात
ही, हमारी सभ्यता और सदाचारके विरुद्ध होनेसे आध्यात्मिक
नैतिक पतनका भी हेतु है। उदाहरणके लिये—जूता पहने
घूमना, एक साथ बैठकर खाना, खानेमें काँटे-छुरीका उपयोग क
टेबल-कुर्सियोंपर बैठकर खाना। जूतियोंके कई जोड़े रखना।
चर्बीमिश्रित साबुन लगाना, खाने-पीनेकी चीजोंमें संयम न रख
भोजन करके कुल्ले न करना, मल-मूत्र-त्यागके बाद मिट्टीके
साबुनसे हाथ धोना या बिल्कुल ही न धोना। फैशनके पीछे
रहना। बहुत अधिक कपड़ोंका संग्रह करना, बार-बार
बदलना आदि-आदि। इन सबका त्याग होना आवश्यक है

खान-पान

खान-पानकी पवित्रता और संयम—आर्य जातिके
जीवनका प्रधान अङ्ग है। आज इसपर बहुत ही कम ध्यान
जाता है। रेलोंमें देखिये—हर किसीका जूठा सोडावाटर, लेमन
और जूठा भोजन खाना आमतौरपर चलता है। इसमें अपवित्र
है ही, एक दूसरेकी बीमारीके और गंदे विचारोंके परमाणु एक
के अंदर प्रवेश कर जाते हैं। होटल, हलवाईकी दूकान या चाट
खोंचेके सामने जूते पहने खड़े-खड़े खाना, हर किसीके हाथ
लेना, मांस-मद्यका आहार करना, लहसुन-प्याज, अण्डे
बिस्कुट, बाजारू चाय, तरह-तरहके पानी, अपवित्र आइस
और बरफ आदि चीजें खाने-पीनेमें आज बहुत ही कम हि
गयी है। शोककी बात है कि निरामिषभोजी जाति

डाक्टरी दवाओंके द्वारा और होटलों तथा पार्टियोंके संसर्गदोषसे अण्डे और मांस-मद्यका प्रचार हो रहा है। मांसमें प्रत्यक्ष हिंसा होती है। मांसाहारियोंकी बुद्धि तामसी हो जाती है और स्वभाव क्रूर बन जाता है। नाना प्रकारके रोग तो होते ही हैं।

इसी प्रकार आजकल बाजारकी मिठाइयोंमें भी बड़ा अनर्थ होने लगा है। असली घी तो मिलना मुश्किल है ही। वेजिटेबल नकली घी भी असली नहीं मिलता, उसमें भी मिलावट शुरू हो गयी। मावा, बेसन, मैदा, चीनी, आटा, मसाले, तैल आदि चीजें भी शुद्ध नहीं मिलतीं। हलवाई लोग तो दो पैसेके लोभसे नकली चीजें बरतते ही हैं। समाज-के स्वास्थ्यका ध्यान न दूकानदारोंको है, न हलवाइयोंको। होता भी कैसे? जब बुरा बतलानेवाले ही बुरी चीजोंका लोभवश प्रसार करते हैं, तब बुरी बातोंसे कोई कैसे परहेज रख सकता है? आज तो लोग आप ही अपनी हानि करनेको तैयार हैं। यही तो मोहकी महिमा है।

अन्यायसे कमाये हुए पैसोंका, अपवित्र तामसी वस्तुओंसे बना हुआ, अपवित्र हाथोंसे बनाया और परोसा हुआ, अपवित्र स्थानमें रखा हुआ, हिंसा और मादकतासे युक्त, विशेष खर्चीला, अस्वा-स्थ्यकर पदार्थोंसे युक्त, सड़ा हुआ, व्यसनरूप, अपवित्र और उच्छिष्ट भोजन धर्म, बुद्धि, धन, हिंदू-सभ्यता और स्वास्थ्य सभीके लिये हानि-कर होता है। इस विषयपर सबको विशेषरूपसे ध्यान देना चाहिये।

वेष-भूषा

वेष-भूषा सादा, कम खर्चीला, सुरुचि उत्पन्न करनेवाला, पवित्र और संयम बढ़ानेवाला होना चाहिये। आजकल ज्यों-ज्यों फैशन बढ़ रहा है, त्यों-ही-त्यों खर्च भी बढ़ रहा है। सादा मोटा वस्त्र किसीको

पसंद नहीं। जो खादी पहनते हैं, उनमें भी एक तरहकी व
आने लगी है। वस्त्रोंमें पवित्रता होनी चाहिये। विदेशी और
के बने वस्त्रोंमें चर्बीकी माँड लगती है, यह बात सभी जानते
देशकी हाथकी कारीगरी मिलोंकी प्रतियोगितामें नष्ट होती है।
गरीब मारे जाते हैं, इसलिये मिलके बने वस्त्र नहीं पहनने चा
विदेशी वस्त्रोंका व्यवहार तो देशकी दरिद्रताका प्रधान का
ही। रेशमी वस्त्र जीवित कीड़ोंको उबालकर उनसे निकाले हुए
बनता है, वह भी अपवित्र और हिंसायुक्त है। वस्त्रोंमें सबसे
हाथसे काते हुए सूतकी हाथसे बनी खादी है। परन्तु इस
फैशन नहीं आना चाहिये। खादी हमारे संयम और स्वल्प
लिये है—फैशन और फिजूलखर्चीके लिये नहीं। खादीमें फैशन
फिजूलखर्ची आ जायगी तो इसमें भी अपवित्रता आ जा
मिलके बने हुए वस्त्रोंकी अपेक्षा तो मिलके सूतसे हाथ-करघे
वस्त्र उत्तम हैं, क्योंकि उसके बुनाईके पैसे गरीबोंके घर
हैं। और उसमें चर्बी भी नहीं लगती।

स्त्रियोंके गहनोंमें भी फैशनका जोर है। आजकल असली
के सादे गहने प्रायः नहीं बनाये जाते। हल्के सोनेके और मों
फैशनेबल गहने बनाये जाते हैं, जिनमें मजदूरी ज्यादा ल
बनवाते समय मिलावटका अधिक डर रहता है और जरूरत
बेचनेके समय बहुत ही कम कीमत मिलती है। पहले स्त्रियों
ठोस सोनेके होते थे, जो विपत्तिके समय काम आते थे। अब
प्रायः चली गयी। इसी प्रकार कपड़ोंमें फैशन आ जानेसे
बनते हैं, जो पुराने होनेपर किसी काम नहीं आते और

लगी हुई जरी, सितारे, कलाबत्तू आदिके ही विशेष दाम मिलते हैं। ऐसे कपड़ोंके बनवानेमें जो अपार समय और धन व्यर्थ जाता है सो तो जाता ही है।

नये पढ़े-लिखे बाबुओं और लड़कियोंमें तो इतना फैशन आ गया है कि वे खर्चके मारे तंग रहनेपर भी वेष-भूषामें खर्च कम नहीं कर सकते। साथ ही शरीरकी सजावट और सौन्दर्य-वृद्धिकी चीजें—साबुन,तेल, फुलेल, इत्र, एसेन्स, क्रीम, लवेन्डर, सेण्ट,पाउडर आदि इतने बरते जाने लगे हैं और उनमें एक-एक व्यक्तिके पीछे इतने पैसे लगते हैं कि उतने पैसोंसे एक गरीब गृहस्थीका काम चल सकता है। इन चीजोंके व्यवहारसे आदत बिगड़ती है, अपवित्रता आती है और स्वास्थ्य भी बिगड़ता ही है। धर्मकी दृष्टिसे तो ये सब चीजें त्याज्य हैं ही। एक बात और है, सौन्दर्यकी भावनामें छिपी काम-भावना रहती है। जो स्त्री-पुरुष अपनेको सुन्दर दिखलाना चाहते हैं वे कामभावनाका विस्तार करके बल, बुद्धि और वीर्यके नाशद्वारा अपना और समाजका बड़ा अपकार करते हैं।

रस्म-रिवाज

रस्म-रिवाजोंमें सुधार चाहनेवाली सभाओंके द्वारा जहाँ एक ओर एक बुरी प्रथा मिटती है तो उसकी जगह दो दूसरी नयी आ जाती हैं। जबतक हमारा मन नहीं सुधर जाता तबतक सभाओंके प्रस्तावों-से कुछ भी नहीं हो सकता। खर्च घटानेके लिये सभाओंमें बड़ी पुकार मची। खर्च कुछ घटा भी, परन्तु नये-नये इतने रिवाज बढ़ गये कि खर्चकी रकम पहलेकी अपेक्षा बहुत अधिक बढ़ गयी। दहेजकी प्रथा बड़ी भयङ्कर है, इस बातको सभी मानते हैं। धारा-

सभाओंमें इस प्रथाको बंद करनेके लिये बिल भी पेश होते हैं। चारों ओरसे पुकार भी काफी होती है, परन्तु यह प्रथा ज्यों-की-त्यों—नहीं-नहीं—बढ़े हुए रूपमें वर्तमान है और इसका विस्तार अभी जरा भी रुका नहीं है। साधारण स्थितिके गृहस्थके लिये तो एक कन्याका विवाह करना मृत्युकी पीड़ा भोगनेके बराबर-सा है। आजकल मोल-तौल होते हैं। दहेजका इकरार तो पहले हो चुकता है, तब कहीं सम्बन्ध होता है और पूरा दहेज न मिलनेपर सम्बन्ध तोड़ दिया जाता है। दहेजके दुःखसे व्यथित माता-पिताओंकी मानसिक पीड़ाको देखकर बहुत-सी सहृदया कुमारियोंने आत्महत्या करके समाजके इस बूचड़खानेपर अपनी बलियाँ चढ़ा दी हैं। इतना होनेपर भी यह पाप अभी बढ़ता ही जा रहा है। सुना था—दहेजके डरसे राजपूतोंमें कन्याओंको जीते-जी मार दिया जाता था। अब भी बहुत-से समाजोंमें जो कन्याका तिरस्कार होता है, उसके जीवनका मूल्य नहीं समझा जाता, बीमार होनेपर उसका उचित इलाज नहीं कराया जाता; यहाँतक कि कन्याका जन्म होते ही कई माता-पिता तो रोने लगते हैं, दहेजकी पीड़ा ही इसका एक प्रधान कारण है। इस समय ऐसे धर्मभीरु साहसी सज्जनोंकी आवश्यकता है जो लोभ छोड़कर अपने लड़कोंके विवाहमें दहेज लेनेसे इन्कार कर दें, या कम-से-कम लें। लड़केवालोंके स्वार्थत्यागसे ही यह पाप रुकेगा। अन्यथा यदि यह चलता रहा तो समाजकी बड़ी ही भीषण स्थिति होनी सम्भव है।

विवाह वगैरहमें शास्त्रीय प्रसङ्गोंको कायम रखते हुए जहाँतक हो सके कम-से-कम रस्में रहनी चाहिये और वे भी ऐसी, जो सुरुचि और सदाचार उत्पन्न करनेवाली हों, कम खर्चकी हों और ऐसी हों

जो साधारण गृहस्थोंके द्वारा भी आसानीसे सम्पन्न की जा सकें। अवश्य देनेके वस्त्र और अलङ्कार भी ऐसे हों, जिनमें व्यर्थ धनव्यय न हुआ हो; सौ रुपयेकी चीज, किसी भी समय अस्सी-नब्वे रुपये कीमत तो दे ही दे। दस-बीस प्रतिशतसे अधिक घाटा हो, ऐसा गहना चढ़ाना तो जान-बूझकर अभाव और दुःखको निमन्त्रण देना है। इसके साथ ही संख्यामें भी चीजें ज्यादा न हों और फैशनसे बची हुई हों।

विवाह आदिमें वेश्याओंके नाच, फुलवाड़ी, आतिशबाजी, भडुओंके स्वाँग, गंदे मजाक, स्त्रियोंके गंदे गाने, सिनेमा, नाटक, जुआ, शराब आदि तो सर्वथा बंद होने ही चाहिये—जहाँतक हो गाँजा, भाँग, सिगरेट, तम्बाकू, बीड़ी आदि मादक वस्तुओंकी तथा सोडावाटर बर्फकी मेहमानदारी भी नहीं होनी चाहिये। बरातियोंकी संख्या थोड़ी होनी चाहिये और उनके स्वागतमें कम-से-कम खर्च हो, सादगी और सदाचारकी रक्षा हो, ऐस प्रयत्न स्वयं बरातियोंको करना चाहिये। लड़कीवालेके घर जाकर उससे अनाप-शनाप माँग करना और न मिलनेपर नाराज होना तो एक तरहका कमीनापन है।

गुजरात और महाराष्ट्रमें विवाहके अवसरपर हरिकीर्तनकी बड़ी सुन्दर प्रथा है। हरिकीर्तनमें एक कीर्तनकार होते हैं, जो किसी भक्तचरित्रको गा-गाकर सुनाते हैं—बीच-बीचमें नाम-कीर्तन भी होता रहता है। सुन्दर मधुर स्वरके वाद्योंका सहयोग होनेसे कीर्तन सभीके लिये रुचिकर और मनोरञ्जक भी होता है और उससे बहुत अच्छी शिक्षा भी मिलती है। उत्तर और पश्चिम भारतके धनी लोग उपर्युक्त कुप्रथाओंको छोड़कर इस प्रथाको अपनावें तो बड़ा अच्छा है।

लड़कियोंके विवाह भी आजकल बहुत बड़ी उम्रमें होने लगे हैं। बाल-विवाहसे बड़ी हानि हुई है; परन्तु लड़कीको युवती बनाकर विवाह करना बहुत हानिकारक है। शास्त्रीय मर्यादाके अनुसार रजोदर्शन होनेके बाद विवाह करना अधर्म तो है ही, आजकलके बिगड़े हुए समाजमें तबतक चरित्रका पवित्र रहना भी असम्भव-सा ही है। युवती-विवाहके कारण कुमारी अवस्थामें आजकल व्यभिचारकी मात्रा जिस तीव्र गतिसे बढ़ रही है, उसे देखते भविष्य बहुत ही भयानक मालूम होता है। यही हाल स्कूली लड़कोंका है। अतएव लड़कीका विवाह रजोदर्शनसे पूर्व और लड़केका अठारह वर्षकी आयुतकमें कर देना उचित जान पड़ता है। अवश्य ही स्त्री-पुरुषका संयोग तो स्त्रीके रजोदर्शनके बाद ही होना चाहिये। नहीं तो धर्मकी हानिके अतिरिक्त स्त्रियोंके हिस्टीरिया, क्षय (तपेदिक) और प्रदर आदिकी भयङ्कर बीमारियाँ होकर उनका जीवन नष्टप्राय हो जाता है।

घरमें किसीकी मृत्यु हो जानेपर श्राद्धभोज और बन्धुभोजकी प्राचीन प्रथा है। यह वास्तवमें कोई दूषित प्रथा नहीं है, परन्तु निर्दोष प्रथा भी जब देश, काल और पात्रके अनुकूल नहीं होती तो वह दूषित हो जाती है। जिस समय खाद्य पदार्थ बहुत सस्ते थे और गृहस्थके दूसरे खर्च कम थे, उस समयकी बात दूसरी थी। अब तो बहुधा यह देखा जाता है कि इस प्रथाकी रक्षाके लिये ब्राह्मण-भोजन और बन्धुभोजनमें साधारण मध्यवित्त गृहस्थोंके स्त्री-धन और घर-मकान तथा जगह-जमीनतक बिक जाते हैं। परिणाम यह होता है कि पूरे परिवारमें सभी लोगोंके जीवन दुःखपूर्ण हो

जाते हैं । इस प्रथामें शास्त्रोक्त ब्राह्मण-भोजन तो अवश्य कराना चाहिये, परन्तु कुटुम्बियोंको छोड़कर बन्धु-भोजनकी कोई आवश्यकता नहीं है ।

विवाह और औसर आदिपर दूर देशसे कुटुम्बियोंका जो आना-जाना है इसकी भी कमी करनी चाहिये; क्योंकि इसमें भी विशेष धन व्यय होता है तथा लोगोंको जाने-आनेमें हैरानी भी बहुत होती है ।

बड़े शहरोंमें बड़े आदमियोंके यहाँ विवाहोंमें आजकल बिजली-का खर्च, मेहमानदारीका खर्च और ऊपरी आडंबरका खर्च इतना बढ़ गया है कि गरीब गृहस्थोंके यहाँ उतने खर्चमें कई विवाह हो सकते हैं । मान-सम्मान, कीर्ति और पोजीशनका मिथ्या मोह, मूढ़ता और हठधर्मी ही इन सारे रस्म-रिवाजोंके चलते रहनेमें प्रधान कारण है । अतएव इन सबको छोड़कर साहसके साथ ऐसे रस्मोंको त्याग देना चाहिये ।

चरित्रगठन और स्वास्थ्य

असंयम, अमर्यादित खान-पान और गंदे साहित्य आदिके कारण समाजके चरित्र और स्वास्थ्यका बुरी तरहसे ह्रास हो रहा है। बीड़ी-सिगरेट पीना, दिनभर पान खाते रहना, दिनमें पाँच-सात बार चाय पीना, भाँग, तम्बाकू, गाँजा, चरस आदिका व्यवहार करना, उत्तेजक पदार्थोंका सेवन करना, विज्ञापनी बाजीकरण दवाएँ खाना, मिर्च-मसाले, चाट तथा मिठाइयाँ खाना, कुरुचि उत्पन्न करनेवाली गंदी कहानियों और उपन्यास-नाटकोंका पढ़ना, शृङ्गारके काव्य और कोकशास्त्रादिके नामसे प्रचलित पुस्तकोंको पढ़ना, गंदे समाचार-पत्र पढ़ना, अश्लील चित्रोंको देखना, पुरुषोंका स्त्रियोंमें और स्त्रियोंका

पुरुषोंमें अमर्यादित जाना-आना, सिनेमा देखना, शृङ्गारी गाने सुनना और प्रमादी, विषयी, व्यभिचारी तथा नास्तिक पुरुषोंका सङ्ग करना आदि कई दोष समाजमें आ गये हैं। कुछ पुराने हैं, कुछ नये—सभ्यताके नामपर—आ घुसे हैं जो समाजरूप शरीरमें घुनकी तरह लगकर उसका सर्वनाश कर रहे हैं। कामसम्बन्धी साहित्य पढ़ना, शृङ्गाररसके काव्यों तथा नाटक-उपन्यासोंका अध्ययन करना, सिनेमा देखना, सिनेमामें युवक-युवतियोंका शृङ्गारके अभिनय करना और निःसङ्कोच एक साथ रहना तो आजकल सभ्यताका एक निर्दोष अङ्ग माना जाता है। कलाके नामपर कितना भी अनर्थ हो जाय, सभी क्षम्य है!

लड़कपनसे ही बालक-बालिकाओंका फैशनसे रहना, चरित्रहीन नौकर-नौकरानियोंके संसर्गमें रहना, शृङ्गारकी पुस्तकें पढ़ना, शृङ्गार करना, सिनेमा देखना, स्कूल-कालेजमें लड़के-लड़कियोंका एक साथ पढ़ना, कालेज-जीवनमें असंयमपूर्ण छात्रावासोंमें रहना आदि बातें चरित्रनाशमें प्रधान कारण होती हैं और आजके युगमें इन्हींका विस्तार देखा जाता है। दुःख तो यह है कि ऐसा करना आज समाजकी उन्नतिके लक्षणोंके अन्तर्गत आ गया है।

रात-रातभर जागना; प्रातःकालसे लेकर दिनके नौ-दस बजे तक सोना, चाहे सो खाना, ऐश-आरामकी सामग्रियाँ जुटाने और उनके उपभोग करनेमें ही लगे रहना, विलासिता और अमीरीको जीवनका अङ्ग मानना, भद्दी-भद्दी दिल्लगियाँ करना, केशों और जूतोंको सजानेमें ही घंटों बिता देना, दाँतोंसे नख छीलते रहना, ईश्वर और धर्मका मखौल उड़ाना, संत-महात्माओंकी निन्दा करना, शास्त्रों और

शास्त्रनिर्माता ऋषि-मुनियोंका अनादर करना, सन्ध्या-प्रार्थना करनेका नाम भी न लेना, माता-पिताको कभी भूलकर भी प्रणाम न करना, केवल शरीरका आराम चाहना, मेहनतका काम करनेसे जी चुराना और लजाना, थोड़ी देरमें हो जाने लायक काममें अधिक समय बिता देना, कर्तव्यकर्ममें आलस्य करना और व्यर्थके कामोंमें समय नष्ट कर देना आदि दोष जहाँ समाजमें फैल रहे हों वहाँ चरित्र-निर्माण, स्वास्थ्य-लाभ, धर्म और आत्मोन्नतिकी सम्भावना कैसे हो सकती है ? इन सब दोषोंको छोड़कर समाज संयम और सदाचारके पथपर चले इसके लिये सबको प्रयत्न करना चाहिये। इन बातोंके दोष बतलाने चाहिये और स्वयं वैसा आचरण करके आदर्श स्थापित करना चाहिये। केवल वाणीसे कहना छोड़कर यदि लोग स्वयं करना शुरू कर दें तो बहुत जल्दी कामयाबी हो सकती है।

कुविचारोंका प्रचार

ईश्वर नहीं है, ईश्वरको मानना ढोंग है, ईश्वरभक्ति मूर्खता है, शास्त्र और पुराणोंके रचयिता दम्भ और पाखण्डके प्रचारक थे, मुक्ति या भगवत्प्राप्ति केवल कल्पना है, खान-पानमें छुआछूत और किसी नियमकी आवश्यकता नहीं, वर्णभेद जन्म और कर्मसे नहीं, केवल कर्मसे है; शास्त्र न माननेमें कोई हानि नहीं है, पूर्वपुरुष आजके समान उन्नत नहीं थे, जगत्‌की क्रमशः उन्नति हो रही है, अवतार उन्नत विचारके महात्माओंका ही नामान्तर है, माता-पिताकी आज्ञा मानना आवश्यक नहीं है, स्त्रीको पतिके त्यागका और नवीन पति-निर्वाचनका अधिकार होना चाहिये, स्त्री-पुरुषोंका सभी क्षेत्रोंमें समान कार्य होना चाहिये, परलोक और पुनर्जन्म किसने देखे हैं, पाप-पुण्य

और नरक-स्वर्गादि केवल कल्पना हैं, ऋषि-मुनिगण स्वार्थी
ब्राह्मणोंने स्वार्थसाधनके निमित्त ही ग्रन्थोंकी रचना की, पुरुषजाति
स्त्रियोंको पददलित बनाये रखनेके लिये ही पातिव्रत और सतीत्व
महिमा गायी, देवतावाद कल्पना है, उच्च वर्णोंने नीच वर्णोंके सा
सदा अत्याचार ही किया, विवाहके पूर्व लड़के-लड़कियोंका अश्ली
रहन-सहन व्यभिचार नहीं है, सबको अपने मनके अनुसार सब कु
करनेका अधिकार है—आदि, ऐसी-ऐसी बातें आजकल इस ढं
फैलायी जा रही हैं कि भोले-भाले नर-नारी ईश्वरमें अविश्वासी होक
धर्म, कर्म और सदाचारका त्याग कर रहे हैं। इस ओर स
विचारशील पुरुषोंको ध्यान देना चाहिये।

बहम और मिथ्या विश्वास

इसीके साथ-साथ यह भी सत्य है कि समाजमें अभीतक ना
प्रकारके मिथ्या विश्वास और बहम फैले हुए हैं। भूत-प्रेत योनि है
परन्तु बहमी नर-नारी तो बात-बातमें भूत-प्रेतकी आशंका कर
हैं—हिस्टीरियाकी बीमारी हुई तो प्रेत-बाधा, मृगी या उन्माद हो ग
तो प्रेतका सन्देह और न मालूम कहाँ-कहाँ बहम भरे हैं। इसीलि
ठग और धूर्तलोग—झाड़-फूँक, टोना, जादू, जन्त्र और तन्त्र-मन्त्र
नामपर—नाना प्रकारसे लोगोंको ठगते हैं। पीरपूजा, कब्रपूजा
ताजियोंके नीचेसे बच्चोंको निकालना, गाजीमियाँकी मनौती आदि
पाखण्ड इसी बहमके आधारपर चल रहे हैं। इन मिथ्या विश्वासों
हटानेके लिये भी समाजके समझदार लोगोंको प्रयत्न करना चाहिये

व्यवहार-बर्ताव

प्रायः मालिक लोग नेक नौकरों और मजदूरोंके साथ भी अच्छ

व्यवहार नहीं करते। उन्हें पेट भरने लायक वेतन नहीं देते, बात-बातपर अपमान और तिरस्कार करते हैं। नौकर और मजदूर भले मालिकोंको भी कोसते और उनका बुरा चाहते हैं। भाई अपने भाईके साथ दुर्व्यवहार करते हैं। पिता पुत्रके साथ अच्छा बर्ताव नहीं करता। पुत्र माता-पिताका अपमान करता है। सास अपनी पुत्रवधूको गालियाँ बकती है तो अधिकारारूढ पुत्रवधू अपनी सासको कष्ट पहुँचाती है। ननद-भौजाईमें कलह रहती है। माता अपनी ही सन्तान—पुत्र और कन्याके साथ भेदयुक्त बर्ताव करती है। जमींदार किसानोंको लूट लेना चाहते हैं, किसान जमींदारोंका बुरा ताकते हैं। राजा अपनी प्रजाका मान, धन और अधिकार छीननेपर उतारू है तो प्रजा राजाका सर्वस्वान्त देखना चाहती है। ब्राह्मण शूद्रोंका अपमान करते हैं तो शूद्र ब्राह्मणोंको कोसते हैं। पड़ोसी-पड़ोसीमें भी दुर्व्यवहार और कलह है। जगत्में इस दुर्व्यवहार और कलहके कारण दुःखका प्रवाह बह चला है। प्रायः सभी एक दूसरेसे शंकित और भीत हैं, यह दशा वस्तुतः बड़ी ही भयावनी है। इसपर भी विशेष विचार करके इसका सुधार करना चाहिये।

व्यापारके नामपर जूआ

जीवन अधिक खर्चीला तथा आडम्बरपूर्ण हो जानेसे धनकी लालसा समाजमें बहुत बढ़ गयी। धन एक साथ प्रचुर मात्रामें प्राप्त होनेके लिये सट्टा (Speculation) ही एकमात्र साधन सूझता है, इसीसे आजकल रूई, पाट, हैसियन, सोना, चाँदी आदि पदार्थोंका सट्टा-फाटका खूब चलता है। माल डिलेवर न लेकर जहाँ केवल भाव पटाया जाता हो, वह सब एक प्रकारका जूआ ही है। वर्षाका

सौदा, आँकफरक (आखर, दड़ा) लगाना-खाना, बाजी लगाकर ताास, चौपड़, शतरंज आदि खेलना, घुड़दौड़पर बाजी लगाना, लाटरी डालना, चिट्ठी-खेला करना आदि जूए तो प्रसिद्ध ही हैं। इस व्यसनमें पड़कर लोग बरबाद हो जाते हैं। घाटा लगनेपर बाप-दादों की जगह-जमीन, घर, स्त्रियोंके गहने आदि चीजें बंधक रखकर तबाह हो जाते हैं और रात-दिन चिन्ताके मारे जलते रहते हैं। कहीं-कहीं तो आत्महत्यातक कर बैठते हैं। नफा होनेपर व्यर्थका प्रमाद, भोग, आलस्य, अकर्मण्यता और व्यर्थ खर्च आदि बढ़कर पतनके कारण बन जाते हैं। इस व्यसनकी अधिकता बुद्धि, स्वास्थ्य, समाज और धर्मके लिये भी घातक होती है। बड़े-बड़े लोग इसके फेरमें पड़कर बर्बाद हो चुके हैं। इतना ही नहीं, इससे लोक-परलोक दोनों भ्रष्ट होते हैं, इसलिये शास्त्रकारोंने सजीव और निर्जीव पदार्थों-को लेकर किसी प्रकार भी जूआ खेलना बड़ा भारी पाप और राज्यके लिये घातक बतलाया है। भगवान् मनुने तो जुआरियोंको देशसे निकाल देने आदिकी आज्ञा दी है।

इसलिये अपना हित चाहनेवाले पुरुषोंको इस विनाशकारी दुर्व्यसनसे सर्वथा बचना चाहिये।

उपर्युक्त विवेचन वर्तमान समयकी थोड़ी-सी कुरीतियों, फिजूल-खर्ची और दुर्व्यसनोंका एक साधारण दिग्दर्शनमात्र है। इनके अतिरिक्त देश, समाज और जातिमें और भी जो-जो हानिकर, घातक और पतनकारक दुर्व्यसन, फिजूलखर्ची एवं बुरी प्रथाएं प्रचलित हैं, उनको हटानेके लिये भी सब लोगोंको विवेकपूर्वक तत्परताके साथ प्रयत्न करना चाहिये।

प्राचीन तथा आधुनिक संस्कृति

जगत् स्वभावतः परिवर्तनशील है। 'जगत्' और उसका पर्याय 'संसार' दोनों ही शब्द गतिवाचक हैं। 'जगत्'का अर्थ ही है गतिशील—जो सदा चलता रहे, कभी स्थिर न रहे। 'संसार' का अर्थ भी चलना ही है। परिवर्तन ही संसारका स्वरूप है। एक आत्मा ही अचल, अविनाशी एवं स्थिर है; आत्माके अतिरिक्त सब कुछ चल, अविनाशी एवं परिवर्तनशील है। जगत् प्रवाहरूपसे अनादि है। अनादिकालसे इसका रूप बदलता आया है। उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि, परिणाम, क्षय और नाश—ये छः विकार सदा इसके साथ लगे रहते हैं। भारतीय संस्कृति भी समयके फेरसे क्रमशः उन्नति और अवनतिको प्राप्त होती रहती है। एक समय था जब कि हमारा भारतवर्ष सभ्य देशोंका सिरमौर बना हुआ था। विद्या-बुद्धि, कला-कौशल, धन-बल, जन-बल तथा ज्ञान-विज्ञान आदिमें सबसे बढ़ा-चढ़ा था। लौकिक एवं पारलौकिक—सभी प्रकारकी विद्याओंका यह उद्‌गम-स्थान था। यहींसे ज्ञानसूर्यका उदय होकर समस्त देशोंमें उसका प्रकाश फैला था। इसलिये मनु महाराजने कहा है—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

(२।२०)

'इसी देश (भारतवर्ष) में उत्पन्न हुए ब्राह्मणोंसे अखिल भूमण्डलके मनुष्य अपने-अपने आचारकी शिक्षा ग्रहण करें।'

जिस समय योरप एवं अमेरिका आदि देशोंमें रहनेवाली सभ्य जातियोंके पूर्वज अर्द्धनग्न-अवस्थामें जंगलोंमें वन्य पशुओंकी भाँति रहते थे, उस समय यह देश सभ्यताके उच्चतम शिखरपर आरूढ़ था। भारतीय संस्कृतिका प्रचार दूर-दूरतक हुआ था। उसके चिह्न अब भी अमेरिकातकमें मिलते हैं। बौद्धकालीन सभ्यताके चिह्न तो प्रचुर संख्यामें अफगानिस्तान आदि देशोंमें तथा भारतके समीपवर्ती द्वीपोंमें पाये जाते हैं। चीन और जापानके राष्ट्रोंमें तो स्पष्ट ही बौद्ध-संस्कृतिका प्रभाव लक्षित होता है। अप्रत्यक्षरूपसे तो भारतीय संस्कृतिका प्रभाव सभी देशों और सभी राष्ट्रोंपर अमिटरूपसे पड़ा है। परन्तु सबका समय एक-सा नहीं रहता। जिस संस्कृतिकी भारतेतर देशोंपर भी गहरी छाप पड़ी, वही संस्कृति आज समयके फेरसे पाश्चात्त्य संस्कृतिके प्रभावमें आकर अपना स्वरूप खो देना चाहती है। चारों ओरसे उसपर विजातीय संस्कृतियोंके आक्रमण हो रहे हैं। परन्तु युगके प्रभावसे इस संस्कृतिका चाहे कितना ही ह्रास क्यों न हो जाय, इसका लोप नहीं हो सकता; क्योंकि इसकी भित्ति अत्यन्त सुदृढ़ है। भारतीय संस्कृतिका आधार उसकी आध्यात्मिकता है। यही कारण है कि जहाँ ग्रीस, रोम, बैबीलोन, मिस्र आदि देशोंकी सभ्यता आज केवल स्मृतिका विषय रह गयी है, भारतीय सभ्यता इतने विजातीय आक्रमण होनेपर भी आज उसी प्रकार अपना सिर ऊँचा किये खड़ी है। इस युगमें भी, जब कि हम भारतवासी सदियोंसे दासताकी बेड़ियोंसे जकड़े हुए हैं, हमारी सभ्यता संसारके लिये आदरका विषय बनी हुई है। इस युगके बड़े-बड़े दार्शनिक तथा विचारक हमारी सभ्यताके कायल हैं और उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं। यही नहीं, इस घोर अशान्तिके युगमें जब कि सर्वत्र हाहाकार मचा हुआ

है, शान्ति चाहनेवाले योरोपनिवासी भारतकी ओर ही आँख उठाये हुए हैं और आशा करते हैं कि उन्हें यहींसे विश्वशान्ति और विश्वप्रेमका सन्देश प्राप्त हो सकता है। यहाँके प्राचीन तथा अर्वाचीन आध्यात्मिक साहित्यको वहाँके लोग बड़े चावसे पढ़ते हैं और यहाँके प्रमुख व्यक्तियोंका बड़ा सम्मान करते हैं। आज हम उसी भारतीय ऋषियोंद्वारा प्रवर्तित प्राचीन आर्यसभ्यता तथा वर्तमान भोगप्रधान पाश्चात्त्य संस्कृतिकी तुलनामें कुछ विचार करेंगे।

यह ऊपर निवेदन किया जा चुका है कि भारतीय संस्कृतिका आधार उसकी आध्यात्मिकता है। यहाँ ऐहिक तथा पारलौकिक सभी विषयोंपर आध्यात्मिक दृष्टिकोणसे ही विचार किया जाता है। यहाँका धर्म, यहाँका आचार-व्यवहार, यहाँकी राजनीति, यहाँकी समाजनीति, यहाँकी युद्धनीति, यहाँकी समाज-व्यवस्था, यहाँकी शिक्षापद्धति, यहाँकी शासनपद्धति, यहाँका रहन-सहन तथा वेष-भूषा, यहाँका आहार-विहार—सब कुछ आध्यात्मिक भित्तिपर स्थित है। आजका शिक्षित संसार विश्वबन्धुत्वके आदर्शको सबसे ऊँचा मानता है। विश्वके सभी राष्ट्र, सभी जातियाँ तथा सभी मनुष्य आपसमें भाई-भाईकी तरह प्रेमपूर्वक रहें—यही उनकी उच्चतम कल्पना है परन्तु भारतीय आदर्श इससे कहीं ऊँचा है। भाई-भाईमें भी कलह हो सकता है और होता है। संसारमें श्रीराम और भरत-जैसे भाई तो बिरले ही होते हैं। श्रीराम और भरत-जैसा भ्रातृप्रेम तो जगत्के इतिहासमें अन्यत्र कहीं देखनेको नहीं मिलता। ऐसी स्थितिमें बन्धुत्वका आदर्श प्रेमकी परमावधि नहीं माना जा सकता। भारतीय संस्कृति मनुष्यमात्रमें ही नहीं, प्राणिमात्रमें—यहाँतक कि वृक्ष आदि स्थावर जीवोंमें भी आत्मबुद्धि करनेका उपदेश देती है।

वह हमें यह सिखलाती है कि जीवमात्रको अपनी आत्मा समझो। कलह अथवा द्वेष दूसरेके साथ ही सम्भव है। अपने प्रति किसीका द्वेष, घृणा अथवा वैर नहीं हो सकता। अपना अहित कोई नहीं करना चाहेगा। अपनेसे सबका स्वाभाविक ही प्रेम होता है। इस अद्वैत-दृष्टिकी शिक्षा हमें भारतीय संस्कृतिसे प्राप्त होती है।

इसी प्रकार आजकी सबसे ऊँची शिक्षा मनुष्यमात्रके प्रति प्रेम करना है। परन्तु भारतीय संस्कृति हमें मनुष्यमात्रके प्रति ही नहीं, अपि तु, जीवमात्रके प्रति प्रेम करनेको कहती है। गीतामें जहाँ-जहाँ दूसरोंका हित करनेकी बात आयी है, वहाँ-वहाँ 'सर्वभूतहिते रताः' (५। २५; १२। ४) पदका ही प्रयोग हुआ है। किसी जंगम (चर) प्राणीको कष्ट पहुँचानेकी बात तो दूर रही, पेड़-पौधोंको भी काटनेकी हमारे शास्त्रोंने मनाही की है। जहाँ मूक प्राणियोंकी हिंसा आजकल सभी देशों और सभी राष्ट्रोंमें वैध मानी गयी है, वहाँ हमारे यहाँ अनावश्यक एक पत्तेको अथवा एक तिनके-को तोड़नेकी भी आज्ञा नहीं दी गयी है, एक दँतुअन तोड़नेके लिये भी शास्त्रोंने वृक्षसे प्रार्थना करनेकी आवश्यकता बतलायी है। यहाँतक कि स्नान आदिमें आवश्यकतासे अधिक जल गिरानेका भी शास्त्रोंमें निषेध किया गया है। भोजनके लिये भी पके हुए अनाज और फलको ही ग्रहण करनेकी शास्त्रोंने आज्ञा दी है। वनस्पतियोंमें जल देनेका शास्त्रोंने बड़ा माहात्म्य बतलाया है। अतिथिसेवा, देवताओं, पितरों और ऋषियोंकी सेवा—यहाँतक कि सारे भूत-प्राणियोंकी सेवा गृहस्थके लिये अनिवार्य मानी गयी है। शरीरसे किसी प्राणी-को कष्ट पहुँचानेकी तो बात ही क्या, मन तथा वाणीके द्वारा भी

किसीको कष्ट पहुँचाना हिंसाके अन्तर्गत ही माना गया है। शास्त्रोंका इस सम्बन्धमें यही आदेश है कि दूसरोंके प्रति हमें वैसा वर्ताव कदापि नहीं करना चाहिये, जिसे हम अपने लिये पसंद न करें—'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ।' हमारे पूर्वज ऋषियोंने प्राणिमात्रके लिये यही प्रार्थना की है—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत् ।।

'सब प्राणी सुखी हों, सब नीरोग हों, सभी कल्याणके भागी बनें, कोई भी दुखी न हो ।'

संसारके प्रति इससे ऊँची भावना और क्या हो सकती है? 'सब लोग जियें, सब लोग सुखी हों, सब लोग फूलें-फलें—भारतीय संस्कृतिका सदासे यही सिद्धान्त-वाक्य रहा है। यही कारण है कि भारतवासियोंने शक्ति रहते भी कभी दूसरे देशोंपर अन्याय्य आक्रमण नहीं किया। धार्मिक सहिष्णुताका भाव तो भारतीयोंका सदासे आदर्श रहा है। उन्होंने तलवारके जोरपर कभी विधर्मियोंको अपने धर्ममें लानेकी चेष्टा नहीं की। धर्मके मामलोंमें उन्होंने दूसरोंके अत्याचार सहे, परन्तु स्वयं दूसरोंपर अत्याचार नहीं किये। विधर्मियोंको उन्होंने सदा आश्रय दिया और इस प्रकार अपनी आतिथेयताका परिचय दिया। आज इन सिद्धान्तोंको यदि संसार अंशतः भी मानने लगे तो व्यर्थके झगड़ों और रक्तपातसे बच जाय और सर्वत्र सुख-शान्ति तथा प्रेमका साम्राज्य हो जाय।

अब रही ज्ञानकी बात, सो लौकिक एवं पारलौकिक दोनों प्रकारके ज्ञानमें हमारे देशने पूर्वकालमें बहुत बड़ी उन्नति की थी।

हमारा ऋग्वेद संसारका सबसे प्राचीन ग्रन्थ माना जाता है। वेदोंमें लौकिक एवं पारलौकिक सब प्रकारका ज्ञान भरा है। काव्य-साहित्य, गणित, ज्यौतिष, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद (गानविद्या), दर्शनशास्त्र, अर्थशास्त्र, शिल्पविद्या, स्थापत्य-कला, चित्रकला, तक्षणकला, पशुपालन, कृषिविज्ञान, राजनीति आदि सभी विषयोंमें हमारे देशने आश्चर्यजनक उन्नति की थी, जिसका सारा संसार आजतक लोहा मानता है। अध्यात्मविद्या और परलोकविद्यामें तो इस देशकी समता आजतक किसी देशने की ही नहीं और भविष्यमें भी कोई कर सकेगा, इसमें सन्देह है। परलोकके सम्बन्धमें जो बातें हमारे शास्त्रोंमें बतलायी गयी हैं, उनका खण्डन आजतक कोई नहीं कर सका है। खण्डन करना तो दूर रहा, वहाँतक कोई पहुँच ही नहीं पाया है। यहाँके पूर्वजन्म-सिद्धान्तको आज संसारके बड़े-बड़े वैज्ञानिक मानने लगे हैं। हमारे उपनिषदोंमें तथा भगवद्गीता आदि ग्रन्थोंमें जो तत्त्वज्ञान भरा है, उसकी सारा जगत् मुक्तकण्ठसे प्रशंसा कर रहा है। हमारे वेदान्तका सिद्धान्त तो ज्ञानकी परमावधिको सूचित करता है। उससे ऊँचे ज्ञानकी संसार कल्पना भी नहीं कर सकता। हमारे पूर्वज ऋषियोंने तपस्या, संयम, सद्गुण, सदाचार, भगवद्भक्ति एवं योगके बलसे जिस सर्वलोकविस्मापक तत्त्वज्ञानका अर्जन किया, उसके मुकाबलेमें पाश्चात्त्य जगत्का ऊँचे-से-ऊँचा भौतिक ज्ञान समुद्रके मुकाबलेमें एक बूँदके समान भी नहीं है। पाश्चात्त्य विज्ञानकी समाप्ति स्थूल पञ्चभूतोंके ज्ञानमें ही हो जाती है। पञ्चभूतोंके आगे जाना तो दूर रहा, पञ्चभूतोंका भी पूरा-पूरा ज्ञान अभी पाश्चात्त्य वैज्ञानिकोंको नहीं हो पाया है। स्थूल पञ्चभूतोंके परे इन्द्रिय हैं, इन्द्रियोंके

परे सूक्ष्म पञ्चभूत अथवा तन्मात्र हैं, उनके परे मन है, मनके परे बुद्धि हैं, बुद्धिके परे महत्तत्व है, महत्तत्वके परे अव्याकृत माया है और अव्याकृत मायाके परे परमात्मतत्त्व है, उस परमात्मतत्त्वसे परे कुछ भी नहीं है, वही परमावधि है।※

जिस परमात्मतत्त्वका ज्ञान हमारे शास्त्रोंमें भरा पड़ा है, इसीको उलटे क्रमसे कहें तो यों कह सकते हैं कि परमात्माके एक अंशमें माया है, मायाके एक अंशमें महत्तत्त्व है, महत्तत्त्वके एक अंशमें बुद्धि है, बुद्धिके एक अंशमें मन है, मनके किसी अंशमें सूक्ष्म-भूत हैं, सूक्ष्मभूतोंके किसी अंशमें इन्द्रियाँ हैं और इन्द्रियोंके किसी अंशमें स्थूल भूत हैं। परमात्मा अथवा मूलप्रकृति (अव्याकृत माया) के ज्ञानकी बात तो दूर रही, आधुनिक वैज्ञानिकोंको इन्द्रिय, मन तथा बुद्धिके तत्त्वका भी ज्ञान नहीं है। केवल आकाशादि स्थूल भूतोंके तत्त्वका आंशिक ज्ञान सदियोंके अथक परिश्रमके बाद आजके वैज्ञानिक प्राप्त कर पाये हैं। अतः हमें विचार करना चाहिये कि परमात्माके तत्त्वज्ञानके सामने इस भौतिक ज्ञानका क्या मूल्य है, जिसकी चकाचौंधसे आज हम मोहित हो रहे हैं। यह सारा जगत् जब परमात्माकी मायाके एक अंशमें स्थित है, तब उस जगत्का सारा ज्ञान स्वाभाविक ही परमात्मज्ञानके एक अंशमें आ जाता है।

※ इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः॥
(कठ० १।३।१०-११)

गीताके दसवें अध्यायमें अपनी सारी विभूतियोंका वर्णन करके उसके उपसंहारमें भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे यही कहते हैं—

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥
(१०।४२)

'अथवा हे अर्जुन! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है? मैं इस सम्पूर्ण जगत्को अपनी योगशक्तिके एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ। [इसलिये बहुत-सी बातोंको जाननेके झंझटमें न पड़कर एक मुझको ही तत्त्वसे जान।]'

उस एकके जान लेनेसे सब कुछ अपने-आप जाना जाता है—'तेन ज्ञातेन सर्वं विज्ञातं भवति।' बड़े खेदका विषय है कि आज हम उस सर्वश्रेष्ठ ज्ञानको भुलाकर भौतिक ज्ञानके पीछे पागल हो रहे हैं और त्रिकालदर्शी महर्षियोंके रहस्यमय तात्त्विक उपदेशकी अवहेलना कर पाश्चात्त्य विचारकोंका अन्धानुकरण करनेपर उतारू हो रहे हैं।

पाश्चात्त्योंके संसर्गसे तथा पाश्चात्त्य शिक्षाके प्रभावसे आज बहुत-सी अवाञ्छनीय बातें हमारे समाजमें प्रवेश कर हमारी संस्कृतिका मूलोच्छेद कर रही हैं। पाश्चात्त्योंकी देखा-देखी हम अपने युवक-युवतियोंको सहशिक्षा देकर उनके चरित्रनाशमें सहायक बन रहे हैं। 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः' (छान्दोग्य० ७।२६।२) 'आहारकी शुद्धिसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है'—इस सिद्धान्तको भुलाकर हमलोग खान-पानके विषयमें बिल्कुल स्वतन्त्र होकर भ्रष्ट होते जा रहे हैं। शौचाचारकी ओर हमारा तनिक भी ध्यान नहीं रह गया है। मादक द्रव्योंका क्रमशः अधिकाधिक प्रचार हो रहा है। चाय-तमाखू तथा गाँजा-भाँग और

बीड़ी-सिगरेट आदिकी तो बात ही क्या है, औषधके रूपमें तथा शौकिया तौरपर भी मदिराका सेवन बढ़ रहा है। मछली, मांस तथा अण्डे आदिका व्यवहार भी होटलोंके द्वारा सभ्य-समाजमें खुल्लम-खुल्ला होने लगा है। इन सब बातोंसे शौचाचार तो नष्ट हो ही रहा है, साथ-ही-साथ सदाचारका भी नाश हो रहा है। व्यभिचारकी वृद्धि हो रही है और उसके सम्बन्धमें पापबुद्धि क्रमशः नष्ट हो रही है,शरीर और घरोंकी सजावटमें तथा आमोद-प्रमोदमें रुपया पानीकी तरह बहाया जा रहा है। खर्चीलापन बढ़ रहा है। गंदे साहित्य एवं गंदे चित्रपटोंका प्रचार क्रमशः बढ़ रहा है, जिससे हमारे युवक-युवतियोंके चरित्रपर बहुत बुरा प्रभाव पड़ रहा है। इन सब बातोंसे हमारे धन, धर्म, स्वास्थ्य, आयु, बल, बुद्धि, लोक, परलोकका नाश हो रहा है और हमलोग क्रमशः पतनकी ओर अग्रसर हो रहे हैं, अपने ही हाथों अपना सर्वनाश कर रहे हैं। झूठ, कपट, चोरी और हिंसा आदि पापोंकी बड़ी तेजीसे वृद्धि हो रही है। इसलिये समाजके कर्णधारोंको चाहिये कि वे इन बुराइयोंसे समाजको बचावें और प्राचीन संस्कृतिकी रक्षा करें।

प्राचीन संस्कृतिकी ओर जब हम दृष्टि डालते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि आधुनिक संस्कृति और उसमें महान् अन्तर है। दोनोंके दृष्टिकोणमें अन्तर है। आधुनिक संस्कृतिका उद्देश्य है—खाना-पीना, मौज करना, शरीरको अधिक-से-अधिक आराम देना, अधिक-से-अधिक भोग भोगना, जिस-किसी प्रकारसे हो वर्तमान जीवनको सुखी बनाना। इसके आगे उसकी दृष्टि नहीं जाती। इसके विपरीत प्राचीन संस्कृतिका लक्ष्य था—जल्दी-से-जल्दी परमात्माकी प्राप्ति करना; चिरशान्ति एवं शाश्वत सुखको प्राप्त करना। इसीलिये जहाँ

आधुनिक संस्कृतिमें भोगकी प्रधानता है, प्राचीन संस्कृतिमें त्याग वैराग्य एवं तपकी प्रधानता थी। जिसमें त्यागकी मात्रा जितनी अधिक होती थी, उसका उतना ही अधिक मान होता था। इसीलिये ब्राह्मणों तथा साधु-महात्माओंका सबसे अधिक आदर होता था, क्योंकि वे लोग त्यागकी मूर्ति होते थे। उनके जीवनमें सादगी बहुत अधिक थी, खर्चीलापन नहीं था। खान-पान, पहरावा, बोलचाल तथा व्यवहार—सब कुछ सादा और पवित्र होता था। चौबीस वर्षकी अवस्थातक वे लोग ब्रह्मचर्यसे रहकर गुरुसेवा तथा विद्याभ्यास करते थे। उतने समयतक वे लोग शृङ्गार तथा विलासितासे बिल्कुल दूर रहते थे। उनका खर्च बहुत परिमित होता था। इसीलिये उन्हें धनके लिये धनिकोंकी गुलामी नहीं करनी पड़ती थी। छल-कपट वे जानते ही न थे। वनमें रहकर कन्द-मूल-फलसे अपना जीवन-निर्वाह करते थे। वे लोग स्वावलम्बी एवं कष्टसहिष्णु होते थे। इसीलिये उन्हें नौकरोंकी आवश्यकता नहीं होती थी। वे अपना काम अपने हाथसे करते थे। उनके त्याग और वैराग्यका इतना प्रभाव था कि बड़े-बड़े राजालोग उनकी चरणधूलिको मस्तकमें लगाकर अपनेको पवित्र मानते थे, उनमेंसे कई ऐसे थे, जिनके पास हजारों विद्यार्थी रहते थे। वे लोग कुलपति कहलाते थे। उनके आश्रम एक-एक विश्व-विद्यालय होते थे। परन्तु इसके लिये उन्हें बड़ी-बड़ी इमारतोंकी—लाखों-करोड़ों रुपये सञ्चय करनेकी आवश्यकता नहीं होती थी। वे वृक्षोंके नीचे बैठकर अपने छात्रोंको पढ़ाया करते थे और घास-फूस तथा पत्तोंकी झोंपड़ियाँ बनाकर उनमें रहते थे। उन्हें सब प्रकारकी आवश्यक सामग्री वनोंसे ही मिल जाया करती थी। इसलिये उन्हें पैसेकी आवश्यकता नहीं पड़ती थी। स्वाद, शौक, ऐश-आराममें

उनमें गन्धतक नहीं थी। खेल-तमाशे तथा किसी भी प्रकारकी मादक वस्तुको वे पास भी नहीं फटकने देते थे। राजा-महाराजाओं-तकपर उनका शासन चलता था, परन्तु उनपर किसीका शासन नहीं था, उनके पास था ही क्या, जिसको लेकर कोई उनपर शासन करने जाता। वे सारे भूतोंको अभयदान देकर विचरते थे। प्राणि-मात्रका हित करना ही उनका एकमात्र व्रत था। इसीलिये उनके आश्रमोंमें हिंसक जन्तु भी हिंसक-वृत्ति छोड़कर सामान्य जीवोंकी तरह रहते थे। क्षमा, दया, शान्ति, सरलता आदि सद्गुण तथा यज्ञ, दान, तप, परोपकार, सत्यभाषण, दीन-दुखियोंकी सेवा तथा ईश्वरोपासना आदि सदाचार ही उनकी सम्पत्ति थी। इसीको गीतामें दैवी सम्पत्तिके नामसे कहा गया है।

वर्तमान समयमें इससे बिल्कुल विपरीत स्थिति दृष्टिगोचर हो रही है। छल-कपट, झूठ तथा कलाकौशलके द्वारा तथा विविध प्रकारके यन्त्रों एवं गैसों आदिका आविष्कार करके स्वल्पातिस्वल्प समयमें अधिक-से-अधिक जीवोंकी हिंसा करनेकी सामर्थ्य प्राप्त करना ही वर्तमान समयमें उन्नतिका प्रधान लक्षण माना जाता है। बड़े-बड़े राष्ट्रोंका छोटे-छोटे राष्ट्रोंको—सबलोंका दुर्बलोंको हड़प जाना ही आजकलका परम पुरुषार्थ है। इसीका नाम आसुरी सम्पदा है। आज संसारमें सर्वत्र इसीका साम्राज्य देखनेमें आता है।

ऊपरके वर्णनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि प्राचीन संस्कृति-में दैवी सम्पदाकी प्रधानता थी और वर्तमान संस्कृतिमें आसुरी सम्पदा-का प्राधान्य है। यही दोनों सभ्यताओंमें अन्तर है। इनमेंसे एक ऊँचे उठानेवाली और दूसरी नीचे गिरानेवाली है। प्रत्येक कल्याण-

कामी पुरुषको चाहिये कि वह पहलीका संग्रह तथा दूसरीका त्याग करे। दैवी सम्पत्ति ही असली धन है। लौकिक धन तो मरनेके बाद यहीं रह जाता है। किन्तु यह धन ऐसा है जिसका शरीरके नाश होनेपर भी नाश नहीं होता। इसीको मानव-धर्म भी कहते हैं। इसीसे सच्चे सुखकी प्राप्ति होती है। यदि साधनकी शिथिलताके कारण इसी जन्ममें उस सुखकी प्राप्ति नहीं हुई तो दूसरे जन्ममें हो जाती है और इस प्रकार मनुष्य उस सच्चे सुखका अधिकारी बन जाता है। यहाँ यह प्रश्न होता है कि लौकिक धन शरीरके साथ यहीं रह जाता है और दैवी धन परलोकमें भी जीवका साथ नहीं छोड़ता, इसमें क्या कारण है? बात यह है कि मृत्यु हो जानेपर मनुष्यका शरीर तो यहीं रह जाता है किन्तु इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा प्राण उसके साथ ही जाते हैं; क्योंकि उनका अस्तित्व मुर्देमें नहीं देखा जाता। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जिस धनका समावेश इन्द्रिय, मन तथा बुद्धिमें हो सकता है वही धन परलोकमें जीवके साथ जा सकता है। सद्गुण और सदाचार ही ऐसा धन है जिसका समावेश इन्द्रिय, मन और बुद्धिमें होता है। अतः यही धन जीवके साथ जाता है, बाकी धन यहीं पड़ा रह जाता है। विद्या, विवेक एवं शुभ निश्चय बुद्धिमें रहते हैं। इन्द्रियोंद्वारा जो उत्तम क्रियाएँ की जाती हैं, वे संस्काररूपसे मनमें सञ्चित रहती हैं और उत्तम गुण तो स्वरूपसे ही मनमें रहते हैं। इन सबकी प्राप्ति ईश्वर-भक्तिसे सुलभ हो जाती है, अतः ईश्वरभक्ति ही कल्याणका मुख्य साधन है। मनुष्यजन्म पाकर जीवनमें इसीका अभ्यास करना चाहिये। यही भारतीय संस्कृतिका मूल मन्त्र है।

धर्म-तत्त्व

धर्मका तत्त्व बहुत ही गहन है। धर्म शब्द 'धृ' धातुसे बनता है, जिसका अर्थ यह है कि जो समस्त ब्रह्माण्डको धारण करता है वह धर्म है।

धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मेण विधृताः प्रजाः।
यः स्याद्धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः॥

(महा० शान्ति० १०९। ११)

धर्म धारण करता है इसलिये उसे धर्म कहा गया है। धर्म प्रजाको धारण करता है। जो धारण करनेकी योग्यता रखता है वही धर्म है। समस्त विश्वको धारण करनेवाला है सर्वशक्तिमान् भगवान्का परमसमर्थ न्याय या कानून। उस न्याय या कानूनको मानकर उसके अनुसार चलना ही धर्मका आचरण करना है। यह धर्म ऐसा है जो इहलोक और परलोक दोनोंमें कल्याण करता है। इसीसे वैशेषिक दर्शनके रचयिता महर्षि कणाद धर्मका लक्षण करते हुए कहते हैं—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

(१।२)

'जिससे इस लोकमें अभ्युदय हो और परमकल्याणरूप मोक्षकी प्राप्ति हो, वही धर्म है।'

जैसे ईश्वर अनादि हैं वैसे ही यह ईश्वरीय न्याय भी अनादि है, इसीसे इसको सनातन कहते हैं। सृष्टि, पालन और संहार

आदि जितने भी स्वाभाविक कर्म विश्वमें होते हैं, सब ईश्वरके कानूनसे ही होते हैं। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, पृथ्वी, वायु, अग्नि, समुद्र आदि जितने भी प्राकृत पदार्थ हैं, सब ईश्वरीय कानूनमें बँधे हुए ठीक नियमसे चलते हैं। ईश्वरके कानूनके अनुसार चलनेवाला संसारमें सुखी होता है और अन्तमें मुक्त हो जाता है किन्तु जो इसका विरोध करता है वह टकराकर गिर जाता है, दुखी होता है और अन्तमें बुरी गतिको प्राप्त होता है। जैसे रेलका सामना करनेवाला टकराकर कट जाता है परन्तु उसके अनुकूल चलनेवाला या उसपर सवार होकर चलनेवाला सुखपूर्वक अपने गन्तव्य स्थानपर पहुँच जाता है, वैसे ही धर्मके विरुद्ध आचरण करनेवाला नष्ट हो जाता है और अनुकूल आचरण करनेवाला सुखपूर्वक जीवननिर्वाह करके परमात्माको प्राप्त हो जाता है। सच्चे सुख और परम शान्ति को प्राप्त करनेका प्रधान साधन ईश्वरीय कानून यानी धर्मके अनुकूल आचरण करना ही है।

प्रकृतिके कार्यरूप पृथ्वी, वायु आदि जितने दृष्ट पदार्थ हैं वे तो सब बिना किसी हेर-फेरके ईश्वरीय कानूनके अनुसार ही चलते हैं। नियमका कभी उल्लङ्घन नहीं करते! रही चेतनकी बात। चेतनके हम दो भेद कर सकते हैं—१ मनुष्य और २ पशु-पक्षी, कीट-पतङ्गादि जीव। इनमें पशु-पक्षी आदिमें ज्ञानका अभाव होनेसे वे ईश्वरीय कानूनको समझ-सोचकर पालन नहीं कर सकते, (जो कुछ स्वाभाविक है उसे तो वे भी करते ही हैं) साथ ही ज्ञान न होनेसे उनपर उतना दायित्व भी नहीं है, इसीलिये नियम पालन न करनेसे उन्हें भविष्यमें कोई दण्ड भी नहीं मिलता

और न उनका परम कल्याण ही होता है। कर्तव्यपालनका जैसा ज्ञान मनुष्यमें है, वैसा उनमें न होनेसे न उन्हें लाभ ही होता है और न विशेष हानि ही होती है। वे कर्मानुसार अपना जड जीवन बिताते हैं। इसीसे ईश्वरीय कानून उनपर लागू नहीं है, मनुष्यपर लागू है; क्योंकि मनुष्यमें ही इन सब बातोंको समझनेकी योग्यता है। ईश्वरकी रचना ही ऐसी पूर्ण और कौशलयुक्त है कि कौन वस्तु किसके लिये उपयोगी है, इसका पता उसकी रचनापर विचार करनेसे अपने-आप ही लग जाता है। बाघके नख, दाँत आदि देखनेसे पता लगता है कि उसके लिये मांसाहार उपयोगी है, वह घास नहीं खा सकता, खायेगा तो जीयेगा नहीं। इसी प्रकार बन्दरके हाथ, पैर, दाँत देखनेसे मालूम होता है कि वह वनस्पति और फल-अन्नादि ही खा सकता है। बन्दर मांस नहीं खा सकता, खायेगा तो वह उसके अनुकूल नहीं होगा। याद रखना चाहिये जो जिसके अनुकूल है वही उसके लिये ईश्वरीय कानून है, विपरीत ही विरुद्ध है। मनुष्यके भी हाथ, पैर और दाँत देखनेसे मालूम होता है कि इसका खाद्य मांस नहीं है किन्तु वह यदि मांसादि खाता है तो वह इस लोक और परलोक दोनोंमें ही अपना नुकसान करता है, क्योंकि उसमें विवेक है, इसलिये उसके दायित्वका क्षेत्र भी बहुत विस्तृत है। संसारमें जो चौरासी लाख प्रकारकी योनियाँ बतलायी गयी हैं, उन सबमें एक मनुष्य ही ऐसा है जिसमें सबके भरण-पोषण करने और सबको सुख पहुँचानेकी योग्यता है। उसकी रचनाका ढंग, बुद्धि, कौशल और कार्य देखनेसे यह स्पष्ट हो जाता है। गम्भीरताके साथ विवेक-

पूर्वक विचार करनेसे यही निर्णय होता है कि संसारको सुव्यवस्थित करने, सबको सुख पहुँचाने और ऐसा करते-करते परमात्माको प्राप्त कर लेनेके लिये ही मनुष्यकी रचना की गयी है और जिस कार्यके लिये वह बनाया गया है; उसे करना ही उसका कर्तव्य हो जाता है। एक वाक्यमें कहें तो प्राणीमात्रका हित करना ही मनुष्यका कर्तव्य है, उसके लिये यही ईश्वरीय कानून है या धर्म है और जो सबके हितमें रत रहेगा उसका अपना हित तो निश्चित ही है। अतएव विश्वके समस्त जीवोंको सुख-सुविधा पहुँचाना और उनके हितकी व्यवस्था करना ही मनुष्यका मनुष्यत्व है, इसीमें उसकी धार्मिकता है। और ऐसा न करना या इसके विपरीत करना ही अधर्म है। अधर्म विनाशमें और लोक-परलोककी महान् हानिमें हेतु होता है। इसी बातको लक्ष्यमें रखकर तुलसीदासजीने कहा है—

परहित सरिस धर्म नहिं भाई।
पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

भगवान्‌ने कहा है—

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥
(गीता १६। १९-२०)

'उन द्वेष करनेवाले पापाचारी और क्रूरकर्मी नराधमोंको संसारमें बार-बार आसुरी योनियोंमें ही डालता हूँ अर्थात् शूकर-कूकर

आदि नीच योनियोंमें ही उत्पन्न करता हूँ । हे अर्जुन ! जन्म-जन्ममें आसुरी योनिको प्राप्त वे मूढ़ पुरुष मुझको न प्राप्त होकर, उससे भी अति नीच गतिको ही प्राप्त होते हैं अर्थात् घोर नरकोंमें पड़ते हैं ।'

जो दूसरोंके हितमें लगे रहते हैं उन्हें भगवान्‌की प्राप्ति होती है ।

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥

(गीता १२ । ४)

'वे इन्द्रियोंके समुदायको भली प्रकार वशमें करके सबमें समान भाववाले योगी सम्पूर्ण भूतोंके हितमें रत हुए मुझको (भगवान्‌को) ही प्राप्त होते हैं ।'

किसी भी सिद्धान्तको मानकर चलिये, परिणाम एक ही होगा। क्योंकि श्रीभगवान् एक ही हैं । वेदान्तके सिद्धान्तको सामने रखकर विचार कीजिये । वेदान्तका सिद्धान्त है कि 'सब कुछ मेरा आत्मा ही है।' इस सिद्धान्तके अनुसार किसीका भी नुकसान अपना ही नुकसान है । जैसे कोई अबोध बालक अज्ञानवश चाकूसे अपने हाथ-पैर काटता है या आगमें हाथ डालता है और उसके अंग कट जाते हैं या जल जाते हैं जिससे वह दुखी होकर रोता है; वेदान्त-सिद्धान्तके अनुसार यही बात किसी दूसरेको कष्ट पहुँचानेमें है । दूसरेको कष्ट पहुँचाना अपने ही आत्माको कष्ट पहुँचाना है; क्योंकि अपने आत्माके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं ।

यदि कहें कि 'बालक जब अपना हाथ काटता या जलाता है तब वह तो प्रत्यक्षमें कट जाता है या जल जाता है; परन्तु इसमें

तो ऐसा नहीं दीखता। दूसरोंको होनेवाला कष्ट अपनेको ही होता है ऐसा तो बोध नहीं होता। बल्कि दूसरोंको तकलीफमें देखकर अपनेको आराम मालूम होता है।' तो यह कहना ठीक नहीं है। जिसने वेदान्तके सिद्धान्तको भलीभाँति समझकर हृदयङ्गम कर लिया है और जो वास्तवमें सबको अपना आत्मा ही समझता है, उसको कैसा बोध होता है, वह अपने ही समान दूसरेके कष्टका अनुभव करता है या नहीं। इसका अनुभव अज्ञानकी स्थितिमें नहीं हो सकता। दूसरी बात यह है कि सभी कर्मोंका फल तत्काल ही हो जाय ऐसी बात नहीं है। किसी-किसी कर्मका फल उसी क्षण हो जाता है तो किसीका कालान्तरमें प्रकट होता है। लड्डू या दूधमें कोई विष मिलाकर खिला दिया जाय तो उसका फल कुछ देर बाद होता है। खाने-पीनेमें तो वे मीठे ही लगते हैं परन्तु मृत्यु विषका असर होनेपर दो-चार घंटे बाद होती है। इससे यह नहीं कहा जाता कि फल नहीं होता। विषका असर होनेपर जब वैद्य-डाक्टर बुलाये जाते हैं तब वे परिणाम देखकर बतलाते हैं कि 'इसने कैसे और कब कौन-सा विष खाया है, यह तो बिना जांचके नहीं बतलाया जा सकता परन्तु विष अवश्य खाया है।' आज संसारमें जो इतने मनुष्य नाना प्रकारके दु:खोंसे पीडित होकर आर्त्तनाद कर रहे हैं, यह उनके असत्कर्मोंका ही परिणाम है। वैद्य-डाक्टरोंकी भाँति कर्मका रहस्य जाननेवाले महात्मा ज्ञानीजन भी यही बतला रहे हैं कि 'इन्होंने कब कौन-से दुष्कर्म किये हैं यह तो पता नहीं परन्तु दुष्कर्म अवश्य किये हैं। दुष्कर्म न किये होते तो ऐसा परिणाम कदापि न होता।'

किसी भी प्राणीको जो सुख-दुःखकी प्राप्ति होती है वह उसकी अपनी ही की हुई क्रियाओंका परिणाम है। गम्भीरताके साथ विचार करनेपर यह सिद्ध हो जाता है कि मनुष्य यदि किसीको दुःख दे रहा है तो वह वस्तुतः प्रकारान्तरसे अपनेको ही दे रहा है, और यदि किसीको सुख पहुँचा रहा है तो वह भी अपनेको ही पहुँचा रहा है।

आत्मा वस्तुतः एक ही है; एक होनेपर भी जो विभिन्न दीख रही है इसमें अपना अज्ञान ही कारण है। एक मनुष्य स्वप्न देखता है—स्वप्नके पदार्थोंमें किसीमें उसकी अहंबुद्धि होती है, किसीमें पर-बुद्धि होती है, वह राग-द्वेषवश बातों-ही-बातोंमें लड़ पड़ता है, मार-पीट होती है, सुख-दुःखका भोग भी होता है। परन्तु जब आँखें खुल जाती हैं तब देखता है कि मेरे सिवा यहाँ दूसरा कोई था ही नहीं। स्वप्नकी सृष्टि मेरे अपने ही संकल्पसे हुई थी। मैं ही शत्रु बना था, और मैं ही अपनेको मार रहा था और अपने अज्ञानसे आप ही सुखी-दुखी हो रहा था। बस, यही बात यहाँ इस अज्ञाननिद्रामें है। अज्ञान-निद्रासे जागनेपर यह सिद्धान्त प्रत्यक्ष हो जाता है कि एक अनन्त आत्माके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। ज्ञानियोंका यह प्रत्यक्ष अनुभव है और उनका अनुभव ही सर्वथा आदर करने और मानने योग्य है। यह तो अभेदके सिद्धान्तकी बात हुई! अब भेदके अर्थात् भक्तिके सिद्धान्तसे इसी बातको समझना है।

भक्तिके सिद्धान्तसे हम सम्पूर्ण प्राणी एक ही परमपिता परमेश्वर-की सन्तान हैं और इस नाते सभी परस्पर भाई-भाई हैं। जो पुरुष प्रत्येक जीवको अपना प्रिय भाई मानकर सबका हित चाहता हुआ सबके साथ यथायोग्य सद्व्यवहार करता है, परमपिता परमेश्वर

स्वाभाविक ही उसपर प्रसन्न होते हैं और सारे भाई भी उससे प्यार करते हैं। जो पुरुष किसीको भी दुःख नहीं देता उसे दूसरा कोई दुःख कैसे दे सकता है? और देनेका कोई कारण भी नहीं है? यदि कोई मूर्खतावश दुःख देना चाहता भी है तो दे नहीं सकता, क्योंकि सर्वसमर्थ परमदयालु पिता परमेश्वर सदैव उसकी रक्षा करनेको तैयार रहते हैं। जो मनुष्य यह समझता है कि सरकारके कानून के अनुसार चलनेसे पुरस्कार और उसके विरुद्ध आचरण करनेसे दण्ड मिलता है, वह कानूनके विरुद्ध कभी नहीं चलता। फिर सरकार को तो लोग धोखा भी दे सकते हैं, छिपकर भी बच सकते हैं, उसके राज्यसे बाहर भी जा सकते हैं, झूठ बोलकर भी अपना बचाव कर सकते हैं, कहीं-कहीं रिश्वतसे भी काम निकल सकता है, इस प्रकार बचावके मार्ग मिल सकते हैं; परन्तु सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामी, सर्वशक्तिमान्, सर्वनियन्ता, सर्वज्ञ परमात्माके कानूनके विरुद्ध कार्य करके उपर्युक्त किसी भी उपायसे कभी कोई बच ही नहीं सकता। अतएव परमेश्वर और परमेश्वरके कानूनके प्रभावको जाननेवाला कोई भी पुरुष उनके विरुद्ध आचरण कभी कर ही नहीं सकता। उसकी सारी क्रियाएँ स्वाभाविक ही परमेश्वरके कानूनके अनुकूल ही होती हैं। उसके द्वारा किसी भी जड़-चेतन जीवका किसी कालमें किसी परिस्थितिमें किसी प्रकार भी अहित हो ही नहीं सकता। किसी हालतमें किसीका किसी प्रकारसे अहित करना ही ईश्वरके कानूनके विरुद्ध कार्य करना है। इसीका नाम अन्याय, अधर्म या पाप है। यह तो भक्तिसिद्धान्तकी बाहरी बात है। कुछ गहराईमें पैठनेपर तो इसमें बहुत ही अद्भुत रहस्य प्राप्त होता है। वास्तवमें

हम विचार करके देखें तो ये सब चराचर प्राणी हमारे भाई ही नहीं हैं; इनके हृदयमें हमारे परम पूजनीय इष्टदेव परमेश्वर विराजमान हैं। वे ही इनके रूपमें प्रकट हो रहे हैं। इस नातेसे इन्हें सुख पहुँचाना परमेश्वरको सुख पहुँचाना है और इन्हें दुःख देना परमेश्वरको दुःख देना है। इसी भावसे प्रेरित होकर गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी ॥

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत ॥
उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध ॥

परमेश्वर ही सबकी उत्पत्ति, पालन और संहार करनेवाले हैं, वे ही सबके अंदर आत्मारूपसे विराजमान हैं। सारा जगत् उन्हीं-की प्रकृतिका खेल है। वे सबमें सदा अनुस्यूत हैं। इस प्रकार जो मनुष्य परमात्माके रहस्यको और तत्त्वको जान लेता है वह भला उनके कानूनके विरुद्ध कैसे चल सकता है? वह तो उन परम दयालु, परम प्रेमी, परम सुहृद्, परम आत्मीय और परम उदार परमात्माकी दया, प्रेम और सुन्दरताको देख-देखकर अपनी निष्काम सेवाके द्वारा उन्हें आह्लादित और मुग्ध करता हुआ और उनकी प्रसन्नतासे ही अपनेको परम प्रसन्न और परम धन्य अनुभव करता हुआ नित्य आनन्द-सागरमें डूबा परम शान्तिमय जीवन बिताता है। उसको अपने इष्टदेवकी प्रसन्नतामें ही प्रसन्नता होती है, उसकी और कोई चाह होती ही नहीं। इस सिद्धान्तके अनुसार मनुष्य किसी भी जीवसे

द्वेष तो कर ही नहीं सकता, वरं सबके साथ नित्य सुहृदता
व्यवहार करता हुआ भगवान्‌की प्रीति सम्पादन करता है
भगवान्‌ने स्वयं ऐसे भक्तोंके लक्षण वतलाते हुए कहा है—

> अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
> निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥
> सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
> मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥
>
> (गीता १२। १३-१४

'जो सब भूतोंमें द्वेषभावसे रहित, स्वार्थरहित सबका प्रे
और हेतुरहित दयालु है; तथा ममतासे रहित और अहंकार
रहित, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम और क्षमावान् है अर्थात् अपरा
करनेवालेको भी अभय देनेवाला है। तथा जो योगी निरन्त
सन्तुष्ट है तथा मन और इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें किये हुए
और मुझमें दृढ़ निश्चयवाला है वह मुझमें अर्पण किये हुए म
बुद्धिवाला मेरा भक्त मुझको प्रिय है।'

इस सिद्धान्तके अनुसार भी सबको सुख पहुँचानेमें सुख हो
है और सबके हितसाधनमें ही अपना हित निहित है। अतए
उपर्युक्त दोनों सिद्धान्तोंमेंसे किसीकी दृष्टिसे भी मनुष्यमात्रका
परम कर्तव्य हो जाता है कि वह प्राणपणसे ऐसी ही चेष्टा क
जिसमें सब चराचर जीवोंका परम हित हो।

जो लोग इनमेंसे किसी भी सिद्धान्तको नहीं मानते और ई
तथा पुनर्जन्मको भी नहीं मानते और जिनको लोग नास्तिक क
हैं, उनके लिये भी विचार करनेपर यही उपयुक्त प्रतीत होता है

वे भी दूसरोंका हित ही करें। वे चाहे इसे धर्मका स्वरूप न दें; परन्तु मनुष्यके नाते न्याय समझकर—कम-से-कम अपने सुख-साधनके लिये ही उनका यह कर्तव्य हो जाता है कि वे किसीको भी हानि न पहुँचाकर सबका हित करें। क्योंकि यह निर्विवाद बात है कि जो जैसा बर्ताव करता है, उसे बदलेमें प्रायः वैसा ही प्राप्त होता है। प्रेम करनेवालेको प्रेम मिलता है और द्वेष करनेवालेको द्वेष। मुझे तभी सुख-शान्ति मिलेगी जब मैं दूसरोंको सुख-शान्ति पहुँचानेकी चेष्टा करूँगा। आज यदि मैं किसीके अनिष्टकी चेष्टा करूँगा तो मौका मिलनेपर कल वह मेरे अनिष्टका प्रयत्न करेगा। परिणाम यह होगा कि उसको भी दुःख होगा और मुझको भी! दोनोंकी ही मूर्खता समझी जायगी। इसके विरुद्ध यदि मैं आपका हित सोचूँगा तो आप मेरा हित सोचेंगे और ऐसा करनेसे परिणाममें दोनों ही सुखी होंगे। इस न्यायसे भी यह सिद्ध होता है कि दूसरोंके हितमें हमारा हित है और उनकी हानिमें ही अपनी हानि है। यह बात तो पशुओंमें भी देखी जाती है। एक गदहा दूसरे गदहेका बदन खुजलाकर उसे आराम पहुँचाता है तो दूसरा भी उसका खुजलाने लगता है। एक कुत्ता दूसरेको चाटता है, उसे प्यार करता है तो दूसरा भी बदलेमें वैसा ही करने लगता है। दुलत्तियाँ झाड़ने तथा भोंकनेवाले गदहे-कुत्तोंको बदलेमें दुलत्तियाँ और भौंक ही मिलती हैं। अपने ही व्यवहारसे परस्पर सुखी-दुःखी हुआ जा सकता है। इन सब बातोंको समझकर भी जो मनुष्य दूसरोंसे घृणा, द्वेष और वैर करता है अथवा उनके अनिष्टकी इच्छा करता है, वह मनुष्यत्वसे तो गिरा हुआ है ही, सच पूछिये तो पशुओंसे भी गया-गुजरा है।

यदि यह कहा जाय कि मनुष्योंको मनुष्यसे ही परस्पर प्रेम करना चाहिये—अपने आरामके लिये पशु-पक्षी, कीट-पतङ्गोंको दुःख पहुँचानेमें और इस प्रकार अपना स्वार्थ साधन करनेमें कोई हर्ज नहीं है; तो ऐसा कहना ठीक नहीं है। इस विषयपर जरा विचार करके देखिये। पशु-पक्षी, कीट-पतङ्गादि जीव बेचारे मनुष्यकी अपेक्षा दीन, निर्बल, अनाथ और असहाय हैं; मनुष्य अपने बुद्धि-कौशलसे उनके प्राण हरण कर सकता है, क्योंकि वह उनसे अधिक साधन-सम्पन्न है। परन्तु इससे हमें क्या यह नहीं समझ रखना चाहिये कि यदि हम बलवानोंको निर्बलोंपर अत्याचार करनेका अधिकार है तो हमसे जो अधिक बलवान् होंगे वे हमपर भी ऐसा ही अत्याचार करेंगे। जब हमें किसीके द्वारा सताये जानेपर दुःख होता है तब हमें यह क्यों नहीं मानना चाहिये कि हमारे द्वारा सताये जानेपर उनको भी दुःख होता होगा। यह याद रखना चाहिये कि आज हम जैसा बर्ताव करेंगे, कालान्तरमें हमें भी वैसे ही बर्तावकी प्राप्ति होगी। अनाथ जीवोंपर अत्याचार करनेवाला एक दिन निश्चय ही उसी प्रकारके अत्याचारोंका शिकार होगा। अन्यायकी जब प्रतिक्रिया होती है तब अन्याय करनेवालेको उसका प्रतिफल भोगना ही पड़ता है। निर्दोष पशु-पक्षी आदिको अपने स्वार्थके लिये मारना अन्याय नहीं है यह कहना बन नहीं सकता; क्योंकि हमें यदि कोई अपने स्वार्थसाधनके लिये मारना चाहते हैं तो हम उसे अन्याय कहते हैं। अतएव पशु-पक्षी आदि मूक प्राणियोंकी हिंसाका प्रचार करनेवालों और इसको न्याय बतलानेवालोंको यह निश्चय समझ रखना चाहिये कि एक दिन उन्हें भी दूसरे बलवानोंद्वारा इसी प्रकार अपना विनाश करवाना

पड़ेगा। यह तो कोई कह ही नहीं सकता कि मैं सभी बातोंमें सबसे अधिक बलवान् और अजेय हूँ और मुझसे अधिक बलवान् और बुद्धिमान् कभी कोई दूसरा होगा ही नहीं। संसारमें एक-से-एक बढ़कर बलवान् और बुद्धिमान् देखनेमें आते हैं। अन्यायका फल तुरंत नहीं तो कुछ दिन बाद अवश्य ही मिलेगा। अन्यायकी शिक्षा एक दिन उस शिक्षा देनेवालेके सामने भीषण मृत्युके रूपमें आती है और तब उसे अपनी करनीपर पछताना पड़ता है। दीन और असहायका अहित या वध करना तो सरासर अन्याय है। जो मनुष्य ईश्वर और धर्मको नहीं मानते, उनको अपने ही हितके खयालसे इस न्यायकी ओर ध्यान देना चाहिये। सबलके द्वारा निर्बलका और बुद्धिमान्के द्वारा मूर्खका नष्ट कर दिया जाना क्या न्याय है ? ऐसा करना क्या मनुष्यत्व है ?

एक बात और है, गम्भीर विचार करके देखनेसे यह भी सिद्ध हो जाता है कि गरीब, असहाय मूक पशु-पक्षियोंको मारनेमें अज्ञानसे जो क्षणिक सुख होता है, उनको पालनेसे उससे लाखों गुना अधिक सुख हो सकता है। सोनेकी बीट देनेवाले पक्षीका सोनेके लोभसे मार डालनेपर सम्भव है तोला-आध तोला सोना मिल जाय परन्तु यदि उसे न मारकर उसका पालन किया जाय तो वह जबतक जीता रहेगा तबतक उससे रोज सोना मिल सकता है। इसी प्रकारकी बात पशु-पक्षियोंके मारने और पालनेके सम्बन्धमें समझनी चाहिये। मनुष्यकी तो रचना ही की गयी है इन सब जीवोंके यथायोग्य पालन और संरक्षणके लिये। वही यदि इन्हें मारनेपर उतारू हो जायगा तो

फिर इनको कौन पालेगा और यह कैसे जी सकेंगे। यदि सभी मनु
इन दीन जीवोंको मारनेपर तुल जायँ और थोड़ी देरके लिये मान
सबको मार डालें और उसीमें सुखका अनुभव करें तो फिर सद
लिये इन जीवोंके द्वारा होनेवाले सुखसे हाथ धो बैठें! एक बात
है—यदि पशु-पक्षियोंका विनाश हो जाय तो मनुष्यका जीवन
नहीं रह सकता। विचार करनेपर यह बात स्पष्ट हो जाती है
पृथ्वीमें पशु-पक्षी और कीट-पतङ्गादिकी तो बात ही क्या है, प
नदी, वृक्ष, लता और अङ्कुरादि सभी अपनी-अपनी शक्तिके अनु
एक-दूसरेका सदा उपकार करते हैं। जलके जीव जलकी गंदगी
भक्षणकर उसको स्वच्छ और निर्मल बनाते हैं, साँप और अज
जहरीली हवाको पीकर वायुको पवित्र करते हैं, वृक्ष-लतादि फ
पुष्पादिके द्वारा सबका उपकार करते और वर्षा बरसानेमें मदद
चाते हैं। परमात्माकी सृष्टिमें जड़-चेतन सभी अपनी-अपनी शक्ति
अनुसार परस्पर सबका उपकार-साधन कर रहे हैं। इसलिये सब
यथायोग्य उन्नतिमें ही अपनी उन्नति है और विनाशमें ही अ
विनाश है। इन्हीं सब बातोंको ध्यानमें रखकर दीर्घदर्शी स
महात्मा ऋषियोंने वेदके आधारपर कर्तव्यका निर्धारण करके
स्मृति, इतिहास और पुराणादि शास्त्रोंकी रचना करके हमलोगों
परम हित किया है। हमें उनकी शिक्षापर श्रद्धापूर्वक ध्यान दे
और उनका पालन करना चाहिये। श्रुति और स्मृतिमें बतल
हुए धर्मको और सदाचारी महात्माओंके आचरणको आदर्श मान
तथा अपने आत्माके अनुकूल जानकर यानी अपनी बुद्धिसे प
णाममें हितकर सोचकर उसका आचरण करना चाहिये।
महाराज ऐसा ही कहते हैं—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥
(मनु २ । १२)

'वेद, स्मृति, सत्पुरुषोंका आचार तथा जिसके आचरणसे अपना हित और मन प्रसन्न हो वह, इस तरह चार प्रकारका यह धर्मका साक्षात् लक्षण कहा गया है।'

महात्माओंके द्वारा रचित संसारमें जितने भी धर्मग्रन्थ हैं, सभीको उन लोगोंने इहलोक और परलोकका हित सोचकर ही बनाया है। देश, काल, बुद्धि, परिस्थिति और स्वभावकी विभिन्नताके कारण मत-मतान्तरोंमें विभिन्नता आ गयी है। उद्देश्य प्रायः सबका यह एक ही है—'वर्तमानमें और भविष्यमें सबका हित हो!'

हमारे ऋषियोंने मनुष्यकी प्रत्येक चेष्टाको धर्मके साथ इसीलिये जोड़ दिया है कि जिसमें श्रद्धा और प्रेमपूर्वक उसका पालन हो। क्योंकि मनुष्यमात्र अपना हित चाहते हैं, और वर्तमान तथा भविष्यमें जो हितकर हो वही वस्तुतः कर्तव्य, न्याय या धर्म है। धर्मके अनुकूल चलनेमें ही मनुष्यका मनुष्यत्व, उत्थान और परम लाभ है और प्रतिकूल चलनेमें ही मनुष्यत्वसे पतन, अवनति और महान् हानि है। यह स्मरण रखना चाहिये कि जबतक संसार है, तबतक ईश्वरका कानून या धर्म उसके साथ अनिवार्यरूपसे रहता है। इसके बिना कोई जीवित ही नहीं रह सकता। ईश्वरीय कानून या न्यायका कोई कितना ही विरोध करे उसका कभी विनाश नहीं हो सकता और यथार्थमें सत्य भी वही है जो अविनाशी हो। ईश्वरका यह न्याय ही सत्य है। मनुष्य यदि न्यायका अनुसरण नहीं करता तो

इससे न्यायका नाश नहीं होता, वरं उस अनुसरण न करनेवालेका ही पतन या विनाश हो जाता है। महाप्रलयके समय जब सारी सृष्टि प्रकृतिमें विलीन हो जाती है, ईश्वरीय कानून (धर्म या न्याय) तब भी बना ही रहता है। क्योंकि सृष्टिका प्रकृतिमें विलीन होना, उसमें रहना और फिर प्रकट होना—यह भी तो ईश्वरीय कानूनके ही अन्तर्गत है। अतएव जो पुरुष परमेश्वरके और परमेश्वरके कानूनके तत्त्व, रहस्य, प्रभाव और महत्त्वको समझ जाता है, वह उस कानून का पालन करके प्रत्यक्षमें सुख-शान्तिको प्राप्त होता है और अन्तमें उसे परमानन्द और परम शान्तिकी प्राप्ति होती है। जो कोई भी इसके तत्त्वको जानेगा वही इसका पालन करेगा और जो जितना पालन करेगा, उतना ही वह अधिकाधिक तत्त्वको जानता रहेगा। संसारमें सभी मनुष्य सुख-शान्ति चाहते हैं; परन्तु उन्हें सुख-शान्तिकी प्राप्ति नहीं होती वरं वे सदा दुःख और अशान्तिका ही अनुभव करते हैं, इसमें प्रधान कारण परमेश्वरके और उनके कानूनके तत्त्व, प्रभाव, रहस्य और महत्त्वका न जानना ही है। न जाननेके कारण ही इसमें उनकी रुचि और श्रद्धा नहीं है। इसीसे वे इसका पालन न करके विपरीत आचरण करते हैं और परिणाममें महान् दुःखोंसे दबे हुए सदा संसारमें भटकते रहते हैं। जबतक विपरीत आचरण करेंगे तबतक भटकना छूटेगा भी नहीं। अतएव जो बुद्धिमान् पुरुष अपना परमकल्याण चाहते हैं उनको उचित है कि वे ईश्वरके कानून या धर्मके पालनको अपना परम कर्तव्य समझें और पूर्ण तत्परताके साथ धर्मका पालन करें।

पशु-धन

आज भारतवर्षकी जैसी दुर्दशा है, उसे देखकर विचारवान् पुरुषमात्र प्राय: दहल उठेंगे; भारतवर्षकी वह पुरानी सभ्यता, उसकी शिक्षाप्रणाली और उसका बल-बुद्धि, तेज आदिसे भरा हुआ जीवन आज कहाँ है। जिस भारतवर्षसे अन्य समस्त देशोंके सहस्रों नर-नारी शिक्षा ग्रहण कर अपना जीवन उन्नत बनाते थे, आज उसका वह अलौकिक गौरव कहाँ है ? आज तो वह सर्वथा बलहीन, विद्याहीन, बुद्धिहीन, गौरवहीन और धनहीन होकर पराधीन हो गया है। इस अवनतिका कारण क्या है ? विचार करनेसे अनेकों कारण जान पड़ते हैं। उन्हीं कारणोंमेंसे पशुओंका ह्रास भी एक प्रधान कारण है। इसी विषयपर कुछ लिखनेका प्रयत्न किया जा रहा है।

पूर्वकालमें इस देशमें पशुओंकी कितनी अधिकता थी, यदि इस बातपर पूर्णरूपसे विचार किया जाय तथा उनकी संख्याका हिसाब लगाया जाय तो बहुत-से लोग उस संख्याको असम्भव-सा समझेंगे। किन्तु यह ऐतिहासिक और प्रामाणिक बात है। वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डमें कथा आती है कि भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके पास त्रिजट नामका एक ब्राह्मण आया और उसने उनसे धनकी याचना की। महाराजने उससे कहा कि 'मेरे पास बहुत-सी गौएँ हैं, आप अपने हाथसे एक डंडा फेंकिये, वह डंडा जहाँ जाकर गिरे,

यहाँसे वहाँतक जितनी गौएँ खड़ी हो सकें, आप ले जाइये।' विचार करनेसे पता चलता है कि जहाँ विनोदरूपमें एक याचकको इस प्रकार हजारों गौएँ दानमें दी जा सकती हैं, वहाँ दान देनेवालेके पास कितनी गौएँ हो सकती हैं? भागवतमें राजा नृगका इतिहास बहुत ही प्रसिद्ध है, वे हजारों गौओंका दान प्रतिदिन किया करते थे। केवल पाँच हजार वर्ष पहलेकी बात है कि नन्द-उपनन्द आदि गोपोंके पास लाख-लाख गौएँ रहा करती थीं, यह बात भी भागवतमें ही है। महाभारतके विराटपर्वसे भी यह पता चलता है कि राजा विराटके पास करीब लाख गौएँ थीं, जिनका हरण करनेके लिये कौरवोंकी विशाल सेनाने दो भागोंमें विभक्त होकर विराटनगरपर चढ़ाई की थी।

उस समय जिस प्रकार गौओंकी अधिकता थी, उसी प्रकार अन्य पशुओंकी भी बहुलता थी। घोड़े, हाथी आदि पशुओंकी संख्याका अनुमान लगाइये, एक अक्षौहिणी सेनामें इक्कीस हजार आठ सौ सत्तर (२१८७०) हाथी, पैंसठ हजार छः सौ दस (६५६१०) घुड़सवारोंके घोड़े और सत्तासी हजार चार सौ अस्सी (८७४८०) रथोंके घोड़े होते हैं। ऐसी तेईस-तेईस अक्षौहिणी सेना लेकर जरासन्धने सत्तरह बार भगवान् श्रीकृष्णपर चढ़ाई की थी एवं प्रतिबार भगवान्‌ने सबका विनाश कर दिया था। महाभारतके उद्योगपर्वमें, कौरवोंकी ओरसे ग्यारह अक्षौहिणी और पाण्डवोंकी ओरसे सात अक्षौहिणी सेना कुरुक्षेत्रके मैदानमें इकट्ठी हुई थी, ऐसा उल्लेख मिलता है। उनमें केवल ग्यारह मनुष्य ही शेष बचे थे, बाकी सब-की-सब सेना मारी गयी थी। इस प्रकार बड़े-बड़े संहार होते रहनेपर भी करोड़ों पशु वर्तमान थे। किन्तु बड़े दुःखकी

साथ लिखना पड़ता है कि आज उस अनुपातसे विचार करनेपर रुपयेमें एक आना भी पशुओंकी संख्या नहीं रही है।

देश, जाति, धर्म, समाज, व्यापार तथा स्वास्थ्यकी रक्षा और वृद्धिमें पशु-धन एक मुख्य हेतु माना गया है। आर्थिक दृष्टिसे पशु-धनका होना सबके लिये गौरवकी बात समझी गयी है, खासकर वैश्यजातिके लिये तो यह केवल आर्थिक महत्त्व ही नहीं रखता, वल्कि पशुपालन उनके धर्मका एक मुख्य अङ्ग भी है। मनुस्मृतिमें कहा है—

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च॥
(१।९०)

अर्थात् 'वैश्योंका धर्म पशुओंका पालन करना, दान देना, यज्ञ करना, वेद-शास्त्रोंको पढ़ना, व्यापार, ब्याज और कृषिद्वारा जीविका चलाना है।'

यहाँ यह बात भी ध्यानमें रखनेकी है कि कृषिकर्म करनेवाले सभी मनुष्य वैश्योंके ही तुल्य हैं। अतः उन सबके लिये भी पशु-पालन धर्मका एक मुख्य अङ्ग हो जाता है; किन्तु आज भारतवर्ष-में बहुत ही कम वैश्य और कृषिकर्म करनेवाले लोग ऐसे हैं जो आर्थिक और धार्मिक दृष्टिसे इतना महत्त्व रखनेवाली वस्तुकी ओर यथोचित ध्यान देते हों। वैश्य और किसान पशुओंकी सहायतासे खेत जोतकर उपजाये हुए अन्नसे सम्बन्ध रखते हैं, उनकी नस-नसमें पशुओंके परिश्रमसे उत्पन्न हुए अन्नका रक्त दौड़ता है। किन्तु मूक पशुओंकी दशा सुधरे, उनकी वृद्धि हो, वे पुष्ट हों, इस बातकी ओर उनका ध्यान बहुत ही कम रहता है।

सब पशुओंकी उन्नतिकी बात तो दूर रही, पशुओंमें सर्वश्रेष्ठ गौएँ, जिनका महत्त्व शास्त्रोंमें धर्मकी दृष्टिसे भी बहुत अधिक बतलाया गया है और जिसका आदर्श स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं गौओंको चराकर दिखलाया है तथा जिसे वैश्योंके लिये धर्मका प्रधान अङ्ग बतलाया है (गीता १८ । ४४), जो देवता, ऋषि, पितर, मनुष्य आदि सबको अपने दूध-दहीके द्वारा तृप्त करनेवाली हैं, आज उनकी कितनी उपेक्षा हो रही है, यह देखकर चित्तमें खेद हुए बिना नहीं रह सकता । प्रतिवर्ष लाखोंकी संख्यामें गौओंका ह्रास होता चला जा रहा है तथापि हिन्दू-जनता उनकी रक्षासे इस प्रकार उपराम-सी हो रही है, मानो उसे इस बातकी खबर ही नहीं है। इसका भयानक परिणाम यह हो रहा है कि मनुष्य-जीवनके लिये धर्म और स्वास्थ्य दोनोंकी दृष्टिसे अत्यन्त आवश्यक माने हुए दूध, घी, दही आदिका सर्वसाधारणके लिये प्राप्त होना कठिन होता जा रहा है। दूध-दहीके अभावसे भारतीय सन्तानका स्वास्थ्य किस प्रकार गिरता जा रहा है, यह तो धर्मको न माननेवाले भी प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं। जहाँ कुछ दिन पहले इसी देशमें पवित्र दूध पैसे सेर, पवित्र घी तीन-चार आने सेर मिलता था, वहाँ आज पवित्र दूध दो आने सेर और पवित्र घी एक रुपये सेर भी सब जगह सर्वसाधारणको नहीं मिल पाता है। यदि समय रहते भारतवासी सावधान नहीं होंगे, इसी तरह गोधनकी उपेक्षा करते रहेंगे तथा गौओंके बढ़ते हुए ह्रासको रोकनेकी चेष्टा नहीं करेंगे तो भविष्य और भी भयानक हो सकता है। उस समय कोई उपाय करना भी कठिन हो जायगा, इसलिये विचारवान्

मनुष्योंको चाहिये कि वे पहलेसे ही सावधान हो जायँ। खासकर प्रत्येक हिन्दूके लिये तो इस समय यह एक प्रधान कर्तव्य हो गया है कि वे इस ओर ध्यान दें और सब प्रकारसे गौओंकी रक्षाके लिये चेष्टा करें।

गौओंका ह्रास होनेमें निम्नलिखित कारण मुख्य हैं—

१–(क) जनताके अंदर प्रतिदिन धर्म और ईश्वरका भय कम होता जा रहा है। अतः कम दूध देनेवाली और दूध न देनेवाली गौओंको कसाईके हाथ बेचनेमें अधिकांश हिन्दू-जनता भय नहीं करती।

(ख) बहुत-से निर्दय किसान दूध न देनेवाली गौओंको अपने घरसे निकाल देते हैं। वे मारी-मारी फिरती हैं और अन्तमें मवेशीखानेमें पहुँचायी जाकर कसाईके हाथमें पड़ जाती हैं।

२–प्रतिवर्ष सूखे और ताजे मांसके लिये तथा चमड़ेके लिये लाखों जीवित गौओंकी हत्या की जाती है।

३–बहुत-से धनके लोभी हीनवृत्तिवाले मनुष्य अधिक दूध देनेवाली गौओंको खरीदकर उनके बछड़ेको तो निरर्थक समझकर कसाईके हाथ बेच देते हैं और फूँकेके द्वारा उन गौओंको विवश करके उनका सारा दूध निकाल लेते हैं। परिणाम यह होता है कि कुछ ही दिनोंमें वे गौएँ निकम्मी हो जाती हैं। और उस समय वे उन्हें भी कसाईके हाथ बेच डालते हैं।

४–साँड़ अच्छे न मिलनेके कारण गौओंकी नस्ल बिगड़ती

जाती है, उनसे अच्छी सन्तान उत्पन्न नहीं हो सकती। उनके बच्चे बहुत ही कम आयुवाले, कमजोर और दुबले-पतले होते हैं।

५-गौओंके निमित्त छोड़ी हुई गोचरभूमिको जमींदार और किसान आदि लोभवश जोतते जाते हैं। अतः चारेके अभावमें प्रतिवर्ष हजारों गौएँ मर जाती हैं।

६-मांस खानेवाले मनुष्योंके लिये और बाढ़, महामारी, अकाल आदि दैवी कोपके कारण प्रतिवर्ष लाखोंकी संख्यामें गौएँ नष्ट हो जाती हैं।

इस ह्रासको रोकनेके लिये निम्नलिखित उपाय काममें लाये जा सकते हैं—

१-धार्मिक पुरुषोंको चाहिये कि पत्र और व्याख्यानादिद्वारा लोगोंमें धार्मिक भाव उत्पन्न करें, जिससे धार्मिक भावोंकी वृद्धि होकर लोगोंमें गौओंके प्रति दयाका सञ्चार हो और वे लोग गौओंको कसाईके हाथ न बेचें तथा दूध न देनेवाली गौओंकी उपेक्षा भी न करें।

२-पशुओंके अभावसे देशकी दुर्दशा दिखलाकर सरकारके पास अपील करते हुए, जो प्रतिवर्ष हजारों टन मांस विदेशमें भेजनेके लिये गौओंकी हत्या की जाती है, उसे बंद कराना चाहिये।

३-मांस खानेवाले भारतवासियोंको माँसकी अपेक्षा दूध-घीमें अधिक लाभ दिखलाकर तथा गौओंके ह्राससे देशका पतन अनिवार्य है, यह समझाकर प्रेमपूर्वक शान्तिसे मांस खानेसे रोकना चाहिये।

४–अतिशय तत्परताके साथ फूँकेकी प्रथा (जो कि कानूनके भी सर्वथा विरुद्ध है) को ग्राम-ग्राममें चेष्टा करके सरकारके द्वारा बंद कराना चाहिये।

५–प्रत्येक ग्राममें अच्छी नस्लकी गौओंकी वृद्धि हो, इसके लिये धनिक एवं गोशालाध्यक्षोंको अच्छी नस्लके साँड़ोंको पालना चाहिये। अथवा सरकारसे अच्छी नस्लके साँड़ोंका प्रबन्ध करवाना चाहिये।

६–सरकार, धनिक, जमींदार, किसान आदिसे प्रार्थना करके सभी ग्रामोंमें गोचरभूमि छुड़वानेकी चेष्टा करनी चाहिये।

७–जहाँ बाढ़, भूकम्प, अकाल आदि दैवी कोपसे चारेके अभावके कारण गौएँ मरती हों, वहाँ तन, मन, धन लगाकर उनके चारे आदिका प्रबन्ध करके उनको मृत्युके मुखसे बचानेके लिये यथेष्ट परिश्रम करना चाहिये।

८–प्रत्येक किसान और गृहस्थको अपने-अपने घरोंमें यथाशक्ति कम-से-कम एक या दो गौओंको अवश्य पालना चाहिये।

९–पूर्णरूपसे आन्दोलन करके ऐसे कानून बनवाने चाहिये, जिनसे गोवध कतई बंद हो जाय।

विचारवानोंको उचित है कि उपर्युक्त उपायोंको काममें लाते हुए यथाशक्ति गौओंकी रक्षा करें। अर्जुनने तो केवल गोरक्षाके लिये बारह वर्षका वनवास स्वीकार किया था, इस समय यदि उतना न हो सके तो जितनी बन सके उतनी चेष्टा तो तन, मन, धनसे करनी ही चाहिये।

वनस्पति घीसे हानि

आजकल जो वेजिटेबल (वनस्पति) घीका प्रचार उत्तरो
बढ़ रहा है, यह हमारे देशके लिये बड़ा ही घातक है। इ
स्वास्थ्य और धर्मकी बड़ी हानि हो रही है। असलमें यह घी है
नहीं। यह तो जमाया हुआ तेल है। यह मूँगफली, नारियल त
बिनौले आदिके तेलोंसे एवं मछलीके तेलसे तैयार होता है। इ
बनानेमें निकेल धातु तथा हाइड्रोजन गैस काममें लिया जाता है
वह चीजें अपवित्र तो हैं ही, स्वास्थ्यके लिये भी महान् हानि
हैं। निकेलमें एक प्रकारका विष होता है। इनसे तेल जम जा
है। उसकी गन्ध नष्ट हो जाती है और सफेद रंग बन जाता है

इस विषयमें बंगालके प्रसिद्ध रासायनिक तथा 'खादी-प्रतिष्ठा
के सञ्चालक सोदपुरनिवासी श्रीसतीशबाबूसे गीताप्रेसके म
श्रीघनश्यामदास जालान तथा मैनेजर श्रीबजरङ्गलाल चाँदगोठि
मिले थे। उन्होंने यही कहा कि यह वेजिटेबल घी सभी प्रकारके
या चर्बी आदिसे बन सकता है और निकेल डाल देनेके का
इसके बननेपर इसकी परीक्षा करनेके लिये कोई ऐसा यन्त्र नहीं
जिससे यह पता चल सके कि यह मूँगफलीके तेलसे बनाया ग
है या मछलीके तेलसे। जिस समय जो तेल सस्ता होता है उ
यह बनाया जा सकता है। इस समय बंगाल आदिमें मूँगफली
तथा मछलीका तेल अन्य सब तेलोंसे सस्ते हैं, इसलिये इस स
यह मूँगफली तथा मछलीके तेलसे बनाया जाता है।

वेजिटेबल घी बनानेवाले कई भाई यह गारंटी भी देते हैं
यह मूँगफलीके तेलसे बना है; किन्तु उस गारंटीका कोई मूल्य न

क्योंकि इस घीके बननेपर इसकी कोई परीक्षा नहीं कर सकता कि यह किससे बना है। रही विश्वासकी बात, सो विश्वास इसलिये नहीं किया जा सकता कि जिस समय मूँगफलीके तेलकी अपेक्षा मछलीका तेल सस्ता मिलता होगा उस समय वे मूँगफलीके तेलसे ही यह चीज बनायें यह बात नहीं समझमें आती। क्योंकि मनुष्य लोभके वशमें होकर कौन-सा पाप नहीं कर सकता?

मछलीका तेल महान् अपवित्र तो है ही, इसके अलावा इसमें निरपराध मछलियोंकी हिंसा भी होती है और फिर इसे बनानेके लिये इसमें जो निकेलका प्रयोग किया जाता है, उससे धर्मकी हानिके साथ-साथ स्वास्थ्यकी हानि भी होती है। देशके पशुओंकी हानि भी होती है। क्योंकि इसके सामने गाय-भैंसका घी मूल्यमें नहीं टिक सकता। असली घीकी बिक्री हुए बिना किसान लोग गाय-भैंस नहीं पाल सकेंगे। गायोंके बिना बैल नहीं मिलेंगे, बैलोंके बिना खेती नहीं हो सकेगी और खेतीके बिना प्रजाका जीवन बहुत ही कष्टमय और निराशापूर्ण हो जायगा। यह बात बहुत लोग अनुभव कर चुके हैं कि वेजिटेबल घीके खानेसे अनेकों बीमारियाँ होकर मनुष्यकी आयुका ह्रास होता है। अतः यह वस्तु देश, धर्म, खेती, पशु और स्वास्थ्य सभीके लिये महान् ही हानिकारक है!

बाजारमें असली घीके नामसे जो घी बिकता है, उस घीमें भी लोग सस्ता होनेके कारण लोभवश इसका मिश्रण कर देते हैं। घीमें उसका मिश्रण कर देनेपर इसका पता लगाना बहुत मुश्किल है। असल-नकलकी जाँचके लिये मशीनें भी आयीं किन्तु उनसे भी इसका पूरा निर्णय न हो सका। नारियल और मूँगफली दोनोंके तेलोंको मिलाकर अथवा मछलीका तेल तथा मूँगफली या नारियलका तेल मिलाकर

वेजिटेबल घी बनाया जाय और वह असली घीमें मिला दिया जा तो इन मशीनोंसे उसका कुछ भी पता नहीं लगाया जा सकता।

इस वेजिटेबल घीके इतने अधिक चल पड़नेके कारण देश, धर्म और स्वास्थ्यकी रक्षा चाहनेवाले भाइयोंको आजकल पवित्र घी मिलना बहुत ही कठिन हो गया है। मेरी तो यह राय है कि देश, धर्म और स्वास्थ्यकी रक्षाके लिये मिले तो शुद्ध घी खाना चाहिये, नहीं तो मूँगफलीका तेल खाना चाहिये। वेजिटेबल घी करीब २०) मन मिलता है और मूँगफलीका तेल करीब १०) मन। वेटिटेबल घी खानेसे व्यर्थ ही अधिक खर्च लगता है और धर्म तथा स्वास्थ्यकी हानि होती है, शुद्ध मूँगफलीका तेल खानेसे पैसोंकी बचत होती है तथा धर्म एवं स्वास्थ्यकी भी हानि नहीं होती। अतः वेजिटेबलकी अपेक्षा तो शुद्ध मूँगफलीका तेल ही खाना अच्छा है। घी ही खाना हो तो दूध खरीदकर उसमेंसे मक्खन, क्रीम या घी निकालकर उसे खाना चाहिये। इससे पशु, खेती, देश, धर्म और स्वास्थ्य-इन सबकी रक्षा हो सकती है। इस वेजिटेबल घीको तो किसी प्रकारसे भी नहीं खाना चाहिये, चाहे वह केवल वेजिटेबल हो अथवा असली घीमें मिला हुआ। न इस घीका लोभवश व्यापार ही करना चाहिये बल्कि देश, धर्म, पशु, कृषि और स्वास्थ्यकी रक्षा चाहनेवाले देशसेवक तथा धर्मप्रेमी भाइयोंको तो इस घीका प्रचार रोकनेके लिये कानूनकी रक्षा करते हुए यथाशक्ति घोर विरोध करना चाहिये। खेदकी बात है कि लोभके कारण हमारे व्यवसायी सज्जन इसके व्यापारमें अधिक अग्रसर हैं। उनसे मेरी खास तौरसे प्रार्थना है कि वे इसे देश और धर्मके लिये महान् हानिकर समझकर इसको सर्वथा त्याग देनेकी कृपा करें।

प्राचीन हिन्दू राजाओंका आदर्श

हिन्दुओंकी समाजव्यवस्था सभी दृष्टियोंसे आदर्श है । क्योंकि उसके निर्माता वे क्रान्तदर्शी ऋषि थे, जिन्होंने ज्ञान, तप, योग, भक्ति एवं सदाचारके प्रभावसे अखिल विश्वके रहस्यको हृदयङ्गम कर लिया था, जिनकी दृष्टि सर्वथा राग-द्वेषशून्य एवं निर्भ्रान्त थी, जो समदर्शी थे, जिन्हें तीनों कालोंका ज्ञान था और जिनका एक-मात्र व्रत लोककल्याणका अनुष्ठान था । वे वनोंमें रहकर फल-मूलसे अपना निर्वाह करते थे, वल्कल धारण करते थे और बदलेमें कुछ भी न चाहकर सदा लोकहितमें तत्पर रहते थे । उनमें स्वार्थकी गन्ध भी नहीं थी; अतएव उन्होंने संसारको जो कुछ ज्ञान दिया है, वह सर्वथा निर्भ्रान्त है और उसको आचरणमें लानेसे ही संसारमें सुख-शान्तिका सञ्चार हो सकता है और सब लोग अपने-अपने कर्तव्य-का पालन कर लौकिक एवं पारलौकिक दोनों प्रकारका सुख प्राप्त कर सकते हैं । जितने अंशमें जगत्‌ने उनके बतलाये हुए मार्गका अनुसरण किया, उतने ही अंशमें वह सुखी रहा और उस मार्गसे जितना दूर वह हट रहा है, सुख-शान्ति भी उससे उतने ही दूर भागते जा रहे हैं । आज जगत्‌में जो भयंकर महासमर छिड़ा हुआ है और पहले भी जब-जब संसारमें इस प्रकारके उपद्रव हुए, वे ऋषियोंके चलाये हुए मार्गका अनुसरण न करनेके कारण ही हुए और अब भी संसार यदि अपना कल्याण चाहता है तो उसे ऋषियोंके बतलाये हुए मार्गपर चलना चाहिये; अन्यथा सुख-शान्तिकी आशा दुराशामात्र होगी ।

समाज विराट्‌रूप भगवान्‌का शरीर है। ब्राह्मण उक्त समाज-रूपी शरीरका मुख अथवा मस्तकस्थानीय है, क्षत्रिय बाहु हैं, वैश्य ऊरु (जंघा) और शूद्र पैर हैं—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्‌बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्‌भ्याँ शूद्रो अजायत ॥

(यजुर्वेद ३१।११)

मस्तकका कार्य है बुद्धिके द्वारा शरीरका सञ्चालन करना, भुजाओंका कार्य है उसकी भौतिक आपत्तियोंसे रक्षा करना, ऊरुओं-का कार्य है उसको स्थिर रखना तथा पैरोंका कार्य है उसे गति प्रदान करना, उसके सारे कार्योंको चलाना। शरीरके लिये उपर्युक्त अङ्गोंकी जो उपयोगिता है, वही समाजके लिये चारों वर्णोंकी है। इसी सिद्धान्तपर चातुर्वर्ण्यकी सृष्टि हुई और जबतक यह व्यवस्था सुचारु रूपसे चलती रही, तबतक समाजमें सर्वत्र सुख-शान्तिका साम्राज्य रहा। जबसे यह व्यवस्था बिगड़ी, लोगोंने अपने-अपने वर्णाश्रमोचित कर्तव्योंका पालन छोड़ दिया; तभीसे संसारके लिये विपत्तिका सूत्रपात हुआ और सर्वत्र कलह, राग-द्वेष एवं अशान्तिका विस्तार होने लगा।

ब्राह्मणोंका कार्य है संसारको ज्ञान प्रदान करना—पथप्रदर्शन करना, लोकहितकी व्यवस्था करना—कानून बनाना। क्षत्रियोंका कार्य है अस्त्र-शस्त्रके द्वारा राष्ट्रकी बाहरी आक्रमणोंसे तथा चोर-डाकुओंसे रक्षा करना, न्यायकी समुचित व्यवस्था करना, अत्याचारियोंका निग्रह करना, ब्राह्मणोंके बतलाये हुए मार्गपर लोगोंको चलाना। वैश्योंका कार्य है खेती, व्यापार और गोरक्षाके द्वारा समाजमें सुख-समृद्धिका विस्तार करना, राष्ट्रकी सम्पत्तिको बढ़ाना, धनका अर्जन कर उसे

लोकोपकारी कार्योंमें लगाना और इस प्रकार समाजका पोषण करना। तथा शूद्रोंका कार्य है शिल्प, कला तथा उद्योग-धंधोंद्वारा समाजकी विभिन्न आवश्यकताओंको पूर्ण करना एवं सेवा करना तथा समाजको सुखी बनाना।

आज हमें अन्य वर्णोंकी चर्चा न कर केवल क्षत्रियों, विशेषकर राजाओंके कर्तव्यों एवं आदर्शके सम्बन्धमें कुछ विचार करना है। 'क्षत्रिय' शब्दका अर्थ ही है रक्षा करना (क्षतात् त्रायते)। अतः क्षत्रियोंका, विशेषकर राजाओंका प्रधान कर्तव्य है—प्रजाके जान-मालकी, विशेषकर गौ-ब्राह्मणोंकी (जो धर्मके आधार हैं) तथा लोगोंके चरित्रकी, सदाचारकी, विशेषकर स्त्रियोंके सतीत्वकी रक्षा करना (क्योंकि उसीपर रक्तकी पवित्रता निर्भर है), प्रजाको सब प्रकारसे सुखी एवं समृद्ध बनाना, उसके कष्टोंको दूर करना, उसकी सभी उचित आवश्यकताओंको पूर्ण करना, उसे धर्ममार्गपर चलाना, उसकी सब प्रकारसे उन्नति करना। इस प्रकार राजाका प्रजाके प्रति वही कर्तव्य है, जो पिताका अपनी सन्तानके प्रति होता है। इसीलिये राजस्थानमें अब भी प्रजाजन राजाको 'मा-बाप' तथा 'अन्नदाता' आदि शब्दोंसे सम्बोधित करते हैं। राजा दिलीपके सम्बन्धमें महाकवि कालिदासने क्या ही सुन्दर कहा है—

प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद्भरणादपि।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः॥

(रघुवंश १। २४)

'प्रजाजनोंकी शिक्षा-दीक्षाका समुचित प्रबन्ध करने, उन्हें धर्ममार्गपर चलाने तथा उनकी रक्षा एवं भरण-पोषण करनेके कारण

वही (राजा दिलीप) उनके वास्तविक पिता (पाता = रक्षक) थे, लौकिक पिता तो केवल जन्म देनेवाले थे।' रक्षा करना विष्णुका कार्य है; इसीलिये हमारे शास्त्रोंमें राजाको विष्णुरूप तथा ईश्वरका अंश अथवा विभूति कहा गया है। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें राजाको अपनी विशेष विभूति बतलाया है—'नराणां च नराधिपम्' (१०।२७)। जो राजा अपने इस कर्तव्यसे च्युत हो जाते हैं, रक्षकके बदले प्रजाके भक्षक बन जाते हैं, जो प्रजाको शोषण कर अपने ही ऐश-आराम तथा सुखकी सामग्री जुटानेमें व्यस्त रहते हैं तथा प्रजाके कष्टोंकी ओरसे आँख मूँद लेते हैं, जो स्त्रियोंके सतीत्वकी रक्षा न कर उल्टा उनका सतीत्व नष्ट करते हैं, उन्हें बहुधा इस जन्ममें इसका दुष्परिणाम भोगना पड़ता है और मरनेपर तो नरककी भीषण यन्त्रणाएँ भोगनी पड़ती हैं।

शासनकी समुचित व्यवस्थाके लिये, प्रजाजनोंकी शिक्षा-दीक्षा, उनके जान-माल तथा स्वास्थ्यकी रक्षाके प्रबन्धके लिये, उनकी उचित आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये तथा उनके कष्टोंके निवारणके लिये द्रव्यकी भी अपेक्षा होती ही है। अतएव राजाको प्रजासे उचित मात्रामें कर वसूल करनेकी आज्ञा दी गयी है। परन्तु करकी रकम उतनी ही होनी चाहिये जितनी आसानीसे अदा की जा सके, जिसे देनेमें भार न मालूम हो और जिसकी अदायगीके बाद भी खाने-पहनने तथा अन्य उचित आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये प्रजाजनोंके पास काफी द्रव्य बच रहे। और जितना द्रव्य करके रूपमें वसूल किया जाय, उसे प्रजाहितके ही कार्योंमें खर्च किया जाय; जितना वसूल किया जाय, उसका लाभ प्रजा

रूपमें उन्हें ही पहुँचाया जाय। इसके लिये राजाको सूर्यका उदाहरण अपने सामने रखना चाहिये। सूर्य जितना जल अपनी किरणोंद्वारा समुद्रादिसे खींचता है, उसे वर्षाके रूपमें बरसाकर वह पृथ्वीको तर कर देता है और उसे नाना प्रकारके अन्न, फल, ओषधि आदि उत्पन्न करनेके योग्य बना देता है, जिससे प्रजा सुखी हो जाती है। राजा दिलीपके सम्बन्धमें महाकवि कालिदासने यह बात कही है—

प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः॥

(रघुवंश १ . १८)

'प्रजाकी सुख-समृद्धिके लिये ही वह (दिलीप) उनसे कर लिया करता था। क्योंकि हजारगुने रूपमें पृथ्वीपर बरसानेके लिये ही भगवान् सूर्य जलका आकर्षण करते हैं।'

इसी बातको गोस्वामी तुलसीदासजीने दूसरे दृष्टान्तसे समझाया है। वे कहते हैं—

मुखिआ मुखु सो चाहिऐ खान पान कहुँ एक।
पालइ पोषइ सकल अँग तुलसी सहित बिबेक॥

(अयोध्या० ३१५)

'मुखिया (स्वामी अथवा राजा) मुखके समान होना चाहिये, जो खाने-पीनेको तो एक (अकेला) है; परन्तु विवेकपूर्वक सब अङ्गोंका पालन-पोषण करता है।'

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार मुख खाता है भोजनके रसको सारे अङ्गोंमें पहुँचाकर उन्हें पुष्ट बनानेके लिये, केवल अपने

लिये नहीं, उसी प्रकार राजाको चाहिये कि वह प्रजाके क
उपयोग करनेके लिये ही उससे कर वसूल करे, अपने ऐश-आ
एवं भोगके लिये नहीं। गोस्वामीजीने इसीको राजधर्मका
सर्वस्व बतलाया है—'राजधरम सरबसु एतनोई।'

इसी आदर्शका पालन करनेके लिये प्राचीन कालमें राजा
विश्वजित् यज्ञ किया करते थे, जिसमें वे अपना सर्वस्व लुटा दे
थे और स्वयं अकिञ्चन बन जाते थे। दिलीपके पुत्र महाराज
सम्बन्धमें, जिनके वंशमें भगवान् श्रीरामचन्द्रजी अवतीर्ण हुए
जिनके नामसे उनका कुल विख्यात हुआ, यह वर्णन आता है
उन्होंने विश्वजित् यज्ञमें अपना सब कुछ दान दे दिया था—
तक कि उनके पास धातुके पात्रतक नहीं रह गये थे, मि
बर्तनोंको वे व्यवहारमें लाते थे। उनकी इस दीन दशाको देख
कौत्सनामक स्नातक ब्राह्मणकुमारका,जो गुरुदक्षिणाके लिये
की याचना करने उनके पास आया था—साहस नहीं हुआ
उनसे कुछ माँगे।

तात्पर्य यह है कि राजाका सब कुछ प्रजाके लिये ही
था। राजकीय कोषपर भी राजा अपना निजी स्वत्व नहीं मानते
वे तो ट्रस्टीकी भाँति अपनेको उसका रक्षकमात्र समझते
इसीलिये प्रजाके लिये उसे वितीर्ण कर देनेमें उन्हें तनिक
कष्ट नहीं होता था। जो जिसकी सम्पत्ति है, उसे उसके
खर्च करनेमें खजानचीको कष्ट क्यों होने लगा। यही कारण था
राजा और प्रजामें परस्पर बड़ा सद्भाव रहता था। राजा प्र
लिये सर्वस्व होमनेको तैयार रहते थे और प्रजा भी राजाके

प्राणतक देनेको तैयार रहती थी। यही कारण था कि भगवान् श्रीरामको वन जाते देखकर सारे अयोध्यावासी घर और कुटुम्बकी ममताको त्यागकर उनके पीछे हो लिये और उनकी खोजमें जंगलोंमें भटके। आज भगवान् रामकी-सी प्रजावत्सलता और अयोध्यावासियोंका-सा त्याग कहाँ देखनेको मिलता है। बात यह है कि उस समय सबका ध्यान अपने-अपने कर्तव्यपालनकी ओर था, लोग अधिकारके लिये नहीं लड़ते थे, बल्कि कर्तव्यके पीछे अपने न्याय्य अधिकारका त्याग कर देते थे। यही कारण था कि जहाँ आज एक-एक बित्ता जमीनके लिये भाइयोंकी तो बात ही क्या है, पिता और पुत्रमें मुकद्दमेबाजी होती देखी जाती है, वहाँ भगवान् श्रीरामने जेठे होनेके कारण राज्यके अधिकारी एवं प्रजाके अतिशय अनुरागभाजन होनेपर भी अपने छोटे भाई भरतके लिये हँसते-हँसते उसका त्याग कर दिया और स्वयं चौदह वर्षतक वनमें रहना स्वीकार किया। और इधर भरतने भी रामके द्वारा त्यागे हुए उस राज्य-वैभवको स्वीकार नहीं किया और धरोहरकी भाँति उसकी रक्षा करते हुए भी मनसे अपनेको उससे सर्वथा दूर रक्खा!

महाभारतके वनपर्वमें एक बड़ा सुन्दर आख्यान मिलता है। एक बार महर्षि अगस्त्यकी पत्नी लोपामुद्राने अपने पतिसे आभूषणोंकी याचना की। अगस्त्यजी अपनी पत्नीकी अभिलाषाको पूर्ण करनेकी इच्छासे श्रुतर्वा नामक राजर्षिके पास गये और उनसे कहा कि 'हे राजन्! मैं तुमसे धनकी याचना करने आया हूँ; अतः तुम दूसरोंको दुःख न देकर प्राप्त किये हुए धनमेंसे कुछ

भाग मुझे दो।' राजा श्रुतर्वाने महर्षिके इस आदेशको सु
अपने आय और व्ययका पूरा ब्यौरा उनको दिखलाया और
कि इसमेंसे जो धन आप ठीक समझें, ले सकते हैं। समान दृष्टि
अगस्त्य मुनिने जब आय-व्ययको देखा तो उन्होंने दोनोंको
बराबर पाया। तब उन्होंने सोचा कि यदि मैं इस राजासे
लेता हूँ तो इसकी प्रजाको कष्ट होगा। अतः उन्होंने उस रा
धन लेना अस्वीकार कर दिया और उस राजाको साथ
वे दूसरे राजा (व्रध्नश्व) के पास गये, किन्तु वहाँ भी उ
यही कैफियत पायी। वहाँसे व्रध्नश्वको भी साथ लेकर वे तीसरे
त्रसद्दस्युके पास गये, किन्तु वहाँ भी उन्होंने आय-व्ययका हि
बराबर पाया। अन्तमें सब मिलकर इल्वल नामके दैत्यके
गये, जिसकी आय व्ययकी अपेक्षा बहुत अधिक थी।
महर्षिको बहुत-सा धन दिया। इस कथासे यह पता चलता है
प्राचीन कालके राजा लोग अपना आय-व्यय बराबर रखते
वे जो कुछ प्रजासे करके रूपमें वसूल करते थे, उसे सारा-का
प्रजाके काममें ही लगा देते थे। आज भी यदि राजालोग
आदर्शका पालन करें तो प्रजाके लिये कोई असन्तोषका
न रह जाय और वे सब उन्हें हृदयसे चाहने लगें।

जिस प्रकार सन्तानके सुधरने और बिगड़नेकी सारी जिम्मे
माता-पिताके ऊपर होती है, उसी प्रकार प्रजाकी भलाई-बुरा
सारा भार राजाके ऊपर होता है। कहा भी है—'यथा राजा
प्रजा।' यदि राजा धर्मात्मा, सदाचारी एवं न्यायशील होता
प्रजामें भी ये सारे गुण क्रमशः उतर आते हैं। इसके वि

यदि राजा दुराचारी, अन्यायी एवं प्रजापीड़क होता है तो प्रजामें भी उच्छृङ्खलता, अनाचार, पापाचार एवं प्रतिहिंसाके भाव फैल जाते हैं और इस प्रकार राजा और प्रजा दोनों ही अधोगतिको प्राप्त होते हैं।

जिस प्रकार पिताको अथवा गुरुको अपने आचरणके सम्बन्धमें सदा सतर्क रहना चाहिये; उसे कोई ऐसी चेष्टा नहीं करनी चाहिये जिसका प्रभाव उसकी सन्तानपर अथवा शिष्योंपर अच्छा न पड़े, जिसके कारण उसकी सन्तान अथवा शिष्योंके बिगड़नेका डर हो, उसी प्रकार राजाके लिये भी यह आवश्यक है कि वह प्रजाको धर्ममार्गपर चलानेके लिये स्वयं तत्परताके साथ त्यागपूर्वक धर्मका आचरण करे। साधारण व्यक्तियोंकी अपेक्षा नेताओं, धर्मगुरुओं, अध्यापकों और राजाओंकी जिम्मेवारी कहीं अधिक होती है। साधारण व्यक्ति तो केवल अपने तथा अपनी सन्तानके ही आचरणके लिये उत्तरदायी होते हैं; किन्तु नेता, गुरु, अध्यापक और राजा क्रमशः अपने अनुयायियों, शिष्यों तथा प्रजाजनोंके आचरणके लिये भी उत्तरदायी होते हैं। शिष्य बिगड़ता है तो उसके लिये लोग गुरु और अध्यापकको ही दोष देते हैं, अनुयायियोंका दोष उनके नेतापर मँढ़ा जाता है और प्रजाके अधर्माचरणके लिये लोग राजाको ही दोषी ठहराते हैं। इसीलिये राजाओंको विशेष चरित्रवान् एवं धर्मात्मा होना चाहिये, जिससे प्रजाजन भी उनका अनुकरण कर चरित्रवान् एवं धर्मात्मा बन सकें।

हमारे शास्त्रोंमें तो यहाँतक कहा गया है कि यदि किसी देशमें दैवी प्रकोप अधिक होते हैं—दुर्भिक्ष, बाढ़, भूकम्प, महामारी

आदिके दौरे होते हैं, लोगोंकी अकालमृत्यु होती है, विधवाओंकी संख्या अधिक होती है तो इसके लिये उस देशका राजा दोषका भागी समझा जाना चाहिये। राजा यदि धर्मात्मा होता है तो उपर्युक्त उपद्रव हो ही नहीं सकते।

महाराज युधिष्ठिरके सम्बन्धमें महाभारतमें यह वर्णन मिलता है कि जब वे अपने भाइयोंके साथ विराटनगरमें छिपकर रह रहे थे उस समय कौरवोंके द्वारा उनकी खोजके लिये अनेकों प्रयत्न किये गये, परन्तु सब निष्फल रहे। तब महात्मा भीष्मपितामहने उनको खोज निकालनेकी एक युक्ति बतलायी। वे बोले—'जिस नगर अथवा देशमें महाराज युधिष्ठिर रहते होंगे, वहाँके राजाओंका अमङ्गल नहीं हो सकता। उस देशके मनुष्य निश्चय ही दानशील, उदार, शान्त, लज्जाशील, प्रियवादी, जितेन्द्रिय, सत्यपरायण, हृष्ट-पुष्ट, पवित्र तथा चतुर होंगे। वहाँकी प्रजा असूया, ईर्ष्या, अभिमान और मत्सरतासे रहित होगी तथा सब लोग स्वधर्मके अनुसार आचरण करनेवाले होंगे। वहाँ निःसन्देह अच्छी तरहसे वर्षा होगी। सारा-का-सारा देश प्रचुर धन-धान्य-सम्पन्न और पीड़ारहित होगा। वहाँके अन्न सारयुक्त होंगे। वहाँकी पवित्र वायु सुखदायक होगी। पाखण्डरहित धर्मका स्वरूप देखनेमें आवेगा और किसीको भी भय न होगा। वहाँ प्रचुर मात्रामें दूध देनेवाली हृष्ट-पुष्ट गायें होंगी। धर्म वहाँ स्वयं मूर्तिमान् होकर निवास करेंगे। वहाँके सभी मनुष्य सदाचारी, प्रेम करनेवाले, सन्तोषी तथा अकालमृत्युसे रहित होंगे। वे देवता और अतिथियोंकी पूजामें प्रीति रखनेवाले, यथेष्ट दान देनेवाले, उत्साहयुक्त और धर्मपरायण

होंगे। वहाँके मनुष्य सदा परोपकारपरायण होंगे। जिस नगर अथवा देशमें ये सब लक्षण देखनेको मिलें, महाराज युधिष्ठिर वहीं निवास करते हैं—यह निश्चय जानना।'*

जिस राजाके निवासमात्रसे दूसरे देशोंमें यह हालत होती थी, वह राजा स्वयं कितना धार्मिक होगा और उसकी प्रजा कैसी सुखी और सदाचारपरायण होगी—वर्तमान युगमें इसका अनुमान करना भी कठिन है। इसीलिये तो महाराज युधिष्ठिर धर्मराजके नामसे विख्यात हुए! यह पदवी आजतक किसी भी राजाको प्राप्त नहीं हुई।

---

*तत्र तात न तेषां हि राज्ञां भाव्यमसाम्प्रतम्।
पुरे जनपदे चापि यत्र राजा युधिष्ठिरः॥
दानशीलो वदान्यश्च निभृतो ह्रीनिषेवकः।
जनो जनपदे भाव्यो यत्र राजा युधिष्ठिरः॥
प्रियवादी सदा दान्तो भव्यः सत्यपरो जनः।
हृष्टः पुष्टः शुचिर्दक्षो यत्र राजा युधिष्ठिरः॥
नासूयको न चापीर्षुर्नाभिमानी न मत्सरी।
भविष्यति जनस्तत्र स्वयं धर्ममनुव्रतः॥
सदा च तत्र पर्जन्यः सम्यग्वर्षी न संशयः।
सम्पन्नसस्या च मही निरातङ्का भविष्यति॥
वायुश्च सुखसंस्पर्शो निष्प्रतीपं च दर्शनम्।
न भयं त्वाविशेत्तत्र यत्र राजा युधिष्ठिरः॥
गावश्च बहुलास्तत्र न कृशा न च दुर्बलाः।
सम्प्रीतिमान् जनस्तत्र सन्तुष्टः शुचिरव्ययः॥
देवतातिथिपूजासु सर्वभावानुरागवान्।
इष्टदानो महोत्साहः स्वस्वधर्मपरायणः॥
(विराटपर्व २८। १४–१७, १९, २१, २२, २७)

एक बारकी बात है, इन्द्रप्रस्थमें महाराज युधिष्ठिर अपनी सभा बैठे हुए थे। इतनेमें ही देवर्षि नारद भगवान्‌का गुणगान करते हु वहाँ आ पहुँचे। युधिष्ठिरने उनका बड़ा सम्मान किया। कुशल-प्रश्न अनन्तर देवर्षि नारद धर्मराजसे कहने लगे—'कहो राजन्! अ चिन्तन करते हुए क्या धर्मचिन्तनमें भी तुम्हारा मन लगता है सुखोंके उपभोगमें अत्यन्त आसक्त होकर तुमने मनको दूषित तो न कर डाला? धर्म, अर्थ और कामका सेवन करनेमें अपने पूर्वपुरुषों किये हुए सज्जनताके बर्तावको तो तुम नहीं भूल जाते हो? धर्माचरण उदासीनता तो नहीं करते? तुम्हारी दुर्गपति आदि सात प्रकृतियाँ दुर्व्यसनोंमें लिप्त तो नहीं हैं? तुम कहीं निद्राके वशीभूत तो न रहते? ठीक समयपर तुम जागते तो हो? रात्रिके पिछले भागमें तु उचित-अनुचितका विचार तो करते हो? किसानलोग तुम्हारे परोक्ष ठीक-ठीक व्यवहार तो करते हैं? क्योंकि निःसन्देह प्रभुके अ सच्चा प्रेम हुए बिना ऐसा होना असम्भव है। विश्वासपात्र, निर्लोभ कुलपरम्परागत कर्मचारियोंसे तुम काम लेते हो न? कार्योंको आरम्भ करनेके पूर्व उनकी परीक्षाके लिये तुम धर्मज्ञ एवं शास्त्रोंमें प्रवीण परीक्षकोंको नियत करते हो न? युद्धविद्यामें प्रवीण वीर पुरुषों द्वारा कुमारोंको युद्धकी शिक्षा तो दिलाते हो न? विनययुक्त, कुलीन पूर्ण विद्वान्, किसीसे डाह न करनेवाले, उदारचित्त पुरुषको सत्कार करके तुमने अपना पुरोहित तो बनाया है? तुमने निष्कपट, कुल परम्परागत, पवित्र स्वभाववाले श्रेष्ठ मन्त्रियोंको उत्तम कार्योंपर नियु किया है न? प्रचण्ड दण्ड देकर तुम प्रजाजनोंको उद्वेजित तो नहीं करते? हे भरतश्रेष्ठ! मन्त्री तुम्हारे आज्ञानुसार राज्यका शासन तो

करते हैं ? तुम्हारी सेनाके मुख्य योधा सब प्रकारके युद्धमें प्रवीण, प्रबल पराक्रमी, सच्चरित्र, साहसी और तुमसे उचित सम्मान तो पाये हुए हैं ? तुम अपनी सेनाको यथोचित वेतन और अन्न ठीक समयपर देते हो न ? उनको दिक तो नहीं करते ? युद्धके समस्त कार्योंको करनेके लिये तुमने एक ही यथेच्छाचारी पुरुषको तो नियुक्त नहीं कर दिया है ? क्योंकि स्वेच्छाचारी पुरुष शासनकी मर्यादाके बाहर हो जाता है। यदि कोई पुरुष अपने पुरुषार्थसे तुम्हारे कार्यको उत्तम रीतिसे सिद्ध करता है, तो वह तुमसे अधिक सम्मान और नियमितसे अधिक अन्न और वेतन पाता है न ? ज्ञानके प्रकाशयुक्त, विद्यावान्, अति विनीत गुणी पुरुषोंका उनके गुणोंके अनुसार यथोचित धन देकर सम्मान तो करते हो ? हे महाराज ! जो तुम्हारे उपकारके लिये कालके गालमें चले जाते हैं या बड़ी भारी विपत्तिमें फँस जाते हैं, उनके स्त्री-पुत्रादिका भरण-पोषण करते हो न ? हे पार्थ ! बलहीन अथवा युद्धमें हारा हुआ शत्रु भयभीत होकर जब तुम्हारी शरणमें आता है तो तुम उसकी पुत्रके समान रक्षा करते हो न ? जैसे पिता-माता सब सन्तानोंपर समान प्रेम करते हैं, वैसे ही आप भी सम्पूर्ण पृथ्वीको समदृष्टिसे देखते हो न ? वृद्धलोग, जातिके मनुष्य, गुरुजन, व्यापारी, कारीगर, आश्रित, दीन, दरिद्र और अनाथोंको सदा धन-धान्य देकर उनपर अनुग्रह करते हो न ? कार्यकुशल, सावधान, हितैषी कर्मचारियोंको पहले उनका कोई अपराध बिना देखे तो उनके अधिकारसे अलग नहीं कर देते ? हे महाराज ! पुरुषोंकी उत्तम, मध्यम और अधम योग्यताको जानकर तुम उनको यथोचित कार्योंपर नियुक्त करते हो न ? हे राजन् ! तुम लोभी, चोर, वैरी अथवा पहले

परीक्षा न किये हुए पुरुषोंको तो अपने कामोंपर नियुक्त नहीं करते? चोर, लोभी, बालक अथवा स्त्रियोंकी प्रबलतासे अथवा तुम्हारे अत्याचारसे प्रजा दुःख तो नहीं पाती ? राज्यके किसान तो सन्तुष्ट चित्तसे समय बिताते हैं ? राज्यमें स्थान-स्थानपर जलसे भरे बड़े-बड़े सरोवर तो तुमने खुदवा रक्खे हैं ? खेतीका काम केवल वर्षाके भरोसे तो नहीं है ? तुम्हारे किसानोंके पास बीज और अन्न तो कम नहीं हो जाता ? आवश्यकता पड़नेपर अनुग्रहपूर्वक उन्हें ऋण दे देते हो न? डाकू-चोर तुम्हारे राज्यमें सम-विषम स्थलोंमें दल बाँधकर नगरोंको लूटते तो नहीं फिरते ? स्त्रियोंको सन्तुष्ट और सुरक्षित तो रखते हो ? रात्रिके पहले दो पहर सोनेमें बिताकर रात्रिके पिछले पहरमें उठकर धर्मार्थका चिन्तन करते हो न ? हे राजन् ! दण्डके योग्य और पूजाके योग्य पुरुषोंकी यथोचित परीक्षा करके तुम धर्मराज यमके समान बर्ताव करते हो न ? हे पार्थ ! शरीरकी पीड़ाको औषध और पथ्यके द्वारा तथा मनकी पीड़ाको निरन्तर वृद्धोंकी सेवासे दूर करते हो न ? हे राजन् ! तुम किसी प्रकार लोभ, मोह वा अभिमानके वशमें होकर तो वादी- तिवादियोंके कार्योंको नहीं देखते? कहीं लोभसे, मोहसे, विश्वाससे अथवा प्रेमभावसे आश्रित पुरुषोंकी नौकरी तो नहीं रोक लेते ? दुर्बल शत्रुको बलात्कारसे तुम अधिक पीड़ा तो नहीं देते ? बल और मन्त्रसे किसीका सर्वनाश तो नहीं करते ? सब विद्याओंके विषयमें गुणोंका विचार करके ब्राह्मण और सज्जनोंका सम्मान करते ह ।न ? हे महाराज ! यत्नके साथ पूर्वपुरुषोंके आचरण किये हुए वेदोक्त धर्मका आचरण करनेमें तुम प्रवृत्त रहते हो न ? एकाग्रचित्त होकर मनको वशमें किये हुए अनेकों यज्ञोंको

पूर्ण रीतिसे करते हो न ? गुरुजन, ज्ञातिके वयोवृद्ध, देवता, तपस्वी, चैत्यवृक्ष तथा कल्याणकर्ता ब्राह्मणोंको नमस्कार करते हो न ? हे अनघ ! तुम एकाएकी शोक वा क्रोधसे दब तो नहीं जाते ? तुम्हारे लोभान्ध, अनभिज्ञ अधिकारी पुरुषोंद्वारा चोरीका मिथ्या लाञ्छन लगाये हुए सच्चरित्र विशुद्धस्वभाव निष्पाप पुरुष मरणका दण्ड तो नहीं पाते ? हे नरश्रेष्ठ ! दुष्ट, अहितकारी, खोटे स्वभाववाले, दण्डके योग्य चोरको चोरी की हुई वस्तुके साथ पकड़कर भी तुम्हारे कर्मचारी धनके लोभसे उसे छोड़ तो नहीं देते ? हे भारत ! तुम्हारे मन्त्री धनके लोभमें पड़े हुए धनी और दरिद्रका विवाद होनेपर झूठा फैसला तो नहीं देते ? नास्तिकता, मिथ्याभाषण; क्रोध, प्रमाद, दीर्घसूत्रता, ज्ञानवान् पुरुषोंसे न मिलना, आलस्य, चित्तकी चञ्चलता, निरन्तर धनकी चिन्ता इत्यादि दोषोंका तो तुमने सर्वथा त्याग कर दिया है न ? हे राजन् ! तुम्हारे नगर और राज्यमें व्यापारियोंका सम्मान तो होता है और तुम्हारे अधिकारियोंके परीक्षा ले लेनेपर ही वे व्यापारके पदार्थोंको राज्यमें लाने पाते हैं न ? हे तात ! तुम धर्मार्थदर्शी और तत्त्वज्ञानी वृद्ध पुरुषोंकी धर्मभरी उपदेशकी बातें नित्य सुनते हो न ? हे महाराज ! कोई तुम्हारा उपकार करे त उसे याद तो रखते हो ? कोई सत्कर्म करे तो उसकी प्रशंसा और सज्जनोंमें आदर करके उसका सत्कार तो करते हो ? अग्निके भयसे तथा रोग और राक्षसी स्वभाववाले दुष्ट पुरुषोंके भयसे तुम अपने सम्पूर्ण राज्यकी रक्षा तो करते हो ? हे महाराज ! निद्रा, आलस्य, भय, क्रोध, अधिक नर्मी और दीर्घसूत्रीपन—इन छः अनर्थोंका तो तुमने एक साथ त्याग कर दिया है न ?'

राजा युधिष्ठिरने बड़े ध्यानसे इन सब प्रश्नोंको सुना और नारदजीके

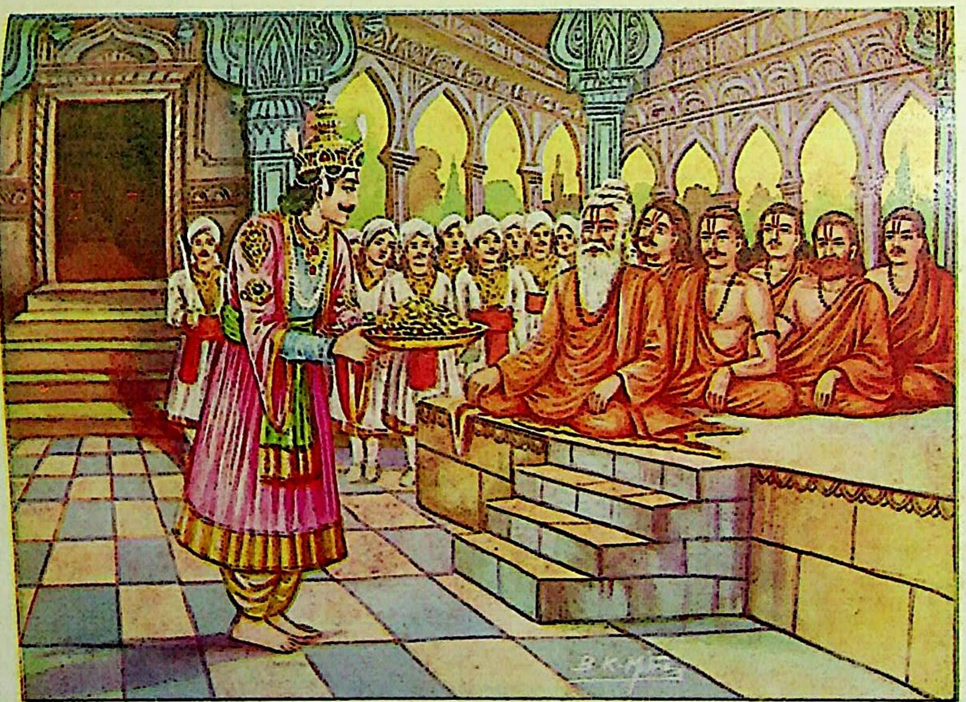
चुप होनेपर वे उनसे कहने लगे—'हे भगवन् ! आपने जो धर्मका निश्चयरूप उपदेश दिया, वह बहुत ही ठीक और यथार्थ है और मैं यथाशक्ति न्यायानुकूल ऐसा ही करता हूँ। राजाओंको जो कार्य जिस प्रकार करना चाहिये तथा पूर्वकालके राजा न्यायपूर्वक धनका संग्रह कर जिन सकल आवश्यक कार्योंको करते थे, उन्हें मैं भी करता हूँ।'*

ऊपरके संवादसे यह बात भलीभाँति विदित हो जाती है कि राजाको किस प्रकारका आचरण करना चाहिये और वे सब आचरण महाराज युधिष्ठिरमें विद्यमान थे।

छान्दोग्य उपनिषद्के पाँचवें अध्यायमें महाराज अश्वपतिकी कथा आती है। उनके पास एक बार अरुणके पुत्र उद्दालकके भेजे हुए कुछ मुनि वैश्वानर विद्या (अध्यात्मविद्या) सीखनेके लिये आये। उनका राजाने बड़ा सत्कार किया और उन्हें धनकी इच्छासे आया हुआ जान बहुत-सा धन देना चाहा। ऋषि तो दूसरे ही प्रयोजनसे आये थे; अतः उन्होंने धन लेनेसे इनकार किया। इसपर राजाने सोचा कि मेरे धनको निषिद्ध समझकर ये लोग स्वीकार नहीं कर रहे हैं। अतः अपने धनकी पवित्रताको सिद्ध करनेके लिये वह कहने लगा—'हे मुनियो ! मेरे राज्यमें कोई चोर—दूसरेका धन हरण करनेवाला नहीं है, न कोई कदर्य—सम्पत्ति रहते हुए दान न करनेवाला है, न कोई मद्यपान करनेवाला है, न अनाहिताग्नि

---

*भगवन् न्यायमाहेतं यथावद्धर्मनिश्चयम् ।
यथाशक्ति यथान्यायं क्रियतेऽयं विधिर्मया ॥
राजभिर्यद्यथा कार्यं पुरा वै तन्न संशयः ।
यथान्यायोपनीतार्थं कृतं हेतुमदर्थवत् ॥
(महा० सभा० ६ । २-३)



राजा अश्वपतिके भवनमें मुनिगण

है, न अविद्वान् है, न कोई स्वैरी—परस्त्रियोंके प्रति गमन करनेवाला है; अतः स्वैरिणी (कुलटा स्त्री) भी कैसे हो सकती है?'* क्या आज कोई राजा इस प्रकारका दावा कर सकता है?

रामराज्यकी सुख-सम्पदा तो प्रसिद्ध ही है। यही कारण है कि 'रामराज्य' शब्द आदर्श राज्यके पर्यायरूपमें बरता जाने लगा है। उसका वर्णन गोस्वामी तुलसीदासजीने रामचरितमानसमें बड़े ही सुन्दर शब्दोंमें किया है। वे कहते हैं कि 'भगवान् श्रीरामके राजगद्दीपर आसीन होते ही तीनों लोक शोकरहित हो गये। कोई किसीसे वैर नहीं करता था, भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके प्रतापसे सबकी विषमता(आन्तरिक भेदभाव) नष्ट हो गयी। सब लोग अपने-अपने वर्ण और आश्रमके अनुकूल धर्ममें तत्पर हुए वेदमार्गपर चलते थे और सुख पाते थे। उन्हें न किसी बातका भय था, न शोक था और न कोई रोग ही सताता था। रामराज्यमें दैहिक, दैविक और भौतिक ताप किसीको नहीं व्यापते थे। सब मनुष्य परस्पर प्रेम करते थे और वेदोंमें बतलायी हुई नीति (मर्यादा) के अनुसार अपने धर्ममें लगे रहकर उसका आचरण करते थे। धर्म अपने चारों चरणों (सत्य, शौच, दया और दान) से जगत्में परिपूर्ण हो रहा था। स्वप्नमें भी कहीं पाप नहीं था। पुरुष और स्त्री सभी रामभक्तिके परायण थे और सभी परमगति (मोक्ष) के अधिकारी थे। छोटी अवस्थामें मृत्यु नहीं होती थी, न किसीको पीड़ा

---

*तेभ्यो ह प्राप्तेभ्यः पृथगर्हाणि कारयाञ्चकार स ह प्रातः सञ्जिहान उवाच—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥

(छान्दोग्य० ५।११।५)

होती थी। सभीके शरीर सुन्दर और नीरोग थे। न कोई दरि
था, न दुखी था और न दीन ही था। न कोई मूर्ख था और न शु
लक्षणोंसे हीन था। सभी लोग दम्भरहित, धर्मपरायण और पुण्यात्
थे। पुरुष और स्त्री सभी चतुर और गुणवान् थे। सभी गुणों
आदर करनेवाले और पण्डित तथा सभी ज्ञानी थे। सभी कृत
(दूसरेके किये हुए उपकारको माननेवाले) थे, कपट-चतुरा
किसीमें नहीं थी। श्रीरामके राज्यमें जड-चेतन सारे जगत्में का
कर्म, स्वभाव और गुणोंसे उत्पन्न हुए दुःख किसीको भी नहीं हो
थे (अर्थात् इनके बन्धनमें कोई नहीं था)।

'सभी नर-नारी उदार, सभी परोपकारी और सभी ब्राह्मणों
चरणोंके सेवक थे। सभी पुरुष एकपत्नीव्रती थे। इसी प्रकार
स्त्रियाँ भी मन, वचन, कर्मसे पतिका हित करनेवाली थीं। वनों
वृक्ष सदा फूलते और फलते थे। हाथी और सिंह वैर भूलकर ए
साथ रहते थे। पक्षी और पशु सभीने स्वाभाविक वैर भुलाक
आपसमें प्रेम बढ़ा लिया था। शीतल, मन्द, सुगन्धित पवन चल
रहता था। लताएँ और वृक्ष माँगनेसे मधु टपका देते थे, गौ
मनचाहा दूध देती थीं और पृथ्वी सदा खेतीसे भरी रहती थी
समुद्र अपनी लहरोंके द्वारा किनारोंपर रत्न डाल देते थे, जि
मनुष्य उठा लिया करते थे। सूर्य उतना ही तपते थे, जितना आवश्
होता था और मेघ माँगनेसे जब जहाँ जितना चाहिये, उत
ही जल देते थे। त्रेतायुगमें सत्ययुगकी-सी स्थिति हो गयी थी।'

जैमिनीयाश्वमेध नामक ग्रन्थमें भक्त सुधन्वाकी कथा आती है
जिसमें सुधन्वाके पिता राजा हंसध्वजके सम्बन्धमें यह उल्लेख मिल

है कि उनके राज्यमें सब लोग एकपत्नीव्रती थे तथा देशके सभी नर-नारी भगवान्‌के परम भक्त थे। राज्यमें नौकरीके लिये बाहरसे कोई आदमी आता तो राजा सबसे पहले उससे यही कहते—

एकपत्नीव्रतं तात यदि ते विद्यतेऽनघ ।
ततस्त्वां धारयिष्यामि सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥
न शौर्यं न कुलीनत्वं न च क्वापि पराक्रमः ।
स्वदाररसिकं वीरं विष्णुभक्तिसमन्वितम् ॥
वासयामि गृहे राष्ट्रे तथान्येऽपि हि सैनिकाः ।
अनङ्गवेगं स्वान्ते ये धारयन्ति महाबलाः ॥
(१७ । १४–१६)

'हे निष्पाप ! यदि तुम एकपत्नीव्रतका पालन करनेवाले हो, तो मैं तुम्हें अपने यहाँ रख सकता हूँ; भाई ! मैं सत्य कहता हूँ कि निकम्मी शूरता, कुलीनता और पराक्रम मैं नहीं चाहता । जो वीर केवल अपनी एक ही पत्नीमें प्रेम करनेवाला और भगवान्‌की भक्तिसे सम्पन्न होगा, मैं उसीको अपने घरमें अथवा राष्ट्रमें स्थान दे सकता हूँ। तथा दूसरे भी जो सैनिक कामदेवके प्रबल वेगको धारण कर सकते हैं, वे ही वास्तवमें महाबली सैनिक हैं [अतः उन्हें ही मैं आश्रय दे सकता हूँ] ।' राजाकी सेनामें सभी योद्धा भगवद्भक्त, रणवीर, दीनोंपर दया करके उन्हें दान देनेवाले, एकपत्नीव्रती, सम्मान्य और प्रिय बोलनेवाले थे—

सर्वे ते वैष्णवा वीराः सदा दानपरायणाः ।
एकपत्नीव्रतयुताः संमतास्ते प्रियंवदाः ॥
(१७ । १३)

राजा स्वयं पक्के एकपत्नीव्रती थे, इसीसे वे अपनी प्रजासे
इस नियमका पालन करा सके ।

श्रीरामका एकपत्नीव्रत तो प्रसिद्ध ही है। अश्वमेध-यज्ञमें स्त्री
का होना आवश्यक है। परन्तु वहाँ भी उन्होंने भगवती सीता
स्वर्णमयी प्रतिमाको पास बिठलाकर ही काम निकाला; किन्तु दूसरा
विवाह नहीं किया, और इस प्रकार अपने अखण्ड एकपत्नीव्रतका
परिचय दिया। धन्य मर्यादा !

भगवान् श्रीरामने तो अवतार ही लिया था जगत्में मर्या
स्थापन करनेके लिये। इसीलिये वे मर्यादापुरुषोत्तम कहलाये। उन
तो प्रत्येक चरित्र शिक्षासे भरा हुआ है। जगत्में उनका उदाह
देकर कोई भूलसे भी अनाचारको आश्रय न दे, इसके लिये उन्
लोकापवादको आदर देते हुए प्राणोंसे भी प्यारी सतीशिरो
निर्दोष जानकीका परित्याग कर दिया, यद्यपि उनके मनमें
जानकीकी पवित्रताके सम्बन्धमें कोई शङ्का नहीं थी और उ
अग्निपरीक्षा भी हो चुकी थी। स्नेह, दया और सुखकी कोई प
न कर वे प्रजाके सन्तोषके लिये इतना निष्ठुर व्यवहार करने
नहीं हिचकिचाये और जगत्में लोकरञ्जनका अलौकिक आ
स्थापित किया। स्नेह और दया आदिके वैयक्तिक भावोंको कु
कर उन्होंने इस बातको प्रमाणित कर दिया कि राजाका अ
ही प्रजाके लिये होता है, उसकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है।

ऐसे आदर्शका पालन करते हुए महाराज हंसध्वजने अप
सुधन्वाको युद्धमें विलम्बसे उपस्थित होनेके लिये घोर प्राणदण्ड
राजा शिबिने एक शरणागत कबूतरकी रक्षाके लिये अपना शरी

देना स्वीकार कर लिया, सत्यकी रक्षाके लिये राजा हरिश्चन्द्रने अपने राज्यको तृणवत् त्याग दिया और स्त्रीतकको बेच डाला, अतिथिके प्रति अपना कर्तव्य पालन करनेके लिये महाराज रन्तिदेवने ४८ दिनतक भूखे रहनेके बाद मिले हुए अन्न-जलका भी परित्याग कर दिया। इस प्रकारके आदर्श त्यागसे ही प्राचीन कालके राजालोग जगत्में धर्मकी स्थापना करनेमें समर्थ होते थे। यही कारण था कि उनकी प्रजा भी उन्हींके समान धर्ममें रत रहती थी और जगत्में सर्वत्र सुख-शान्तिका साम्राज्य था। क्या वर्तमान कालके राजालोग भी इस प्राचीन आदर्शका अनुसरण कर जगत्में सुख-शान्तिका विस्तार करेंगे?

ऊपर भगवान् श्रीरामचन्द्रजी तथा महाराज युधिष्ठिर आदिके शासनकी जो बातें दिखलायी गयी हैं तथा देवर्षि नारदने युधिष्ठिरको जो राजधर्मका उपदेश दिया है, वह सभी राजाओंके लिये अनुकरणीय एवं पालनीय है। केवल राजा ही नहीं, हमारे देशके जमींदार, धनी तथा अन्य सद्गृहस्थ भी यदि इन बातोंपर ध्यान दें और इन्हें अपने जीवनमें उतारनेकी चेष्टा करें तो इससे उनका, उनके वर्गका तथा उनकी प्रजा एवं आश्रितजनोंका बड़ा कल्याण हो सकता है। राजाओंद्वारा आय-व्ययको बराबर रखे जानेका जो प्राचीन आदर्श है, वह भी सबके लिये अनुकरणीय है। प्रजासे करके रूपमें जो कुछ भी वसूल किया जाय, उसे पूरा-का-पूरा उन्हींके काममें लगाया जाना चाहिये। ऐसा करनेसे राजा और प्रजाके बीच पिता-पुत्रका जो भाव है, वह सदा बना रह सकता है और ऐसा करनेवाले राजाकी प्रजा कभी उससे असन्तुष्ट नहीं होती।

परलोक और पुनर्जन्म

परलोक और पुनर्जन्मका सिद्धान्त हिन्दूधर्मकी खास सम्पत्ति हैं। जैन और बौद्धमत भी, जो एक प्रकारसे हिन्दू धर्मकी ही शाखाएँ मानी जा सकती हैं; क्योंकि वे इस सिद्धान्तको मानते हैं इसलिये वे हिन्दूधर्मके अन्तर्गत हैं। मुसल्मान और ईसाईमत इस सिद्धान्तको नहीं मानते, परन्तु थियॉसफी सम्प्रदायके उद्योगों त प्रेतविद्या (Spiritualism) के चमत्कारोंने (जिसका इधर कुछ वर्षों पाश्चात्त्य जगत्में काफी प्रचार हुआ है) इस ओर लोगोंका का ध्यान आकृष्ट किया है और अब तो हजारों-लाखोंकी संख्यामें योर और अमेरिकाके लोग भी ईसाई होते हुए भी परलोकमें विश्वा करने लगे हैं। हमारे भारतवर्षका तो बच्चा-बच्चा इस सिद्धान्त मानता और उसपर अमल करता है। यही नहीं, यह सिद्धा हमारे जीवनके प्रत्येक अङ्गके साथ सम्बद्ध हो गया है; हमारा क धार्मिक कृत्य ऐसा नहीं है, जिसका प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्षरू परलोकसे सम्बन्ध न हो और हमारा कोई धार्मिक ग्रन्थ ऐ नहीं है, जो प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्षरूपसे परलोक एवं पुनर्जन्म समर्थन न करता हो। इधर तो कई स्थानोंमें ऐसी घटनाएँ प्रकाशमें आयी हैं जिनमें अबोध बालक-बालिकाओंने अपने पूर्वजन्म बातें कही हैं, जो जाँच-पड़ताल करनेपर सच निकली हैं।

आत्माकी उन्नति तथा जगत्में धार्मिक भाव, सुख-शान्ति प्रेमके विस्तारके लिये तथा पाप-तापसे बचनेके लिये परलोक

पुनर्जन्मको मानना आवश्यक भी है। आज संसारमें, विशेषकर पाश्चात्त्य देशोंमें आत्महत्याओंकी संख्या जो दिनोंदिन बढ़ रही है— आये दिन लोगोंके जीवनसे निराश होकर अथवा असफलतासे दुखी होकर अपमान एवं अपकीर्तिसे बचनेके लिये अथवा इच्छाकी पूर्ति न होनेके दुःखसे डूबकर, फाँसी खाकर, जलकर, विषपान करके अथवा गोली खाकर प्राणत्याग करनेकी बातें पढ़ी-सुनी और देखी जाती हैं—उसका एकमात्र प्रधान कारण आत्माकी अमरतामें तथा परलोकमें अविश्वास है। यदि हमें यह निश्चय हो जाय कि हमारा जीवन इस शरीरतक ही सीमित नहीं है, इसके पहले भी हम थे और इसके बाद भी हम रहेंगे, इस शरीरका अन्त कर देनेसे हमारे कष्टोंका अन्त नहीं हो जायगा, बल्कि इस शरीरके भोगोंको भोगे बिना ही प्राणत्याग कर देनेसे तथा आत्महत्यारूप नया घोर पाप करनेसे हमारा भविष्य जीवन और भी अधिक कष्टमय होगा, तो हम कभी आत्महत्या करनेका साहस न करें। अत्यन्त खेदका विषय है कि पाश्चात्त्य जडवादी सभ्यताके सम्पर्कमें आनेसे यह पाप हमारे आधुनिक शिक्षाप्राप्त नवयुवकोंमें भी घर कर रहा है और आजकल ऐसी बातें हमारे देशमें भी देखी-सुनी जाने लगी हैं। हमारे शास्त्रोंने आत्महत्याको बहुत बड़ा पाप माना है और उसका फल सूकर, कूकर आदि अन्धकारमय योनियोंकी प्राप्ति बतलाया है। श्रुति कहती है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
ताँ्स्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

(ईशोपनिषद् ३)

अर्थात् 'वे असुर-सम्बन्धी लोक [अथवा आसुरी योनियाँ]

आत्माके अदर्शनरूप अज्ञानसे आच्छादित हैं। जो कोई भी आत्माका हनन करनेवाले लोग हैं, वे मरनेके अनन्तर उन्हींमें जाते हैं।'

संसारमें जो पापोंकी वृद्धि हो रही है झूठ, कपट, चोरी, हिंसा, व्यभिचार एवं अनाचार बढ़ रहे हैं, व्यक्तियोंकी भाँति राष्ट्रों भी परस्पर द्वेष और कलहकी वृद्धि हो रही है, बलवान् दुर्बलोंको सता रहे हैं, लोग नीति और धर्मके मार्गको छोड़कर अनीति और अधर्मके मार्गपर आरूढ़ हो रहे हैं, लौकिक उन्नति और भौतिक सुख ही लोगोंने अपना ध्येय बना लिया है और उसीकी प्राप्तिके लिये सब लोग यत्नवान् हैं, विलासिता और इन्द्रियलोलुपता बढ़ती जा रही है; भक्ष्याभक्ष्यका विचार उठता जा रहा है, जीभके स्वाद और शरीरके आरामके लिये दूसरोंके कष्टकी तनिक भी परवा नहीं की जाती, मादक द्रव्योंका प्रचार बढ़ रहा है, बेईमानी और घूसखोरी उन्नतिपर है, एक दूसरेके प्रति लोगोंका विश्वास कम होता जा रहा है, मुकदमेबाजी बढ़ रही है, अपराधोंकी संख्या बढ़ती जा रही है, दम्भ और पाखण्डकी वृद्धि हो रही है—इन सबका कारण यही है कि लोगोंने वर्तमान जीवनको ही अपना जीवन मान रक्खा है; इसके आगे भी कोई जीवन है, इसमें उनका विश्वास नहीं है। इसीलिये वर्तमान जीवनको ही सुखी बनानेके प्रयत्नमें लगे हुए हैं। 'जबतक जियो, सुखसे जियो; कर्जा लेकर भी अच्छे-अच्छे पदार्थोंका उपभोग करो। मरनेके बाद क्या होगा, किसने देख रक्खा है।'* इस सर्वनाशकारी मान्यताकी ओर आज प्रायः सारा संसार जा रहा है।

---

* यावज्जीवं सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥ (चार्वाक)

यही कारण है कि वह सुखके बदले अधिकाधिक दुःखमें ही फँसता जा रहा है। परलोक और पुनर्जन्मको न माननेका यह अवश्यम्भावी फल है। आज हम इसी परलोक और पुनर्जन्मके सिद्धान्तकी कुछ चर्चा करते हैं, और इस सिद्धान्तको माननेवालोंका क्या कर्तव्य है—इसपर भी विचार कर रहे हैं।

जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, परलोक और पुनर्जन्मके सिद्धान्तका प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्षरूपसे हमारे सभी शास्त्रोंने समर्थन किया है। वेदोंसे लेकर आधुनिक दार्शनिक ग्रन्थोंतक सभीने एक स्वरसे इस सिद्धान्तकी पुष्टि की है। स्मृतियों, पुराणों तथा महाभारतादि इतिहास-ग्रन्थोंमें तो इस विषयके इतने प्रमाण भरे हैं कि उन सबको यदि संगृहीत किया जाय तो एक बहुत बड़ी पुस्तक तैयार हो सकती है। इसके लिये न तो अवकाश है और न इसकी उतनी आवश्यकता ही प्रतीत होती है। प्रस्तुत निबन्धमें उपनिषद्, गीता, मनुस्मृति, योगसूत्र आदि कुछ थोड़े-से चुने हुए प्रामाणिक ग्रन्थोंमेंसे तो कुछ प्रमाण लेकर इस सिद्धान्तकी पुष्टि की जायगी और युक्तियोंके द्वारा भी इसे सिद्ध करनेकी चेष्टा की जायगी।

कठोपनिषद्का नाचिकेतोपाख्यान इस सिद्धान्तका जीता-जागता प्रमाण है। उपनिषद्का पहला श्लोक ही परलोकके अस्तित्वको सूचित करता है। नचिकेताने जब देखा कि उसके पिता वाजश्रवस ऋत्विजोंको बुड्ढी और निकम्मी गायें दानमें दे रहे हैं, तो उससे न रहा गया। वह सोचने लगा कि ऐसी गायें देनेवालेको तो आनन्दरहित लोकोंकी प्राप्ति होती है

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः ।
अनन्दा नाम ते लोकास्तान् स गच्छति ता ददत् ॥*
(१।१।३)

अतएव उसने पिताको उस कामसे रोकनेका प्रयत्न कियापर इसमें वह सफल न हो सका। इसके बाद उसके पिताने कुपित होकर जब उसे मृत्युको सौंप देनेकी बात कही तो वह प्रसन्नतापूर्वक पिताकी आज्ञाको शिरोधार्य कर यमलोकमें चला गया। इसके बाद उसके और यमराजके बीचमें जो संवाद हुआ है, वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। यमराजने उसे तीन वर देनेको कहे। उनमेंसे तीसरा वर माँगता हुआ नचिकेता यमराजसे यह प्रश्न करता है—

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये-
ऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके ।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं
वराणामेष वरस्तृतीयः ॥
(१।१।२०)

अर्थात् 'मरे हुए मनुष्यके विषयमें जो यह शङ्का है कि कोई तो कहते हैं 'मरनेके अनन्तर, आत्मा रहता है और कोई कहते हैं नहीं रहता'—इस सम्बन्धमें मैं आपसे उपदेश चाहता हूँ, जिससे मैं इस विषयका ज्ञान प्राप्त कर सकूँ। मेरे माँगे हुए वरोंमें यह तीसरा वर है।'

* जो जल पी चुकी हैं, जिनका घास खाना समाप्त हो चुका है, जिनका दूध भी दुह लिया गया है और जिनमें बछड़ा देनेकी शक्ति भी नहीं रह गयी है, उन गौओंका दान करनेसे वह दाता आनन्दशून्य लोकोंको जाता है।

यमराजने इस विषयको टालना चाहा और नचिकेतासे कहा कि तू कोई दूसरा वर माँग ले, क्योंकि यह विषय अत्यन्त गूढ़ है और देवताओंको भी इस विषयमें शङ्का हो जाया करती है। नचिकेता कोई सामान्य जिज्ञासु नहीं था। अतः विषयकी गूढ़ताको सुनकर उसका उत्साह कम नहीं हुआ, बल्कि उसकी जिज्ञासा और भी प्रबल हो उठी। वह बोला कि इसीलिये तो इस विषयको मैं आपसे जानना चाहता हूँ, क्योंकि इस विषयका उपदेश करनेवाला आपके समान और कौन मिलेगा। इसपर यमराजने पुत्र-पौत्र, हाथी-घोड़े, सुवर्ण, विशाल भूमण्डल, दीर्घजीवन, इच्छानुकूल भोग, अनुपम रूप-लावण्यवाली स्त्रियाँ तथा और भी बहुत-से भोग जो मनुष्यलोकमें दुर्लभ हैं, उसे देने चाहे; परन्तु नचिकेता अपने निश्चयसे नहीं टला। वह बोला—

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैत-
त्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव
तवैव वाहास्तव नृत्यगीते॥
(१।१।२६)

'हे यमराज! ये भोग 'कल रहेंगे या नहीं'—इस प्रकारके सन्देहसे युक्त हैं अर्थात् अस्थिर हैं और सम्पूर्ण इन्द्रियोंके तेजको जीर्ण कर देते हैं। यह सारा जीवन भी स्वल्प ही है। अतः आपके वाहन (हाथी-घोड़े) और नाच-गान आपहीके पास रहें, मुझे उनकी आवश्यकता नहीं है।'

नचिकेताके इस आदर्श निष्कामभाव और दृढ़ निश्चयको देखकर यमराज बहुत ही प्रसन्न हुए और उसकी प्रशंसा करते हुए बोले—

स त्वं प्रियान् प्रियरूपाँश्च कामा-
नभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ।
नैताँ सृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो
यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः ॥
(१।२।

'हे नचिकेता ! तूने प्रिय अर्थात् पुत्र, धन आदि इष्ट पदा को और प्रियरूप—अप्सरा आदि लुभानेवाले भोगोंको क समझकर त्याग दिया और जिसमें अधिकांश मनुष्य डूब (फँ जाते हैं, उस धनिकोंकी निन्दित गतिको तूने स्वीकार नहीं कि धन्य है तेरी निष्ठा !'

न साम्परायः प्रतिभाति बालं
प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् ।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी
पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥
(१।२।

'जो मूर्ख धनके मोहसे अन्धे होकर प्रमादमें लगे रहते उन्हें परलोकका साधन नहीं सूझता । यही लोक है, परलोक है—ऐसा माननेवाला पुरुष बारम्बार मेरे चंगुलमें फँसता (जन्मता और मरता है) ।'

नैषा तर्केण मतिरापनेया
प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ ।
यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि
त्वादृङ्नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा ॥
(१।२।

'हे प्रियतम ! सम्यक् ज्ञानके लिये कोरा तर्क करनेवालोंसे भिन्न किसी शास्त्रज्ञ आचार्यद्वारा कही हुई यह बुद्धि, जिसको तुमने पाया है, तर्कद्वारा प्राप्त नहीं होती । अहा ! तेरी धारणा बड़ी सच्ची है । हे नचिकेता ! हमें तेरे समान जिज्ञासु सदा प्राप्त हों ।'

कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां
क्रतोरनन्त्यमभयस्य पारम् ।
स्तोममहदुरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा
धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ॥
(१।२।११)

'हे नचिकेता ! तूने बुद्धिमान् होकर भोगोंकी परम अवधि, जगत्की प्रतिष्ठा, यज्ञका अनन्त फल, अभयकी पराकाष्ठा, स्तुत्य और महती गति तथा प्रतिष्ठाको देखकर भी उसे धैर्यपूर्वक त्याग दिया । शाबाश !'

उपर्युक्त वचनोंसे इस विषयकी महत्ता तथा उसे जाननेके लिये कितने ऊँचे अधिकारकी आवश्यकता है, यह बात द्योतित होती है ।

इस प्रकार नचिकेताकी कठिन परीक्षा लेकर और उसे उसमें उत्तीर्ण पाकर यमराज उसे आत्माके स्वरूपके सम्बन्धमें उपदेश देते हैं । वे कहते हैं—

न जायते म्रियते वा विपश्चि-
न्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥
(१।२।१८)

'यह नित्य चिन्मय आत्मा न जन्मता है न मरता है; यह न तो किसी वस्तुसे उत्पन्न हुआ है और न स्वयं ही कुछ बना (अर्थात् न तो यह किसीका कार्य है न कारण है, न विकार है विकारी है)। यह अजन्मा, नित्य (सदासे वर्तमान, अनादि), शाश्वत (सदा रहनेवाला, अनन्त) और पुरातन है तथा शरीरके विनाश किये जानेपर भी नष्ट नहीं होता।'*

उपर्युक्त वर्णनसे आत्माकी अमरता सिद्ध होती है। वे फिर कहते हैं—

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुँ हतश्चेन्मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायँ हन्ति न हन्यते॥
(१।२।१९)

'यदि मारनेवाला आत्माको मारनेका विचार करता है और मारा जानेवाला उसे मरा हुआ समझता है, तो वे दोनों ही नहीं जानते; क्योंकि यह न तो मारता है और न मारा जाता है।'

आगे चलकर यमराज उन मनुष्योंकी गति बतलाते हैं, आत्माको बिना जाने हुए मृत्युको प्राप्त हो जाते हैं! वे कहते हैं

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्॥
(२।२।७)

---

*यही मन्त्र कुछ हेर-फेरसे गीतामें भी आया है (देखिये २।२०)।
† यह मन्त्र भी कुछ शब्दोंके हेर-फेरसे गीतामें पाया जाता है (देखिये २।१९)।

'अपने कर्म और ज्ञानके अनुसार कितने ही देहधारी तो शरीर धारण करनेके लिये किसी देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि योनिको प्राप्त होते हैं और कितने ही स्थावरभाव (वृक्षादि योनि) को प्राप्त होते हैं।'

ऊपरके मन्त्रसे भी पुनर्जन्मकी सिद्धि होती है।

गीतामें भी परलोक तथा पुनर्जन्मका प्रतिपादन करनेवाले अनेक वचन मिलते हैं। उनमेंसे कुछ यहाँ उद्धृत किये जाते हैं। गीताके दूसरे अध्यायमें भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥
(२।१२)

'न तो ऐसा ही है कि मैं किसी कालमें नहीं था या तू नहीं था अथवा ये राजालोग नहीं थे और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे।'

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥
(२।१३)

'जैसे जीवात्माकी इस देहमें बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती है वैसे ही अन्य शरीरकी प्राप्ति होती है; उस विषयमें धीर पुरुष मोहित नहीं होता।'

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥
(२।२२)

'जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागकर दूसरे नये वस्त्रोंको ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरोंको त्यागकर दूसरे नये शरीरोंको प्राप्त होता है।'

चौथे अध्यायमें भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥५॥

'हे परंतप अर्जुन ! मेरे और तेरे बहुत-से जन्म हो चुके हैं। उन सबको तू नहीं जानता; किन्तु मैं जानता हूँ।'

गीतामें स्वर्गादि लोकोंका भी कई जगह उल्लेख आता है; पुनर्जन्म, परलोक, आवृत्ति-अनावृत्ति, गतागत (गमनागमन) आदि शब्द भी कई जगह आये हैं। छठे अध्यायके ४१-४२ वें श्लोकोंमें योगभ्रष्ट पुरुषके दीर्घकालतक स्वर्गादि लोकोंमें निवास कर शुद्ध आचरणवाले श्रीमान् पुरुषोंके घरमें अथवा ज्ञानवान् योगियोंके ही कुलमें जन्म लेनेकी बात आयी है तथा ४५वें श्लोकमें अनेक जन्मोंकी बात भी कही है। इसी प्रकार १३वें अध्यायके २१ वें श्लोकमें पुरुषके सत्-असत् योनियोंमें जन्म लेनेकी बात कही गयी है; १४ वें अध्यायके १४-१५ तथा १८वें श्लोकोंमें गुणोंके अनुसार मनुष्यके उच्च, मध्य तथा अधो-गतिको प्राप्त होनेकी बात आयी है तथा १५ वें अध्यायके श्लोक ८में एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें जानेका स्पष्टरूपमें उल्लेख हुआ है। १६ वें अध्यायके श्लोक १६, १९ और २० में भगवान्ने आसुरी सम्पदावालोंको बारम्बार तिर्यक् योनियों और नरकमें गिरानेकी बात कही है। इन सब प्रसङ्गोंसे भी पुनर्जन्म तथा परलोककी पुष्टि होती है।

योगसूत्रमें भी पुनर्जन्मका विषय आया है। महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः।

(साधन० १२)

अर्थात् 'क्लेश* जिनकी जड़ हैं, वे कर्माशय (कर्मोंकी वासनाएँ) वर्तमान अथवा आगेके जन्मोंमें भोगे जा सकते हैं।'

उन वासनाओंका फल किस रूपमें मिलता है, इसके विषयमें महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।

(साधन० १३)

अर्थात् 'क्लेशरूपी कारणके रहते हुए उन वासनाओंका फल जाति (योनि), आयु (जीवनकी अवधि) और भोग (सुख-दुःख) होते हैं।'

मनुस्मृतिमें भी पुनर्जन्मके प्रतिपादक अनेकों वचन मिलते हैं। उनमेंसे कुछ चुने हुए वचन नीचे उद्धृत किये जाते हैं। किन-किन कर्मोंसे जीव किन-किन योनियोंको प्राप्त होते हैं, इस विषयमें भगवान् मनु कहते हैं—

देवत्वं सात्त्विका यान्ति मनुष्यत्वं च राजसाः।
तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः॥

(१२। ४०)

अर्थात् सत्त्वगुणी लोग देवयोनिको, रजोगुणी मनुष्ययोनिको

---

* योगशास्त्रमें अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश (मृत्युभय)—इनको 'क्लेश' नामसे कहा गया है।

और तमोगुणी तिर्यक्‌योनिको प्राप्त होते हैं। जीवोंकी सदा तीन प्रकारकी गति होती है।'

'जो लोग इन्द्रियोंको तृप्त करनेमें ही लगे रहते हैं तथा धर्माचरणसे विमुख रहते हैं, उनके विषयमें भगवान् मनु कहते हैं कि वे मूर्ख और नीच मनुष्य मरनेपर निन्दित गतिको पाते हैं।'*

इसके आगे भगवान् मनु ब्रह्महत्या, सुरापान, गुरुपत्नी-गमन आदि कुछ महापातकोंका उल्लेख करते हुए कहते हैं कि इन पापोंको करनेवाले अनेक वर्षतक नरक भोगकर फिर नीच योनियोंको प्राप्त होते हैं। उदाहरणतः ब्रह्महत्या करनेवाला कुत्ते, सूअर, गदहे, चाण्डाल आदि योनियोंको प्राप्त होता है; ब्राह्मण होकर मदिरापान करनेवाला कृमि-कीट-पतङ्गादि तथा हिंसक योनियोंमें जन्म लेता है; गुरुपत्नीगामी तृण, गुल्म, लता आदि स्थावर योनियोंमें सैकड़ों बार जन्म ग्रहण करता है तथा अभक्ष्य भक्षण करनेवाला कृमि होता है।†

इस प्रकार परलोक एवं पुनर्जन्मके प्रतिपादक अनेकों प्रमाण शास्त्रोंमें भरे पड़े हैं। उनको कहाँतक लिखा जाय। अब हम युक्तियोंसे भी परलोक एवं पुनर्जन्मको सिद्ध करनेकी चेष्टा करते हैं—

(१) शरीरकी तरह आत्माका परिवर्तन नहीं होता। शरीरमें तो हम सभीके अवस्थानुसार परिवर्तन होता देखा जाता है

---

* इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन धर्मस्यासेवनेन च।
पापान् संयान्ति संसारानविद्वांसो नराधमाः॥
(१२। ५२)

† देखिये मनुस्मृति १२। ५४—५६, ५८, ५९।

आज जो हमारा शरीर है कुछ वर्ष बाद वह बिल्कुल बदल जायगा, उसके स्थानमें दूसरा ही शरीर बन जायगा—जैसे नख और केश पहलेके कटते जाते हैं और नये आते रहते हैं। बाल्यावस्थामें हमारे सभी अङ्ग कोमल और छोटे होते हैं, कद छोटा होता है, स्वर मीठा होता है, वजन भी कम होता है तथा मुखपर रोएँ नहीं होते। जवान होनेपर हमारे अङ्ग पहलेसे कठोर और बड़े हो जाते हैं, आवाज भारी हो जाती है, कद लंबा हो जाता है, वजन बढ़ जाता है तथा दाढ़ी-मूँछ आ जाती हैं। इसी प्रकार बुढ़ापेमें हमारे अङ्ग शिथिल हो जाते हैं, शरीरकी सुन्दरता नष्ट हो जाती है, चमड़ा ढीला पड़ जाता है, बाल पक जाते हैं, दाँत ढीले हो जाते हैं तथा गिर जाते हैं एवं शरीर तथा इन्द्रियोंकी शक्ति क्षीण हो जाती है। यही कारण है कि बालकपनमें देखे हुए किसी व्यक्तिको उसके युवा हो जानेपर हम सहसा नहीं पहचान पाते। परन्तु शरीर बदल जानेपर भी हमारा आत्मा नहीं बदलता। दस वर्ष पहले जो हमारा आत्मा था, वही आत्मा इस समय भी है। उसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। यदि होता तो आजसे दस वर्ष अथवा बीस वर्ष पहले हमारे जीवनमें घटी हुई घटनाका हमें स्मरण नहीं होता। दूसरेके द्वारा अनुभव किये हुए सुख-दुःखका जिस प्रकार हमें स्मरण नहीं होता, उसी प्रकार यदि हमारा आत्मा बदल गया होता तो हमें अपने जीवनकी बातोंका भी कालान्तरमें स्मरण नहीं रहता। परन्तु आजकी घटनाका हमें दस वर्ष बाद अथवा बीस वर्ष बाद भी स्मरण होता है, इससे मालूम होता है कि अनुभव करनेवाला और स्मरण करनेवाला दो व्यक्ति नहीं

बल्कि एक ही व्यक्ति है। जिस प्रकार वर्तमान शरीरमें इतना परिवर्तन होनेपर भी आत्मा नहीं बदला, उसी प्रकार मरनेके बाद दूसरा शरीर मिलनेपर भी यह नहीं बदलनेका। इससे आत्माकी नित्यता सिद्ध होती है।

(२) मनुष्य अपना अभाव कभी नहीं देखता, वह यह कभी नहीं सोचता कि एक दिन मैं नहीं रहूँगा, अथवा मैं पहले नहीं था। अपने अभावके बारेमें आत्माकी ओरसे उसे कभी गवाही नहीं मिलती। वह यही सोचता है कि मैं सदासे हूँ और सदा रहूँगा। इससे भी आत्माकी नित्यता सिद्ध होती है।

(३) बालक जन्मते ही रोने लगता है और जन्मनेके बाद कभी हँसता है, कभी रोता है, कभी सोता है; जब माता उसके मुखमें स्तन देती है तो वह उसमेंसे दूध खींचने लगता है और धमकाने आदिपर भयसे काँपता हुआ भी देखा जाता है। बालकके ये सब आचरण पूर्वजन्मका लक्ष्य कराते हैं, । क्योंकि इस जन्ममें तो उसने ये सब बातें सीखीं नहीं। पूर्वजन्मके अभ्याससे ही ये सब बातें उसके अंदर स्वाभाविक ही होने लगती हैं। पूर्वजन्ममें अनुभव किये हुए सुख-दुःखका स्मरण करके ही वह हँसता और रोता है, पूर्वमें अनुभव किये हुए मृत्युभयके कारण ही वह काँपने लगता है तथा पूर्वजन्ममें किये हुए स्तनपानके अभ्याससे ही वह माताके स्तनका दूध खींचने लगता है।

(४) जीवोंमें जो सुख-दुःखका भेद, प्रकृति अर्थात् स्वभाव और गुण-कर्मका भेद—काम-क्रोध, राग-द्वेष आदिकी न्यूनाधिकता

तथा क्रियाका भेद एवं बुद्धिका भेद दृष्टिगोचर होता है, उससे भी पूर्वजन्मकी सिद्धि होती है। एक ही माता-पितासे उत्पन्न हुई सन्तान—यहाँतक कि एक ही साथ पैदा हुए बच्चे भी इन सब बातोंमें एक दूसरेसे विलक्षण पाये जाते हैं। पूर्वजन्मके संस्कारोंके अतिरिक्त इस विचित्रतामें कोई हेतु नहीं हो सकता। जिस प्रकार ग्रामोफोनकी चूड़ीपर उतरे हुए किसी गानेको सुनकर हम यह अनुमान करते हैं कि इसी प्रकार किसी मनुष्यने इस गानेको कहीं अन्यत्र गाया होगा, तभी उसकी प्रतिध्वनिको आज हम इस रूपमें सुन पाते हैं, उसी प्रकार आज हम किसीको सुखी अथवा दुखी देखते हैं अथवा अच्छे-बुरे स्वभाव और बुद्धिवाला पाते हैं तो उससे यही अनुमान होता है कि उसने पूर्वजन्ममें वैसे ही कर्म किये होंगे, जिनके संस्कार उसके अन्तःकरणमें संगृहीत हैं जिन्हें वह अपने साथ लेता आया है। यदि किसीको वर्तमान जीवनमें हम सुखी पाते हैं, तो इसका मतलब यही है कि उसने पूर्वजन्ममें अच्छे कर्म किये होंगे और दुखी पाते हैं तो इसका मतलब यह होता है कि उसने पूर्वजन्ममें अशुभ कर्म किये होंगे। यही बात स्वभाव, गुण और बुद्धि आदिके सम्बन्धमें समझनी चाहिये।

यदि कोई कहे कि संस्कारोंके भेदके लिये पूर्वजन्मको माननेकी क्या आवश्यकता है, ईश्वरकी इच्छाको ही इसमें हेतु क्यों न मान लिया जाय, तो इसका उत्तर यह है कि इस वैचित्र्यका कारण ईश्वरको माननेसे उनमें वैषम्य एवं नैर्घृण्य (निर्दयता) का दोष आवेगा। वैषम्यका दोष तो इस बातको लेकर आवेगा कि उन्होंने अपने मनसे किसीको सुखी और किसीको दुखी बनाया। और निर्दयताका दोष इसलिये आवेगा कि उन्होंने कुछ जीवोंको

बेमतलब ही दुखी बना दिया । ईश्वरमें कोई दोष घट नहीं सकता, इसलिये पूर्वकृत कर्मोंको ही लोगोंके स्वभावके भेद तथा भोगके वैषम्यमें हेतु मानना पड़ेगा ।

इन सब युक्तियोंसे यह सिद्ध होता है कि प्राणियोंका पुनर्जन्म होता है । अब जब यह सिद्ध हो गया कि पुनर्जन्म होता है तब दूसरा प्रश्न यह होता है कि ऐसी स्थितिमें मनुष्यको क्या करना चाहिये । विचार करनेपर मालूम होता है कि शाश्वत एवं निरतिशय सुखकी प्राप्ति तथा दुःखोंसे सदाके लिये छुटकारा पा जाना ही जीवमात्रका ध्येय है और उसीके लिये मनुष्यको यत्नवान् होना चाहिये । शास्त्रोंमें पुनर्जन्मको ही दुःखका घर बतलाया है और परमात्माकी प्राप्ति ही इस दुःखसे छूटनेका एकमात्र उपाय है । भगवान् श्रीकृष्ण गीतामें कहते हैं—

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥
(८ । १५)

'परम सिद्धिको प्राप्त महात्माजन मुझको प्राप्त होकर दुःखोंके घर एवं क्षणभङ्गुर पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होते ।'

इससे यह सिद्ध हुआ कि परमात्माकी प्राप्ति ही दुःखोंसे सदाके लिये छूटनेका एकमात्र उपाय है और यह मनुष्य-जन्ममें ही सम्भव है । अतः जो इस जन्मको पाकर परमात्माको प्राप्त कर लेते हैं, वे ही संसारमें धन्य हैं और वे ही बुद्धिमान् एवं चतुर हैं। मनुष्य-जन्मको पाकर जो इसे विषय-भोगमें ही गँवा देते हैं, वे

अत्यन्त जडमति हैं और शास्त्रोंने उनको कृतघ्न एवं आत्महत्यारा बतलाया है। श्रीमद्भागवतमें भगवान् उद्धवसे कहते हैं—

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं
प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम् ।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं
पुमान् भवाब्धिं न तरेत्स आत्महा ॥
(११।२०।१७)

'यह मनुष्यशरीर समस्त शुभ फलोंकी प्राप्तिका आदिकारण तथा अत्यन्त दुर्लभ होनेपर भी ईश्वरकी कृपासे हमारे लिये सुलभ हो गया है; वह इस संसाररूपी समुद्रसे पार होनेके लिये सुदृढ़ नौका है, जिसे गुरुरूप नाविक चलाता है। और मैं (श्रीकृष्ण) वायुरूप होकर उसे आगे बढ़ानेमें सहायता देता हूँ। ऐसी सुन्दर नौकाको पाकर भी जो मनुष्य इस भवसागरको नहीं तरता, वह निश्चय ही आत्माका हनन करनेवाला अर्थात् पतन करनेवाला है।'

गोस्वामी तुलसीदासजी भी कहते हैं—

जो न तरै भव सागर नर समाज अस पाइ ।
सो कृतनिंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ ॥
(रामचरित० उत्तर० ४४)

यहाँ यह प्रश्न होता है कि इसके लिये हमें क्या करना चाहिये। इसका उत्तर हमें स्वयं भगवान्‌के शब्दोंमें इस प्रकार मिलता है। वे कहते हैं—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ॥
(गीता ६।५)

'मनुष्यको चाहिये कि वह अपनेद्वारा अपना संसार-समुद्रसे उद्धार करे और अपनेको अधोगतिमें न डाले।'

उद्धारका अर्थ है उत्तम गुणों एवं उत्तम भावोंका संग्रह एवं उत्तम आचरणोंका अनुष्ठान और पतनका अर्थ है दुर्गुण एवं दुराचारोंका ग्रहण। क्योंकि इन्हींसे क्रमशः मनुष्यकी उत्तम एवं अधम गति होती है। इन्हींका भगवान्ने क्रमशः दैवी सम्पत्ति एवं आसुरी सम्पत्तिके नामसे गीताके सोलहवें अध्यायमें वर्णन किया है और यह भी बतलाया है कि दैवी सम्पत्ति मोक्षकी ओर ले जानेवाली है--'दैवी सम्पद्विमोक्षाय' और आसुरी सम्पत्ति बाँधनेवाली अर्थात् बार-बार संसारचक्रमें गिरानेवाली है--'निबन्धायासुरी मता।' यही नहीं, आसुरी सम्पदावालोंके आचरणोंका वर्णन करते हुए वे कहते हैं कि 'उन अशुभ आचरणवाले द्वेषी, क्रूर (निर्दय) एवं मनुष्योंमें अधम पुरुषोंको मैं संसारमें बार-बार पशु-पक्षी आदि तिर्यक् योनियोंमें गिराता हूँ और जन्म-जन्ममें उन योनियोंको प्राप्त हुए वे मूढ़ पुरुष मुझे न पाकर उससे भी अधम गति (घोर नरकों) को प्राप्त होते हैं।'* इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्तम गुण, भाव और आचरण ही ग्रहण करने योग्य हैं और दुर्गुण, दुर्भाव तथा दुराचार त्यागने योग्य हैं। गीताके १३ वें अध्यायके

---

* तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥
(१६। १९-२०)

७ वेंसे ११ वें श्लोकतक भगवान्ने इन्हींका ज्ञान और अज्ञानके नामसे वर्णन किया है। ज्ञानके नामसे वहाँ जिन गुणोंका वर्णन किया गया है, वे आत्माका उद्धार करनेवाले—ऊपर उठानेवाले हैं और इससे विपरीत जो अज्ञान है—'अज्ञानं यदतोऽन्यथा,' वह गिरानेवाला—पतन करनेवाला है।

सद्गुण और सदाचार कौन हैं तथा दुर्गुण एवं दुराचार कौन-से हैं, ग्रहण करने योग्य आचरण कौन हैं तथा त्यागने योग्य कौन-से हैं—इसका निर्णय हम शास्त्रोंद्वारा ही कर सकते हैं। शास्त्र ही इस विषयमें प्रमाण हैं। भगवान्ने भी गीतामें कहा है—

> तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
> ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥
> (१६।२४)

'इससे तेरे लिये इस कर्तव्य और अकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है। ऐसा जानकर तू शास्त्रविधिसे नियत कर्म ही करने योग्य है।'

यदि नाना प्रकारके शास्त्रोंको देखनेसे तथा उनमें कहीं-कहीं आये हुए परस्परविरोधी वाक्योंको पढ़नेसे बुद्धि भ्रमित हो जाय और शास्त्रके यथार्थ तात्पर्यका निर्णय न कर सके तो पूर्वकालमें हमारी दृष्टिमें शास्त्रके मर्मको जाननेवाले जो भी महापुरुष हो गये हों उनके बतलाये हुए मार्गका अनुसरण करना चाहिये। शास्त्रोंकी भी यही आज्ञा है। महाभारतकार कहते हैं—

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना
नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम् ।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः ॥
(वन० ३१३ । ११७)

'धर्मके विषयमें तर्ककी कोई प्रतिष्ठा (स्थिरता) नहीं, श्रुतियाँ भिन्न-भिन्न तात्पर्यवाली हैं तथा ऋषि-मुनि भी कोई एक नहीं हुआ है जिससे उसीके मतको प्रमाणस्वरूप माना जाय, धर्मका तत्त्व गुहामें छिपा हुआ है, अर्थात् धर्मकी गति अत्यन्त गहन है, इसलिये (मेरी समझमें) जिस मार्गसे कोई महापुरुष गया हो, वही मार्ग है, अर्थात् ऐसे महापुरुषका अनुकरण करना ही धर्म है।' उन्हींके आचरणको अपना आदर्श बना लेना चाहिये और उसीके अनुसार चलनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

यदि किसीको ऐसे महापुरुषोंके मार्गमें भी संशय हो तो फिर उसे यही उचित है कि वह वर्तमानकालके किसी जीवित सदाचारी महात्मा पुरुषको—जिसमें भी उसकी श्रद्धा हो और जिसे वह श्रेष्ठ महापुरुष समझता हो—अपना आदर्श बना ले और उनके बतलाये हुए मार्गको ग्रहण करे, उनके आदेशके अनुसार चले। और यदि किसी-पर भी विश्वास न हो तो अपने अन्तरात्मा, अपनी बुद्धिको ही पथप्रदर्शक बना ले—एकान्तमें बैठकर विवेक-वैराग्ययुक्त बुद्धिसे शान्ति एवं धीरजके साथ स्वार्थत्यागपूर्वक निष्पक्षभावसे विचार करे कि मेरा ध्येय क्या है, मुझे क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये। इस प्रकार अपने हिताहितका विचार करके संसारमें कौन-सी वस्तु

मेरे लिये ग्राह्य है और कौन-सी अग्राह्य है, इसका निर्णय कर ले और फिर दृढ़तापूर्वक उस निश्चयपर स्थित हो जाय। जो मार्ग उसे ठीक मालूम हो, उसपर दृढ़तापूर्वक आरूढ़ हो जाय और जो आचरण उसे निषिद्ध जँचें उन्हें छोड़नेकी प्राणपणसे चेष्टा करे; भूलकर भी उस ओर न जाय। इस प्रकार निष्पक्षभावसे विचार करनेपर, अन्तरात्मासे पूछनेपर भी उसे भीतरसे यही उत्तर मिलेगा कि अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य और परोपकार आदि ही श्रेष्ठ हैं; हिंसा, असत्य, व्यभिचार और दूसरेका अनिष्ट आदि करनेके लिये उसका अन्तरात्मा उसे कभी न कहेगा। नास्तिक-से-नास्तिकको भी भीतरसे यही आवाज सुनायी देगी। इस प्रकार अपना लक्ष्य स्थिर कर लेनेके बाद फिर कभी उसके विपरीत आचरण न करे। अच्छी प्रकार निर्धारित किये हुए अपने ध्येयके अनुसार चलना ही आत्माका उत्थान करना है। और उस निश्चयके अनुसार न चलकर उसके विपरीत मार्गपर चलना ही उसका पतन है। जो आचरण अपनी दृष्टिमें तथा दूसरोंकी दृष्टिमें भी हेय है, उसे जान-बूझकर करना मानो अपने आप ही फाँसी लगाकर मरना, अपने ही पैरोंपर कुल्हाड़ी मारना, अपने ही हाथों अपना अहित करना है। इसीलिये भगवान् कहते हैं—'नात्मानमवसादयेत्' (गीता ६।५) जान-बूझकर अपने-आप अपना पतन न करे।

हमारे शास्त्रोंमें मन, वाणी और शरीरसे होनेवाले कुछ दोष गिनाये हैं और साथ ही मन, वाणी और शरीरके पाँच-पाँच तप भी बतलाये हैं। आत्माका उद्धार चाहनेवाले मनुष्यको चाहिये कि वह उपर्युक्त मन, वाणी और शरीरके दोषोंका त्याग करे और शारीरिक, वाचिक एवं मानसिक—तीनों प्रकारके तपका आचरण करे। शरीरसे

होनेवाले दोष तीन हैं—बिना दिया हुआ धन लेना, शास्त्रविरुद्ध हिंसा और परस्त्रीगमन।* वाचिक पाप चार हैं—कठोर वचन कहना, झूठ बोलना, चुगली करना और बे-सिर-पैरकी ऊलजलूल बातें करना।† मानसिक पाप तीन हैं—दूसरेका माल मारनेका दाँव सोचना, मनसे दूसरेका अनिष्टचिन्तन करना और मैं शरीर हूँ—इस प्रकारका झूठा अभिमान करना।‡

इन त्रिविध पापोंका नाश करनेके लिये भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें तीन प्रकारके तप बतलाये हैं—शारीरिक तप, वाचिक तप और मानस तप। उक्त तीन प्रकारके तपका स्वरूप भगवान्ने इस प्रकार बतलाया है—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥

(गीता १७।१४)

'देवता, ब्राह्मण, गुरु (माता-पिता एवं आचार्य आदि) और

---

* अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः।
परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम्॥
(मनु० १२।७)

† पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चापि सर्वशः।
असम्बद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम्॥
(मनु० १२।६)

‡ परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्टचिन्तनम्।
वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम्॥
(मनु० १२।५)

ज्ञानीजनोंका पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह शरीरसम्बन्धी तप कहा जाता है।'

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥
(गीता १७।१५)

'जो उद्वेगको न करनेवाला, प्रिय और हितकारक एवं यथार्थ भाषण है तथा जो वेद-शास्त्रोंके पठन एवं परमेश्वरके नाम-जपका अभ्यास है—वही वाणीसम्बन्धी तप कहा जाता है।'

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥
(गीता १७।१६)

'मनकी प्रसन्नता, शान्तभाव, भगवच्चिन्तन करनेका स्वभाव, मनका निग्रह और अन्तःकरणकी पवित्रता—इस प्रकार यह मन-सम्बन्धी तप कहा जाता है।'

प्रत्येक कल्याणकामी पुरुषको चाहिये कि वह उपर्युक्त तीनों प्रकारके तपका सात्त्विक* भावसे अभ्यास करे।

---

*श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते॥
(गीता १७।१७)

'फलको न चाहनेवाले योगी पुरुषोंद्वारा परम श्रद्धासे किये हुए उस पूर्वोक्त तीन प्रकारके तपको सात्त्विक कहते हैं।'

अन्तमें हम एक बात और कहकर इस लेखको समाप्त करते हैं। दुःखरूप संसारसे छूटनेका एक सर्वोत्तम उपाय है—परमात्माकी शरण लेकर विवेक और वैराग्ययुक्त बुद्धिसे दुःख, शोक, भय और चिन्ताका त्याग। इसपर यदि कोई कहे कि दुःख-सुख तो प्रारब्धके अनुसार भोगने ही पड़ते हैं, तो इसका उत्तर यह है, दुःख-सुखके निमित्तोंका प्राप्त होना और हट जाना ही प्रारब्धका फल है; उन निमित्तोंको लेकर हमें जो चिन्ता, शोक, भय एवं विषाद होता है वह हमारी मूर्खतासे होता है, अज्ञानसे होता है। उनके होनेमें प्रारब्ध हेतु नहीं है। पुत्रका वियोग हो जाना, धनका अपहरण हो जाना; व्यापारमें घाटा लग जाना, इज्जत-आबरूका चला जाना, बीमारी और अपकीर्तिका होना—ये सब घटनाएँ प्रारब्धके कारण होती हैं; परन्तु इनसे जो हमें विषाद होता है, उसमें हमारा अज्ञान हेतु है। प्रारब्ध नहीं। यदि हम स्वयं इन घटनाओंसे दुखी न हों, तो इन घटनाओंकी ताकत नहीं कि वे हमें दुखी कर सकें। यदि इन घटनाओंमें दुखी करनेकी शक्ति होती तो उनसे ज्ञानियोंको भी दुःख होता, परन्तु ज्ञानी जीवन्मुक्त महापुरुषोंके लिये शास्त्र डंकेकी चोट यह कहते हैं कि उन्हें अप्रिय-से-अप्रिय घटनाको लेकर भी दुःख नहीं होता, वे सुख-दुःखसे परे हो जाते हैं। उनकी दृष्टिमें प्रिय-अप्रिय कुछ रह नहीं जाता। उनके विषयमें श्रुति कहती है—'तरति शोकमात्मवित्।' (छा० ७।१।३) आत्माको जान लेनेवाला शोकसे तर जाता है। 'हर्षशोकौ जहाति' (कठ० १।२।१२) ज्ञानी पुरुष हर्ष और शोकका त्याग कर देता है, दोनों ही स्थितियोंको लाँघ जाता है। 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' (ईश० ७)—सर्वत्र

एक परमात्माको ही देखनेवाले आत्मदर्शी पुरुषके लिये शोक और मोहका कोई कारण नहीं रह जाता। भगवान् भी गीतामें अर्जुनसे अपने उपदेशके प्रारम्भमें ही कहते हैं—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥
(२।११)

'हे अर्जुन! तू न शोक करनेयोग्य मनुष्योंके लिये शोक करता है और पण्डितोंके-से वचनोंको कहता है; परन्तु जिनके प्राण चले गये हैं, उनके लिये और जिनके प्राण नहीं गये हैं, उनके लिये भी पण्डितजन शोक नहीं करते।'

इससे यह सिद्ध होता है कि शोक न करना हमारे हाथमें है। यदि ऐसी बात न होती और इसका सम्बन्ध प्रारब्धसे होता, तो ज्ञानोत्तर कालमें ज्ञानीको भी शोक होता और भगवान् भी शोक छोड़नेके लिये अर्जुनको कभी न कहते। शरीरोंका उत्पत्ति-विनाश और क्षय-वृद्धि तथा सांसारिक पदार्थोंका संयोग-वियोग ही प्रारब्ध-से सम्बन्ध रखता है; उनके विषयमें जो चिन्ता, भय और शोक होता है वह अज्ञानके कारण ही होता है। सांसारिक विपत्तिके आनेपर भी जो शोक नहीं करते—रोते नहीं, उनकी उससे कोई हानि नहीं होती। अतः परमात्माकी शरण ग्रहण करके प्रमाद, आलस्य, पाप, भोग, शोक-मोह, विषाद-चिन्ता एवं भयका त्याग कर हमें परमात्माके स्वरूपमें अचल भावसे स्थित हो जाना चाहिये।

तीर्थोंमें पालन करने योग्य कुछ उपयोगी बातें

संसारमें चार पदार्थ हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। तीर्थोंमें (पवित्र स्थानोंमें) यात्रा करते समय अर्थ (धन) तो व्यय होता है; अब रहे धर्म, काम और मोक्ष—सो जो राजसी पुरुष होते हैं वे तो तीर्थोंमें सांसारिक कामनापूर्तिके लिये जाते हैं और जो सात्त्विक लोग होते हैं वे धर्म और मोक्षके लिये जाते हैं। धर्मका पालन भी वे आत्मोद्धारके लिये ही निष्कामभावसे करते हैं। अतएव कल्याण-कामी पुरुषोंको तो अन्तःकरणकी शुद्धि और परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही तीर्थोंमें जाना चाहिये। तीर्थोंमें जाकर किस प्रकार क्या-क्या करना चाहिये, ये बातें बतलायी जाती हैं।

(१) पैदल यात्रा करते समय मनके द्वारा भगवान्के स्वरूप-का ध्यान और वाणीके द्वारा नामजप करते हुए चलना चाहिये।

यदि बहुत आदमी साथ हों तो सबको मिलकर भगवान्‌का नाम-कीर्तन करते हुए चलना चाहिये। रेलगाड़ी आदि सवारियोंपर यात्रा करते समय भी भगवान्‌को याद रखते हुए ही धार्मिक पुस्तकोंका अध्ययन अथवा भगवान्‌के नामका जप करते रहना चाहिये।

(२) गङ्गा, सिन्धु, सरस्वती, यमुना, गोदावरी, नर्मदा, कावेरी कृष्णा, सरयू, मानसरोवर, कुरुक्षेत्र, पुष्कर, गङ्गासागर आदि तीर्थोंमें उनके गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य और महिमाका स्मरण करते हुए आत्मशुद्धि और कल्याणके लिये स्नान करना चाहिये।

(३) तीर्थस्थानोंमें श्रीराम, श्रीकृष्ण, श्रीशिव, श्रीविष्णु आदि भगवद्विग्रहोंका श्रद्धा-प्रेमपूर्वक दर्शन करते हुए उनके गुण, प्रभाव, लीला, तत्त्व, रहस्य और महिमा आदिका स्मरण करके दिव्य स्तोत्रोंके द्वारा आत्मोद्धारके लिये उनकी स्तुति-प्रार्थना करनी चाहिये।

(४) तीर्थोंमें साधु, महात्मा, ज्ञानी, योगी और भक्तोंके दर्शन, सेवा, सत्सङ्ग, नमस्कार, उपदेश, आदेश और वार्तालापके द्वारा विशेष लाभ उठानेके लिये उनकी खोज करनी चाहिये। भगवान्‌ने अर्जुनके प्रति गीतामें कहा है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

(४। ३४)

'उस ज्ञानको तू समझ; श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्यके पास जाकर उनको भलीभाँति दण्डवत्-प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे

और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे परमात्मतत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले वे ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे ।'

(५) कञ्चन-कामिनीके लोलुप, अपने नाम-रूपको पुजवाकर लोगोंको उच्छिष्ट (जूँठन) खिलानेवाले, मान-बड़ाई और प्रतिष्ठाके गुलाम, प्रमादी और विषयासक्त पुरुषोंका भूलकर भी सङ्ग नहीं करना चाहिये, चाहे वे साधु, ब्रह्मचारी और तपस्वीके वेषमें भी क्यों न हों । मांसाहारी, मादक पदार्थोंका सेवन करनेवाले, पापी, दुराचारी और नास्तिक पुरुषोंका तो दर्शन भी नहीं करना चाहिये।

तीर्थोंमें किसी-किसी स्थानपर तो पण्डे-पुजारी और महन्त आदि यात्रियोंको अनेक प्रकारसे तंग किया करते हैं । जैसे—यात्रा सफल करवानेके नामपर दुराग्रहपूर्वक अधिक धन लेनेके लिये अड़ जाना, देवमन्दिरोंमें बिना पैसे लिये दर्शन न करवाना, बिना भेंट लिये स्नान न करने देना, यात्रियोंको धमकाकर और पापका भय दिखलाकर जबरदस्ती रुपये ऐंठना, मन्दिरों और तीर्थोंपर भोग-भण्डारे और अटके आदिके नामपर अधिक भेंट लेनेके लिये अनुचित दबाव डालना, अपने स्थानपर ठहराकर अधिक धन प्राप्त करनेका दुराग्रह करना, सफेद चील (गिद्ध) पक्षियोंको ऋषि और देवताका रूप देकर और उनकी जूँठन खिलाकर भोले-भाले यात्रियोंसे धन ठगना तथा देवमूर्तियोंद्वारा शर्बत पिये जाने आदि झूठी करामातोंको प्रसिद्ध करके लोगोंको ठगना इत्यादि। यात्रियोंको इन सबसे सावधान रहना चाहिये ।

(६) साधु, ब्राह्मण, तपस्वी, ब्रह्मचारी, विद्यार्थी आदि सत्पात्रोंकी तथा दुखी, अनाथ, आतुर, अङ्गहीन, बीमार और साधक

पुरुषोंकी अन्न, वस्त्र, औषध और धार्मिक पुस्तकों आदिके द्वारा यथायोग्य सेवा करनी चाहिये।

(७) भोग और ऐश्वर्यको अनित्य समझते हुए विवेक-वैराग्य-पूर्वक वशमें किये हुए मन और इन्द्रियोंको शरीर-निर्वाहके अतिरिक्त अपने-अपने विषयोंसे हटानेकी चेष्टा करनी चाहिये।

(८) अपने-अपने अधिकारके अनुसार सन्ध्या, तर्पण, जप, ध्यान, पूजा-पाठ, स्वाध्याय, हवन, बलिवैश्व, सेवा आदि नित्य और नैमित्तिक कर्म ठीक समयपर करनेकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये। यदि किसी विशेष कारणवश समयका उल्लङ्घन हो जाय तो भी कर्मका उल्लङ्घन नहीं करना चाहिये।

गीता, रामायण आदि शास्त्रोंका अध्ययन, भगवन्नामजप, सूर्य भगवान्‌को अर्घ्यदान, इष्टदेवकी पूजा, ध्यान, स्तुति, नमस्कार और प्रार्थना आदि तो सभी वर्ण और आश्रमके स्त्री-पुरुषोंको अवश्य ही करने चाहिये।

(९) काम, क्रोध, लोभ आदिके वशमें होकर किसी भी जीवको किसी प्रकार किञ्चिन्मात्र भी दुःख कभी नहीं पहुँचाना चाहिये।

(१०) कीर्तन और स्वाध्यायके अतिरिक्त समयमें मौन रहनेकी चेष्टा करनी चाहिये; क्योंकि मौन रहनेसे जप और ध्यानके साधनमें विशेष मदद मिलती है। यदि विशेष कार्यवश बोलना पड़े तो सत्य, प्रिय और हितकारक वचन बोलने चाहिये। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें वाणीके तपका लक्षण करते हुए कहा है—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥
(१७ । १५)

'जो उद्वेग न करनेवाला, प्रिय और हितकारक एवं यथार्थ भाषण है तथा जो वेद-शास्त्रोंके पठन एवं परमेश्वरके नाम-जपका अभ्यास है—वही वाणीसम्बन्धी तप कहा जाता है ।'

(११) निवास-स्थान और बरतनोंके अतिरिक्त किसीकी कोई भी चीज काममें नहीं लानी चाहिये । बिना माँगे देनेपर भी बिना मूल्य स्वीकार नहीं करनी चाहिये । तीर्थोंमें सगे-सम्बन्धी, मित्र आदिकी भेंट-सौगात आदि भी नहीं लेनी चाहिये । बिना अनुमतिके तो किसीकी कोई भी वस्तु काममें लेना चोरीके समान है । बिना मूल्य औषधादि लेना भी दानके समान ही है ।

(१२) मन, वाणी और शरीरसे ब्रह्मचर्यके पालनपर विशेष ध्यान रखना चाहिये । स्त्रीको परपुरुषका और पुरुषको परस्त्रीका तो दर्शन, स्पर्श, भाषण और चिन्तन आदि भी कभी नहीं करना चाहिये । यदि विशेष आवश्यकता हो जाय तो स्त्रियाँ पुरुषोंको पिता या भाईके समान समझती हुई और पुरुष परस्त्रियोंको माता या बहिनके समान समझते हुए नीची दृष्टि करके संक्षेपमें वार्तालाप कर सकते हैं । यदि एक दूसरेकी किसीके ऊपर पापबुद्धि हो जाय तो कम-से-कम एक दिनका उपवास करे ।

(१३) ऐश, आराम, स्वाद, शौक़ और भोगबुद्धिसे तीर्थोंमें न तो किसी पदार्थका संग्रह करना चाहिये और न सेवन ही करना

चाहिये। केवल शरीरनिर्वाहमात्रके लिये त्याग और वैराग्य-बुद्धिसे अन्न-वस्त्रका उपयोग करना चाहिये।

(१४) तीर्थोंमें अपनी कमाईके द्रव्यसे पवित्रतापूर्वक बनाये हुए अन्न और दूध-फल आदि सात्त्विक पदार्थोंका ही भोजन करना चाहिये। सबके साथ स्वार्थ और अहङ्कारको त्यागकर दया, विनय और प्रेमपूर्वक सात्त्विक व्यवहार करना चाहिये।

(१५) तीर्थोंमें बीड़ी, सिगरेट, तमाखू, गाँजा, भाँग, चरस, कोकिन आदि मादक वस्तुओंका, लहसुन, प्याज, बिस्कुट, बर्फ, सोडा, लेमोनेड आदि अपवित्र पदार्थोंका, ताश, चौपड़, शतरंज खेलना और नाटक-सिनेमा देखना आदि प्रमादका तथा गाली-गलौज, चुगली-निन्दा, हँसी-मजाक, फालतू बकवाद, आक्षेप आदि व्यर्थ वार्तालापका कतई त्याग करना चाहिये।

(१६) गङ्गा, यमुना और देवालय आदि तीर्थस्थानोंसे बहुत दूरीपर मल-मूत्रका त्याग करना चाहिये। जो मनुष्य गङ्गा-यमुना आदिके तटपर मल-मूत्रका त्याग करता है तथा गङ्गा-यमुना आदिमें दतुअन और कुल्ले करता है, वह स्नान-पानके पुण्यको न पाकर पापका ही भागी होता है।

(१७) काम-क्रोध, लोभ-मोह, मद-मात्सर्य, राग-द्वेष, दम्भ-कपट, प्रमाद-आलस्य आदि दुर्गुणोंका तीर्थोंमें सर्वथा त्याग करना चाहिये।

(१८) सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख और अनुकूल-प्रतिकूल

पदार्थोंके प्राप्त होनेपर उनको भगवान्‌का भेजा हुआ पुरस्कार मानकर सदा-सर्वदा प्रसन्नचित्त और सन्तुष्ट रहना चाहिये।

(१९) तीर्थयात्रामें अपने सङ्गवालोंमेंसे किसी साथी तथा आश्रितको भारी विपत्ति आनेपर काम, क्रोध या भयके कारण उसे अकेले कभी नहीं छोड़ना चाहिये। महाराज युधिष्ठिरने तो स्वर्गका तिरस्कार करके परम धर्म समझकर अपने साथी कुत्तेका भी त्याग नहीं किया। जो लोग अपने किसी साथी या आश्रितके बीमार पड़ जानेपर उसे छोड़कर तीर्थ-स्नान और भगवद्विग्रहके दर्शन आदिके लिये चले जाते हैं उनपर भगवान् प्रसन्न न होकर उलटे नाराज हो जाते हैं, क्योंकि 'परमात्मा ही सबकी आत्मा है' इस न्यायसे उस आपद्ग्रस्त साथीका तिरस्कार परमात्माका ही तिरस्कार है। इसलिये विपत्तिग्रस्त साथीका त्याग तो भूलकर भी कभी नहीं करना चाहिये।

(२०) जैसे तीर्थोंमें किये हुए स्नान, दान, जप, तप, यज्ञ, व्रत, उपवास, ध्यान, दर्शन, पूजा-पाठ, सेवा-सत्सङ्ग आदि महान् फलदायक होते हैं, वैसे ही वहाँ किये हुए झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार, हिंसा आदि पापकर्म भी वज्रपाप हो जाते हैं। इसलिये तीर्थोंमें किसी प्रकारका किञ्चिन्मात्र भी पाप कभी नहीं करना चाहिये।

शास्त्रोंमें तीर्थोंकी अनेक प्रकारकी महिमा मिलती है। महाभारतमें पुलस्त्य ऋषिने कहा है—

पुष्करे तु कुरुक्षेत्रे गङ्गायां मगधेषु च।
स्नात्वा तारयते जन्तुः सप्त सप्तावरांस्तथा॥

(वनपर्व ८२। १०२)

'पुष्करराज, कुरुक्षेत्र, गङ्गा और मगधदेशीय तीर्थोंमें स्नान करनेवाला मनुष्य अपनी सात-सात पीढ़ियोंका उद्धार कर देता है।

पुनाति कीर्तिता पापं दृष्टा भद्रं प्रयच्छति।
अवगाढा च पीता च पुनात्यासप्तमं कुलम्॥

(वनपर्व ८५। ९३)

'गङ्गा अपना नाम उच्चारण करनेवालेके पापोंका नाश करती है। दर्शन करनेवालेका कल्याण करती है और स्नान-पान करनेवालेकी सात पीढ़ियोंतकको पवित्र करती है।'

ऐसे-ऐसे वचनोंको लोग अर्थवाद और रोचक मानने लगते हैं, किन्तु इनको रोचक एवं अर्थवाद न मानकर यथार्थ ही समझना चाहिये। इनका फल यदि पूरा देखनेमें न आता हो तो उसका कारण हमारे पूर्वसञ्चित पाप, वर्तमान नास्तिक वातावरण, पण्डे और पुजारियोंके दुर्व्यवहार तथा तीर्थोंमें पाखण्डी, नास्तिक और भयानक कर्म करनेवालोंके निवास आदिसे लोगोंकी तीर्थोंमें श्रद्धा और प्रेमका कम हो जाना ही है।

अतएव कुसङ्गसे बचकर तीर्थोंमें श्रद्धा-प्रेम रखते हुए सावधानीके साथ उपर्युक्त नियमोंका भलीभाँति पालन करके तीर्थोंसे लाभ उठाना चाहिये। यदि इन नियमोंके पालनमें कहीं कुछ कमी भी रह जाय तो इतना हर्ज नहीं, परन्तु चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते, भगवान्के नामका जप तथा गुण-प्रभाव और लीलाके सहित उनके स्वरूपका ध्यान तो सदा-सर्वदा निरन्तर ही करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

शोकनाशके उपाय

दुःख अथवा शोकके दो ही हेतु होते हैं—प्रियवियोग एवं अप्रियसंयोग अथवा इष्टका विनाश एवं अनिष्टकी प्राप्ति। इन्हीं दो हेतुओंसे मनुष्यको दुःख, शोक, चिन्ता, भय अथवा व्याकुलता होती है। इन्हीं दो बातोंको लेकर सारा संसार दुखी हो रहा है, ऐसा कहा जाय तो भी अत्युक्ति न होगी। कोई-कोई तो इनके कारण इतने अधिक दुखी हो जाते हैं कि उन्हें सारा संसार अन्धकारमय दीखने लगता है, उन्हें चारों ओरसे निराशाके बादल घेर लेते हैं, शोकके मारे दिन-रात उनकी छाती जला करती है, दिनमें चैन नहीं पड़ता और रातको नींद नहीं आती, शरीर सूखकर काँटा हो जाता है, खाना-पीना हराम हो जाता है—यहाँतक कि कुछ लोगोंको तो जीवन भारी हो जाता है और वे घुल-घुलकर शरीर छोड़ देते हैं। कुछ लोग तो और भी आगे बढ़ जाते हैं—वे मूर्खतासे विषादिका प्रयोग करके, जलमें डूबकर, फाँसी लगाकर अथवा आगमें जलकर प्राण त्याग देते हैं। प्रायः लोग स्त्री, पुत्र, धन, मान, कीर्ति अथवा स्वास्थ्य आदि इष्ट पदार्थोंके नाश

हो जाने अथवा किसी मुकद्दमेमें फँस जाने, किसी भयानक रोगके शिकार हो जाने या किसी प्राणसङ्कटके उपस्थित हो जानेपर ही ऐसा करते हैं। ऐसे पुरुषोंके चित्तको शान्त करनेका क्या उपाय है, इसीपर आज कुछ विचार किया जाता है।

वास्तवमें बात यह है कि ज्ञान, भक्ति अथवा विवेक-विचार किसी भी दृष्टिसे शोक करना अज्ञानके सिवा और कुछ नहीं है। अतएव मनुष्यको न तो धन-मकान, जमीन-जायदाद आदि जड वस्तुओंके लिये और न स्त्री, पुत्र आदि चेतन प्राणियोंके लिये शोक करना चाहिये। जिनका विनाश हो चुका है, उनके लिये तो शोक करना बिल्कुल ही बेकार है; बल्कि जिनका विनाश होनेवाला है, उनके लिये भी बुद्धिमान् मनुष्यको शोक नहीं करना चाहिये। भगवान् श्रीकृष्णने गीताके आरम्भमें अर्जुनको शोककी निवृत्तिके लिये ज्ञानकी दृष्टिसे यही उपदेश दिया है। भगवान् कहते हैं—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥
(गीता २। ११)

'हे अर्जुन! तू न शोक करने योग्य मनुष्योंके लिये शोक करता है और पण्डितोंके-से वचनोंको कहता है; परन्तु जिनके प्राण चले गये हैं उनके लिये और जिनके प्राण अभी नहीं गये अर्थात् जो मरनेवाले हैं। उनके लिये भी पण्डितजन शोक नहीं करते।'

ऊपरके श्लोकसे भगवान्‌का तात्पर्य यह है कि किसीके लिये किसी प्रकार किञ्चिन्मात्र भी शोक कदापि न करना चाहिये।

ज्ञानके सिद्धान्तके अनुसार दो ही पदार्थ माने गये हैं— (१) जड और (२) चेतन । इन्हींको दूसरे शब्दोंमें (१) असत् और (२) सत् भी कह सकते हैं । सत् वह है जिसका नाश न हो और असत् अथवा मिथ्या वह है जो कायम नहीं रहता—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।

(गीता २ । १६)

उपर्युक्त वचनसे भगवान्‌ने यह सिद्ध किया है कि इन्द्रियोंद्वारा दीखनेवाले जितने पदार्थ हैं, वे सब जड, अनित्य, क्षणिक एवं नाशवान् हैं—कुछ गहरा विचार करनेपर प्रतीत होता है कि वे स्वप्नवत् हैं और स्वप्नवत् होनेसे वे वास्तवमें हैं ही नहीं । इसलिये जो ये नाशवान् जड पदार्थ हैं, उनके लिये शोक करना किसी प्रकार भी नहीं बनता ! दूसरा जो चेतन-तत्त्व है, वह नित्य है, सत् है- उसका कभी विनाश नहीं होता । इसलिये उसके लिये भी शोक करना नहीं बनता । वालीके मारे जानेपर उसकी पत्नी ताराको भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने भी यही उपदेश दिया था । वे क्या कहते हैं, इसे गोस्वामी तुलसीदासजीके शब्दोंमें सुनिये—

छिति जल पावक गगन समीरा । पंच रचित अति अधम सरीरा॥
प्रगट सो तनु तव आगें सोवा । जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा॥

(राम० किष्कि० १० । २-३)

'पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश और वायु—इन पञ्चतत्त्वोंसे यह अत्यन्त अधम शरीर बना हुआ है । वह शरीर तो तुम्हारे सामने पड़ा है और जीव नित्य है, फिर तुम किसके लिये रो रही हो ?'

ऊपरके वचनोंसे भी भगवान्‌ने यही दिखलाया है कि शरीर विनाशी है और आत्मा नित्य—अविनाशी है, इसलिये दोनोंकी ही दृष्टिसे शोक करना नहीं बनता। जो वस्तु विनाशी है, नाश होनेके पूर्व भी उसे नष्ट ही समझना चाहिये; क्योंकि वह वस्तु एक-न-एक दिन अवश्य नष्ट होगी, स्थिर नहीं रहनेकी। इस प्रकार इष्ट वस्तुके वियोगमें शोक नहीं करना चाहिये, यह बात ज्ञानकी दृष्टिसे बतलायी गयी।

इसी प्रकार अनिष्टकी प्राप्तिमें भी ज्ञानकी दृष्टिसे शोक करना नहीं बनता। इस बातको स्वप्नके दृष्टान्तसे समझाया जाता है। स्वप्नमें किसीको कोई रोग हो जाय, कैद या बन्धन हो जाय, अथवा जलप्लावन आदि कोई अन्य सङ्कट उपस्थित हो जाय या बाघ, भालू, सर्पादिसे भय प्राप्त हो तो नेत्र खुलनेपर उस अनिष्टकी सत्ता नहीं रहती। जब नेत्र खुलनेपर—जाग्रत्‌में उस वस्तुकी सत्ता नहीं रहती, तब विचारसे ऐसा समझमें आता है कि स्वप्नके समय भी उसका अभाव ही था—अज्ञानके कारण निद्रादोषसे बिना हुए ही उसकी प्रतीति हुई थी, जिसके कारण उस स्वप्नका देखनेवाला दुखी हो गया था। उपर्युक्त स्वप्नके दृष्टान्तसे यह मानना चाहिये कि यदि जाग्रत्‌में हमें अपने मनके प्रतिकूल किसी अनिष्ट वस्तुकी प्राप्ति होती है तो वह भी वास्तवमें असत् ही है, क्योंकि कुछ समयके बाद उस वस्तुका अभाव हो जाता है और जिस वस्तुका अभाव हो जाता है वह वास्तवमें है ही नहीं, केवल प्रतीत होती है। ज्ञान होनेके उत्तरकालमें तो इस दृश्य जगत्‌का अत्यन्त अभाव हो जाता है ऐसा समझकर विवेकी पुरुषको अनिष्टकी प्राप्तिमें भी शोक नहीं करना चाहिये।

ऊपर ज्ञानकी दृष्टिसे इष्ट वस्तुके विनाश और अनिष्टके संयोगमें

शोक करनेका अनौचित्य बतलाया। अब भक्तिकी दृष्टिसे शोक करनेकी अनावश्यकता बतलाते हैं। ऊँचे भक्तोंकी बात तो जाने दीजिये; साधारण कोटिके भक्तोंको भी, यदि उन्हें भक्तिका सिद्धान्त मान्य है, उपर्युक्त दोनों हेतुओंमेंसे किसी भी हेतुको लेकर शोक नहीं करना चाहिये। क्योंकि भक्तिके सिद्धान्तमें जड-चेतन सभी पदार्थ, यहाँतक कि भक्त स्वयं भी—अर्थात् उसका शरीर, इन्द्रिय; मन, बुद्धि सब कुछ भगवान्के ही होते हैं। ऐसी स्थितिमें यदि किसीका पुत्र मर गया, स्त्री जाती रही, पति मर गया, धन नष्ट हो गया, इज्जत-आबरू चली गयी, पैठ मारी गयी, तो उसे ऐसा समझना चाहिये कि वह वस्तु कहीं गयी नहीं; क्योंकि जब सब कुछ भगवान्का है और भगवान् सर्वव्यापी हैं—वे सब जगह और सब कालमें हैं, तब जो वस्तु हमसे छिन जाती है वह भगवान्के राज्यको छोड़कर कहीं अन्यत्र नहीं चली जाती, भगवान्के ही भण्डारमें रहती है। जब सब कुछ भगवान्का है और भगवान् ही जड-चेतन सबके मालिक हैं, तब वे यदि अपनी किसी वस्तुको एक जगहसे हटाकर दूसरी जगह ले जाते हैं, तो हमें उसके लिये दुखी क्यों होना चाहिये ? इसी बातको दृष्टान्तके द्वारा समझानेकी चेष्टा की जाती है।

एक सेठकी कई जगह दूकानें हैं अथवा सरकारी डाकखाने जगह-जगह हैं। यदि सेठ अपनी एक दूकानका माल दूसरी जगह भेजता है अथवा सरकार यदि एक पोस्ट-आफिसका रुपया दूसरे पोस्ट-आफिसमें भेजती है, तो मुनीमको अथवा पोस्टमास्टरको इसके लिये रोनेकी अथवा मन मैला करनेकी क्या आवश्यकता है ? यदि वे ऐसा करते हैं तो यह उनकी सरासर मूर्खता एवं अन्याय है। मालिककी खुशी है, वह अपनी

चीजको चाहे जहाँ रक्खे। सच्चा भक्त अथवा नौकर तो वह है जो मालिक जैसा कहे वैसा करे, मालिककी राजीमें ही राजी रहे। इसके विपरीत जो नौकर मालिककी चीजको मालिकके माँगनेपर देनेमें आनाकानी करता है अथवा दुखी होता है वह सच्चा नौकर नहीं, नमकहराम है। मुनीम दूकानके मालको और पोस्टमास्टर डाकखानेके खजानेको अपना समझने लगे और बदनीयतसे अपने ही पास रखना चाहे तो वह दण्डका पात्र होता है। इसी प्रकार जो मनुष्य भगवान्‌की चीजको अपनी मानकार भगवान्‌के माँगनेपर देनेमें आनाकानी करता है अथवा मन मैला करता है, वह वेईमान है, भक्त नहीं। भक्तको तो प्रभुके विधानमें सदा सन्तुष्ट रहना चाहिये। भगवान्‌की प्रत्येक क्रिया निर्भ्रान्त एवं हितसे भरी हुई होती है और जो कुछ होता है भगवान्‌की आज्ञासे ही होता है—ऐसा समझकर उसे प्रत्येक घटनामें प्रसन्न रहना चाहिये।

भक्तोंकी बात तो जाने दीजिये; संसारमें जो नेकनीयत मनुष्य होते हैं, वे भी ऐसे स्थलोंपर शोक नहीं करते। मान लीजिये कोई मनुष्य अपने किसी विश्वस्त मित्र अथवा बन्धुके पास घरोहरके रूपमें कुछ रुपया अथवा गहने इत्यादि रख देता है और आवश्यकता होनेपर जब उन्हें वापस ले जाता है तो जो ईमानदार होता है वह उस घरोहरको वापस देते समय न आनाकानी करता है और न उस घरोहरके हाथसे चले जानेपर शोक ही करता है, बल्कि जिसकी जो वस्तु थी उसे उसके हवाले करके वह सुखी होता है और ऐसा समझता है मानो उसके सिरसे एक बोझा उतर गया। शोक करनेका तो उसके लिये कोई प्रश्न ही नहीं उठता। किसी मित्रकी घरोहरको अपने पास रखकर उसके लौटानेमें जो आनाकानी करता है वह तो बेईमान है

और विश्वासघाती कहलाता है। इसी प्रकार स्त्री, पुत्र, धन आदि भगवान्की दी हुई धरोहरको जो अपनी मानकर वापस देनेमें आनाकानी करता है अथवा भगवान्के द्वारा जबर्दस्ती वापस ले लिये जानेपर रोता है, वह भगवान्पर विश्वास रखनेवाला भी नहीं समझा जा सकता, फिर भक्त तो उसे कहा ही कैसे जाय ? उसे तो भगवान्की वस्तु भगवान्को सौंप देनेमें प्रसन्नता होनी चाहिये और ऐसा करके चिन्तासे मुक्त हो जाना चाहिये।

यदि कोई स्त्री, पुत्र आदिको भगवान्की वस्तु न समझे तो भी उसे यह समझकर प्रसन्नता होनी चाहिये कि मेरी स्त्री, मेरा पति अथवा पुत्र भगवान्के पास उनकी रक्षामें पहुँच गया। जितनी सँभाल उसकी भगवान् कर सकते हैं, उतनी वह कर ही नहीं सकता था। ऐसी दशामें अपनी प्यारी वस्तुको अपनेसे कहीं अधिक समर्थ एवं प्रेमी रक्षककी देख-रेखमें गयी समझकर उसे शोकके बदले प्रसन्नता ही होनी चाहिये।

यह तो हुई इष्ट वस्तुके वियोगमें शोक न करनेकी बात। इसी प्रकार अनिष्टकी प्राप्तिमें भी भक्तको शोक नहीं करना चाहिये, यह बात आगे समझायी जाती है। जो कुछ भी अनिष्ट हमें प्राप्त होता है, प्रभुकी आज्ञासे ही प्राप्त होता है। कोई वस्तु अथवा घटना अपने कितनी भी प्रतिकूल क्यों न हो, वह मेरे स्वामीके तो अनुकूल ही है—ऐसा समझकर भक्तको सदा प्रसन्न रहना चाहिये। मेरे स्वामीसे भूल तो कभी होती ही नहीं; वे जो कुछ करते हैं, समझ-बूझकर ही करते हैं। ऐसी स्थितिमें अनिष्टरूपमें जो कुछ मुझे प्राप्त होता है, वह तो मेरे प्रभुका भेजा हुआ पुरस्कार है, ऐसा समझकर प्रह्लादकी भाँति उसे प्रतिक्षण मुग्ध होते रहना चाहिये। इसके विपरीत जो किसी

अनिष्ट प्रसङ्गपर क्षुब्ध होता है, वह भगवान्‌का भक्त नहीं कहा जा सकता। भक्तको तो ऐसा मानना चाहिये कि जो कुछ प्रभु करते हैं हमारे हितके लिये ही करते हैं, हम अज्ञतावश उसे समझ नहीं पाते। जिसको हम अनिष्ट समझते हैं, थोड़ा भीतर प्रवेश करनेपर हमें मालूम होगा कि वह तो वास्तवमें हमारे लिये परमानन्दका विषय है। अनिष्ट कहलानेवाले प्रसङ्गोंसे, थोड़ा-सा भी विचार करनेपर हमें निम्नलिखित लाभ प्रत्यक्ष दिखायी देंगे। इनके अतिरिक्त न मालूम कितने लाभ भगवान्‌की उन मनको प्रतिकूल लगनेवाली क्रियाओंसे हमें होते हैं—उनका हम अंदाजा नहीं लगा सकते।

(१) पहली बात तो यह है कि हमें अपने मनके प्रतिकूल जिस दुःखदायक पदार्थकी प्राप्ति होती है, वह हमारे ही किसी पूर्व-कृत अपराधका फल है; क्योंकि भगवान्‌के राज्यमें बिना अपराध किसीको दण्ड नहीं मिल सकता। इस प्रकार हमारे अपराधोंका दण्ड देकर भगवान् हमें पापमुक्त करते हैं, शुद्ध बनाते हैं।

(२) इस प्रकारकी शिक्षा देकर भगवान् हमें भविष्यमें पाप करनेसे रोकते हैं।

(३) इस प्रकार कष्ट देकर भगवान् हमारे आत्माको बलिष्ठ बनाते हैं। आगमें तपानेसे जैसे सोना निखर उठता है, उसी प्रकार कष्ट सहनेसे आत्मा शुद्ध और बलिष्ठ होता है—यह सबका अनुभव है।

(४) कभी-कभी हमलोग अपनी भक्तिका झूठा अभिमान करने लगते हैं और वास्तवमें भगवान्‌में जैसा विश्वास होना चाहिये, वैसा न होनेपर भी अपनेको विश्वासी मान बैठते हैं इसलिये इस प्रकारके

कष्ट देकर भगवान् हमारी परीक्षा लेते हैं और हमें अपनी असली स्थितिका परिचय कराते हैं तथा हमारा अभिमान भङ्ग करते हैं।

(५) हमारे अपराधोंका दण्ड देकर भगवान् अपनी न्यायशीलता सिद्ध करते हैं और हमें चेतावनी देते हैं कि मेरे भजनके सहारे पापमें कभी प्रवृत्त न होना, नहीं तो इस प्रकारका दण्ड फिर तैयार है; मैं भजनके बलपर पाप करनेवालोंकी रू-रियायत नहीं करता।

(६) अन्तिम और सबसे बड़ा लाभ यह है कि कष्टमें हमें भगवान् याद आते हैं। हमलोग संसारके तुच्छ, नाशवान् भोगोंके पीछे भगवान्‌को भूले रहते हैं। इसलिये बीच-बीचमें कष्ट देकर भगवान् हमें चेतावनी देते रहते हैं कि मुझे भूलो मत, नहीं तो बड़ी दुर्दशा होगी; यह मनुष्यशरीर भोगोंके लिये नहीं मिला है, मुझे प्राप्त करनेके लिये ही मिला है—इसलिये इसे व्यर्थ कामोंमें न गँवाओ।

इसके अतिरिक्त हमारे मनको प्रतिकूल लगनेवाली भगवान्‌की क्रियाओंमें हमारा कितना हित भरा रहता है, इसे हमलोग समझ नहीं सकते। अतः प्रभु हमारे लिये जो कुछ करते हैं, उसमें उनकी अपार दया एवं अपना परम हित मानकर हमें खूब प्रसन्न रहना चाहिये।

विवेक एवं विचारकी दृष्टिसे भी हमें इष्ट वस्तुके वियोग एवं अनिष्टकी प्राप्तिमें शोक नहीं करना चाहिये। इष्टका वियोग एवं अनिष्टका संयोग दोनों ही क्षणिक हैं। जिस वस्तुके साथ संयोग होता है, उसका वियोग भी अवश्यम्भावी है। संसारके संयोग और वियोग वैसे ही हैं जैसे किसी मुसाफिरखाने अथवा पान्थशालामें यात्रियोंका एकत्रित होना तथा अलग-अलग हो जाना अथवा रेलगाड़ी-

में मुसाफिरोंका चढ़ना-उतरना । जैसे किसी मुसाफिरखाने अथवा सरायमें रात्रिमें विश्राम करनेके लिये यात्री लोग ठहरते हैं और सवेरा होते ही अपने-अपने निर्दिष्ट स्थानको चल देते हैं, उसी प्रकार एक परिवारमें कई प्राणी एकत्र होते हैं और समय पूरा होते ही बिछुड़ जाते हैं । रेलगाड़ीमें जैसे भिन्न-भिन्न स्थानोंको जानेवाले मुसाफिर चढ़ते-उतरते रहते हैं, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न जीव इस संसारमें जन्मते-मरते रहते हैं, रेलगाड़ीमें हम जिस डिब्बेमें बैठे हुए होते हैं उसमें यदि कोई दूसरा मुसाफिर सवार होता है, तो उसके आनेपर हम खुशी नहीं मनाते और उसके उतर जानेपर हम दुखी नहीं होते । इसी प्रकार अपने परिवारवालोंके जन्मने-मरनेपर हमें हर्ष-शोक नहीं करना चाहिये। बल्कि रेलगाड़ीमें तो कभी-कभी इसके विपरीत भी होता है । हमारे डिब्बेमें दूसरेके घुस आनेपर हम अप्रसन्न होते हैं और उतर जानेपर हम प्रसन्न होते हैं; किन्तु ऐसा भी होना ठीक नहीं है । रेलगाड़ीमें हमारे पास जिस स्टेशनका टिकट होता है उसके आगे हम नहीं जा सकते, उसी प्रकार जितनी आयु लेकर मनुष्य इस संसारमें आता है, उससे अधिक वह नहीं जी सकता । इसलिये विवेक एवं विचारकी दृष्टिसे भी हमें इष्ट-विनाश एवं अनिष्टसंयोगपर दुखी नहीं होना चाहिये ।

इसके अतिरिक्त इष्टविनाश एवं अनिष्टसंयोगपर शोक अथवा चिन्ता करना, रोना-चिल्लाना, लौकिक दृष्टिसे भी महान् मूर्खता है । इससे प्रत्यक्षमें हमारी हानि होती है । लोगोंकी दृष्टिमें हम गिर जाते है, दुर्बलहृदय समझे जाते हैं, जगत्में हमारी मूर्खता ही प्रकट होती है, स्वास्थ्य बिगड़ जाता है, शरीर चिन्तासे जर्जर हो

जाता है, ओज, बल एवं नेत्रकी हानि होती है। हम दुखी होकर रोते-रोते मरते हैं। इसलिये विवेकी पुरुषकी तो बात ही क्या है, जो थोड़ा भी समझदार है, उसे भी शोक नहीं करना चाहिये, बल्कि ईश्वरके प्रत्येक विधानमें उसकी दया मानकर प्रसन्न रहना चाहिये। यदि दया समझमें न आवे तो कम-से-कम होनीको प्रबल समझकर ही शोक नहीं करना चाहिये। चाहे हम ज्ञान, भक्ति—इनमेंसे किसी भी सिद्धान्तको न मानें, बल्कि ईश्वरमें भी हमारा विश्वास न हो तो भी जो कुछ होनेको है वह तो होकर ही रहेगा, हमारे टाले टलेगा नहीं–यही समझकर हमें धैर्य धारण करना चाहिये। जो निरुपाय बात है, उसके लिये चिन्ता करनेसे क्या लाभ है? फिर जो बात हो चुकी, उसके लिये शोक करना तो और भी बेकार है। हमारे शोक करनेसे वह अन्यथा तो हो नहीं सकती, फिर उसके लिये शोक करना अपनी ही हानि करना है।

जो लोग शोकसे अभिभूत होकर अथवा आवेशमें आकर आत्महत्या कर बैठते हैं, वे तो अत्यन्त ही मूर्ख हैं। वे लोग अज्ञान-वश वर्तमान कष्टसे मुक्त होनेके लिये शरीरका नाश कर देते हैं परन्तु इससे सुख पाना तो दूर रहा, उल्टा उन्हें अधिक कष्ट भोगना पड़ता है। ऐसा करनेसे प्रथम तो उन्हें अमूल्य मानव-जीवनसे हाथ धोना पड़ता है, जिसके द्वारा मनुष्य नित्यसुखरूप परमात्माको पाकर कृतार्थ हो जाता है और जन्म-मरणरूप बन्धनसे सदाके लिये मुक्त हो जाता है, जिसे शास्त्रोंने अत्यन्त दुर्लभ बतलाया है और जिसे यह जीव चौरासी लाख योनियोंमें भटकता-भटकता कभी

परमात्माकी अहेतुकी कृपासे ही प्राप्त करता है।* इसके अतिरिक्त प्राणोंके वियोगके समय भी उसे इतना कष्ट होता है जिसकी सीमा नहीं है। पहले उसे उस कष्टका अनुमान नहीं होता, परन्तु पीछे जब उसके प्राण निकलते हैं उस समय उसे इतना कष्ट होता है जिसके समान और कोई दुःख नहीं है। साधारण मृत्युके समय भी लोग कहते हैं हजारों बिच्छुओंके डंक मारने-जैसा कष्ट होता है। फिर जो स्वयं जान-बूझकर मरता है उसके कष्टका तो कहना ही क्या है!

तीसरी बात यह है कि मरनेके बाद उसे घोर नरकोंकी प्राप्ति होती है। ईशोपनिषद्में कहा है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

(ईश० ३)

अर्थात् 'वे असुरसम्बन्धी लोक आत्माके अदर्शनरूप अज्ञानसे आच्छादित हैं। जो कोई भी आत्माका हनन करनेवाले लोग हैं वे मरनेके अनन्तर उन्हें प्राप्त होते हैं।'

तात्पर्य यह है कि ज्ञान, भक्ति अथवा विवेक-विचार—किसी भी दृष्टिसे शोक करना उचित नहीं है। वास्तवमें इष्टवियोग अथवा अनिष्टसंयोग दुःखदायक नहीं होता, अज्ञानमूलक ममता ही दुःखका

---

*मानव-देहके लिये गोस्वामीजीने रामचरितमानसमें लिखा है—

आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥
फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥
कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥
नर तन भव बारिधि कहुँ बेरो। सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो॥

हेतु है। मान लीजिये किसी सड़कके दोनों ओर दो मकान हैं, उनमेंसे एकमें हमारी ममता है और दूसरेमें पारक्यबुद्धि है। जिसमें ममता नहीं है, उसपर यदि कोई आपत्ति आती है—कोई उसे तोड़ता है अथवा उसमें आग लग जाती है तो हमें दुःख नहीं होता; किन्तु जिसमें हमारी ममता है, उसकी यदि कोई एक ईंट भी निकालता है तो हमें ऐसा दुःख होता है मानो हमारे शरीरको ही कोई नोचता हो। कुछ दिन बाद उसी मकानको हम पूरा मूल्य लेकर बेच डालते हैं। उसके बाद यदि कोई उसको भी तोड़ता है अथवा उसमें आग लगाता है, तो हम खड़े-खड़े हँसते हैं, हमें दुःख नहीं होता। इससे यह सिद्ध होता है कि मकानका टूटना या नष्ट होना दुःखदायी नहीं है; उसमें जो हमारी ममता है वही दुःखका हेतु है। इसी प्रकार अज्ञानी जीव संसारमें; यह मेरी स्त्री है, यह मेरा पुत्र है, यह मेरी जमीन है, यह मेरी सम्पत्ति है, यह मेरा शरीर है—इस प्रकार ममता कर लेता है और फिर उनके विनाशसे दुखी होता है। अतः ममताका नाश ही दुःखनाशका उपाय है और ममताके नाशके लिये दो ही उपाय हैं—(१) ज्ञानी महात्माओंके सङ्गसे ज्ञान प्राप्तकर ममताके मूल अज्ञानका नाश करना अथवा (२) ईश्वरकी भक्ति करके उनकी कृपासे अज्ञानका नाश करना। गीतामें भी दुःखनाश और परम शान्ति प्राप्त करनेके यही दो मुख्य उपाय बतलाये गये हैं—

(१) तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥
(४। ३४)

'उस ज्ञानको तू समझ; श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्यके पास जाकर उनको भलीभाँति दण्डवत् प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे परमात्मतत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले वे ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे।'

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥
(४। ३९)

'जितेन्द्रिय, साधनपरायण और श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञानको प्राप्त होता है तथा ज्ञानको प्राप्त होकर वह बिना विलम्बके तत्काल ही भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है।'

(२) तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥
(१८। ६२)

'हे भारत! तू सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही शरणमें जा। उस परमात्माकी कृपासे ही तू परम शान्तिको तथा सनातन परम धामको प्राप्त हो जायगा।'

यह ईश्वरकी शरणागति ही दुःखसे सदाके लिये छूटनेका सर्वोत्तम उपाय है। और किसी रास्तेसे दुःख नहीं मिटेगा, चाहे हम जीवनभर रोते और कलपते रहें।

जो सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वलोकमहेश्वर भगवान् सबके प्रेरक, सर्वान्तर्यामी और सबके परम सुहृद् हैं—अपने मन, बुद्धि,

शरीर, इन्द्रिय, प्राण और समस्त धन-जनादिको उनके समर्पण करके उन्हींपर निर्भर हो जाना सब प्रकारसे परमेश्वरके शरण होना है। अर्थात् बुद्धिके द्वारा भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, और स्वरूपका श्रद्धापूर्वक निश्चय करके भगवान्‌को ही परम प्राप्य, परम गति, परम आश्रय और सर्वस्व समझना, उनको अपना एकमात्र स्वामी, भर्ता, प्रेरक, रक्षक और परम हितैषी मानकर सब प्रकारसे उन-पर निर्भर और निर्भय हो जाना और सब कुछ भगवान्‌का समझ-कर और भगवान्‌को सर्वव्यापी जानकर समस्त कर्मोंमें ममता, अभिमान, आसक्ति और कामनाका त्याग करके भगवान्‌के आज्ञा-नुसार अपने कर्मोंद्वारा समस्त प्राणियोंके हृदयमें स्थित परमेश्वरकी सेवा करना; जो कुछ भी दुःख-सुख प्राप्त हों, उनको भगवान्‌के द्वारा भेजे हुए समझकर पुरस्कार रूपमें उन्हें सिर चढ़ाकर सदा सन्तुष्ट रहना; भगवान्‌के किसी भी विधानमें कभी किञ्चिन्मात्र भी असन्तुष्ट न होना; मान, बड़ाई और प्रतिष्ठाका त्याग करके भग-वान्‌के सिवा किसी भी सांसारिक वस्तुमें ममता और आसक्ति न रखना; अतिशय श्रद्धा और अनन्य प्रेमपूर्वक भगवान्‌के गुण, प्रभाव, लीला, तत्त्व, नाम और स्वरूपका नित्य-निरन्तर चिन्तन करते रहना—ये सभी भाव तथा क्रियाएँ सब प्रकारसे परमेश्वरके शरण ग्रहण करनेके अन्तर्गत हैं। शरणागतिके इस भावको आदर्श रखकर जहाँतक बने भजन, ध्यान, सेवा, सत्संगमें ही अपने समयको बितानेके लिये तत्परतासे प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये।

कुछ साधनसम्बन्धी बातें

एक सज्जनने पत्रद्वारा साधनसम्बन्धी निम्नलिखित कुछ प्रश्न पूछे हैं—

(१) शुद्ध, सात्त्विक जीवन किस तरह बिताया जाय ?

(२) भक्ति किस प्रकार करनी चाहिये ?

(३) मन बड़ा ही चञ्चल है, उसे वशमें करनेका क्या उपाय है ?

प्रश्न बहुत ही सुन्दर हैं। इनका उत्तर अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार नीचे दिया जाता है—

(१) सद्गुण एवं सदाचारका सेवन तथा दुर्गुण एवं दुराचारका त्याग ही शुद्ध, सात्त्विक जीवनका स्वरूप है। सद्गुण एवं सदाचार तथा दुर्गुण एवं दुराचारकी व्याख्या संक्षेपसे भगवान्ने गीताके सोलहवें अध्यायमें की है। उसीका सारांश नीचे दिया जाता है। सद्गुण एवं सदाचारको भगवान्ने दैवी सम्पदाके

नामसे कहा है और दुर्गुण एवं दुराचारका आसुरी सम्पदाके नामसे उल्लेख किया है। दैवी सम्पदाका स्वरूप इस प्रकार है—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।

(गीता १६ । १-३)

अर्थात् किसी भी कारणसे भयका न होना; अन्तःकरणका भलीभाँति स्वच्छ होना; परमात्माके स्वरूपको तत्त्वसे जाननेके लिये उनके ध्यानरूपी योगमें निरन्तर दृढ़तापूर्वक स्थित रहना; देश, काल, पात्रका विचार करके केवल कर्तव्यबुद्धिसे द्रव्य अथवा आवश्यक वस्तुका दान करना; इन्द्रियोंको अपने वशमें रखना अर्थात् इन्द्रियोंके द्वारा निषिद्ध विषयोंका सेवन न करना और विहित भोगोंका भी उचित मात्रासे अधिक सेवन न करना; भगवान्‌के अथवा किसी शास्त्रोक्त देवताके साकार विग्रहकी शास्त्रोक्त विधिसे अधिकारानुसार पूजा करना तथा अग्निहोत्रादि उत्तम कर्मोंका आचरण करना; वेद-शास्त्रोंके पठन-पाठनपूर्वक भगवान्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन करना; स्वधर्मपालनके लिये कष्ट सहना तथा शास्त्रानुमोदित व्रत-उपवास, तीर्थाटन आदि करना; शरीर एवं इन्द्रियों-सहित अन्तःकरणकी सरलता; मन, वाणी, शरीरसे किसीको किसी प्रकार भी कष्ट न देना; अन्तःकरण एवं इन्द्रियोंके द्वारा जैसा निश्चय किया हो, ठीक वैसा ही प्रिय शब्दोंमें कहना; अपना बुरा करनेवालेके

प्रति भी क्रोध न करना; कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका त्याग; अन्तःकरणकी उपरामता अर्थात् चित्तकी चञ्चलताका अभाव; किसीकी निन्दा, चुगली आदि न करना; सब प्राणियोंपर हेतुरहित दया करना; इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संयोग होनेपर भी आसक्तिका न होना; स्वभावकी कोमलता; लोक और शास्त्रसे विरुद्ध आचरणमें लज्जा; व्यर्थ चेष्टाओंका अभाव; तेज;* क्षमा; बड़े-से-बड़ा दुःख आनेपर भी विचलित न होना; पवित्रता; किसी भी प्राणीके प्रति वैरभाव न रखना तथा वर्ण, जाति, कुल, विद्या, रूप, धन, बल आदिका अभिमान न करना—ये दैवी सम्पत्तिके लक्षण हैं। इनको दैवी सम्पत्ति बतलानेसे यह बात अपने-आप आ जाती है कि इनके विरोधी जितने भी गुण एवं आचरण हैं, वे सब आसुरी सम्पदाके अन्तर्गत हैं।

इसके अतिरिक्त आसुरी सम्पत्तिके अलग लक्षण भगवान्ने इस प्रकार किये हैं—

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्॥
(गीता १६।४)

अर्थात् दिखौआपन, घमण्ड, अभिमान, क्रोध, कठोरता तथा अज्ञान—ये आसुरी सम्पत्तिके लक्षण हैं। इसी अध्यायके ७ वेंसे

---

* श्रेष्ठ पुरुषोंकी उस शक्तिका नाम 'तेज' है, जिसके प्रभावसे उनके सामने विषयासक्त और नीच प्रकृतिवाले मनुष्य भी प्रायः अन्यायाचरणसे रुककर, उनके कथनानुसार श्रेष्ठ कर्मोंमें प्रवृत्त हो जाते हैं।

लेकर २१ वें श्लोकतक भगवान्ने विस्तारसे आसुरी सम्पदाका वर्णन किया है।

ऊपर कहे हुए दैवी गुणोंके ग्रहण एवं आसुरी भावके त्यागपूर्वक स्वधर्मानुकूल जीवन विताना ही शुद्ध, सात्त्विक जीवन बिताना है। इस प्रकारका जीवन ही मोक्ष अथवा भगवत्प्राप्तिमें सहायक होता है। अतएव कल्याणकी कामनावाले मनुष्यको चाहिये कि वह दैवी सम्पदाका अर्जन और आसुरी सम्पदाका त्याग करे।

(२) दूसरा प्रश्न भक्तिके सम्बन्धमें है। भक्तिकी कई प्रणालियाँ शास्त्रोंमें बतलायी गयी हैं। उनमेंसे केवल दो प्रणालियोंका वर्णन हम यहाँ करेंगे।

एक प्रणाली तो वह है जिसमें भजन-ध्यान, जप-कीर्तन, पूजा-अर्चा, स्वाध्याय-सत्सङ्ग आदिकी प्रधानता है; दूसरी प्रणाली वह है जिसमें समस्त चराचर विश्वको भगवान्का रूप समझकर अपने स्वभावनियत कर्मोंके द्वारा उस विश्वरूप भगवान्की पूजा की जाती है। पहली प्रणालीका उल्लेख भगवद्गीताके और-और स्थलोंमें तो आया ही है, यहाँ हम केवल नवें अध्यायके १३ वें तथा १४ वें श्लोकोंकी ओर पाठकोंका ध्यान आकर्षित करते हैं। भगवान् कहते हैं—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥
सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥

'परन्तु हे कुन्तीपुत्र ! दैवी प्रकृतिके आश्रित महात्माजन मुझको सब भूतोंका सनातन कारण और नाशरहित अक्षरस्वरूप जानकर अनन्य मनसे युक्त होकर निरन्तर भजते हैं। वे दृढ़ निश्चयवाले भक्तजन मेरे नाम और गुणोंका कीर्तन करते हुए तथा मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करते हुए और मुझको बार-बार प्रणाम करते हुए सदा मेरे ध्यानमें युक्त होकर अनन्य प्रेमसे मेरी उपासना करते हैं।'

इस प्रकारकी भक्तिके लिये भगवान्‌ने पहली शर्त तो यह बतलायी है कि उपर्युक्त भक्तिके साधन करनेवालोंको ऊपर कही हुई दैवी सम्पत्तिका आश्रय लेना चाहिये। दूसरी आवश्यकता है भगवान्‌को सब भूतोंका सनातन कारण और नाशरहित अक्षरस्वरूप जाननेकी। जिस किसीकी भक्ति हम करना चाहते हैं, उसके स्वरूपको पहले जान लेना आवश्यक है। जिसकी भक्ति हम करना चाहते हैं, वह कौन है और कैसा है—इसे जाने बिना हम उसकी भक्ति क्या करेंगे ? भगवान्‌के स्वरूपका यथार्थ ज्ञान तो उनकी भक्ति करनेसे ही होता है; परन्तु इसके पहले शास्त्रों एवं महात्माओं-के द्वारा उनका सामान्य ज्ञान प्राप्त कर लेना आवश्यक है। बिना उसके हम भक्तिमें प्रवृत्त ही नहीं होंगे। भगवान्‌की भक्तिके द्वारा यदि हम भगवान्‌के अविनाशी परम धाम—शाश्वत स्थानको प्राप्त करना चाहते हैं तो हमारे लिये यह जान लेना आवश्यक है कि हमारे उपास्य भी अनादि एवं अव्यय हैं। जो स्वयं आदि-अन्त-वाला है, उसकी उपासना करके हम अक्षय स्थानकी प्राप्ति कैसे कर सकते हैं ? इसीलिये भगवान्‌ने कहा है—

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥
(गीता ७ । २३)

'उन [अनादि-अनन्त भगवान्के अतिरिक्त अन्य देवताओंकी उपासना करनेवाले] अल्पबुद्धिवालोंका वह फल नाशवान् होता है; क्योंकि वे देवताओंको पूजनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त चाहे जिस प्रकारसे एवं चाहे जिस भावसे मुझे भजें, अन्तमें वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।' भगवान्को छोड़कर और सभी अल्प हैं, अतएव अन्य देवताओंको भगवान्से पृथक् मानकर उनकी सकाम उपासना करनेवालोंको भगवान्ने 'अल्पबुद्धि' बतलाया है; किन्तु इस प्रकारसे देवताओंकी पूजा करना अशास्त्रीय नहीं है; इसीलिये भगवान् उक्त प्रकारसे पूजा करनेवालोंको अल्पबुद्धि बतलाया है, बुद्धिहीन अथवा मूढ़ नहीं। भगवान्की आज्ञा मानकर निष्काम भावसे जो देवताओंकी उपासना की जाती है उसकी तो भगवान्ने बड़ी ही महिमा कही है (गीता ३ । ११), किन्तु यहाँ तो सकाम उपासनाका विषय है।

तीसरी और सबसे मुख्य बात है अनन्य मनसे युक्त होकर भगवान्को निरन्तर भजना। भगवान्के लिये ही भगवान्को प्रेमपूर्वक निरन्तर भजना उन्हें अनन्य मनसे भजना है। जो लोग किसी सांसारिक कामना—स्त्री, पुत्र, धन, कीर्ति, स्वर्गसुख आदिके लिये भगवान्को भजते हैं, वे अनन्य मनसे युक्त नहीं कहे जा सकते; क्योंकि उनका मन तो भोगोंमें फँसा रहता है, भगवान्को तो वे उन भोगोंकी प्राप्तिका साधनमात्र समझते हैं। यद्यपि भोगोंके लिये भी

अपनेको भजनेवालोंको भगवान्‌ने सुकृती एवं उदार बतलाया है (गीता ७ । १६,१८) और ऊपर (गीता ७ । २३) के श्लोकमें भगवान्‌ने सकाम भावसे भी भजनेवाले अपने भक्तोंको अन्तमें अपनी ही प्राप्ति बतलायी है, किन्तु निष्काम भक्तोंकी अपेक्षा उन्हें भगवान् देरीसे तथा कठिनतासे प्राप्त होते हैं और दूसरी बात यह है कि भगवान्‌ने उन्हें महात्मा नहीं बतलाया है। महात्मा तो वही हैं जिन्होंने अपने आत्मा अर्थात् मन-बुद्धिको अनन्यभावसे भगवान्‌में ही जोड़ दिया है अथवा जिन्होंने सबसे महान् भगवान्‌को ही अपना आत्मा बना लिया है। इसीलिये भगवान्‌ने भी ऐसे अनन्य मनवाले भक्तोंको अपना आत्मा बतलाया है—'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' (गीता ७ । १८); क्योंकि उनका तो विरद है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
(गीता ४ । ११)

'जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ।' ऐसे भक्तोंके लिये ही भगवान्‌ने कहा है—'मयि ते तेषु चाप्यहम्' (गीता ९ । २९) (वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ)। ऐसे भक्तोंकी भगवान्‌के साथ पूर्ण एकता हो जाती है, भगवान् और भक्त कहनेको ही दो होते हैं। नारदजीने भी अपने भक्तिसूत्रोंमें ऐसे भक्तोंको भगवान्‌का स्वरूप ही बतलाया है—'तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्' (नारदभक्तिसूत्र ४१) (भगवान् और उनके जनमें कोई अन्तर नहीं है)।

अनन्य भजनका स्वरूप भगवान्‌ने नवें अध्यायके १४ वें श्लोकमें बतलाया है। भगवान्‌का अनन्य प्रेमपूर्वक नित्य-निरन्तर

चिन्तन ही इसका मुख्य अङ्ग है। इसीपर भगवान्‌ने स्थान-स्थान-पर जोर दिया है। (गीता ९। २२, ३०, ३४; १०। ९-१०; १२। ८) और इसीसे भगवान्‌ने अपनी प्राप्ति सुलभ बतलायी है (गीता ८। १४)। भगवान्‌का नाम-गुण-कीर्तन अनन्य चिन्तनमें विशेष सहायक है, अतएव उसका भी यहाँ प्रधानरूपसे उल्लेख किया है।

भक्तिकी दूसरी प्रणालीका वर्णन भगवान्‌ने अठारहवें अध्यायके ४६ वें श्लोकमें किया है। भगवान् कहते हैं—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मों-द्वारा पूजा करके मनुष्य परमसिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा भगवान्‌की पूजा करना क्या है—यहाँ इस बातको समझ लेना आवश्यक है। क्योंकि यद्यपि यहाँ कर्मके द्वारा ही भगवान्‌को पूजनेकी बात कही गयी है, किन्तु प्रधानता यहाँ भगवान्‌के पूजनकी है, कर्मकी नहीं; क्योंकि अपना-अपना कर्म तो संसारमें बहुत लोग करते हैं, परन्तु सबको सिद्धि तो मिलती हुई नहीं देखी जाती। इसीलिये ऐसा मानना पड़ता है कि यहाँ केवल कर्म करनेकी बात नहीं है, कर्मके द्वारा भगवान्‌को पूजनेकी बात कही गयी है। कहनेको तो सभी कर्मवादी ऐसा कह सकते हैं कि 'कर्म ही भगवान्‌की पूजा है' (Work is Worship);

एकान्तमें बैठकर राम-राम कहने, भगवान्‌का ध्यान करने अथवा सामूहिक कीर्तन करनेकी अपेक्षा जनतारूपी जनार्दनकी सेवा करना कहीं उत्तम है—उससे भगवान् जल्दी प्रसन्न होते हैं, जल्दी मिलते हैं, इत्यादि। हम भी लोकसेवाका विरोध नहीं करते और लोकसेवाको भगवान्‌को प्रसन्न करनेका बहुत उत्तम साधन मानते हैं, परन्तु बात इतनी ही है कि होनी चाहिये वह भगवान्‌को प्रसन्न करनेके ही उद्देश्यसे, किसी लौकिक कामनाके लिये नहीं। हमारे द्वारा सेवा होनी चाहिये वास्तवमें जनतारूपी जनार्दनकी ही, अपने किसी स्वार्थकी नहीं—चाहे वह सेवा व्यक्तिविशेषकी हो अथवा किसी समुदायविशेषकी।

यहाँ एक बात और समझ लेनेकी है। कुछ लोग यह कहते हैं कि विश्वप्रेम ही ईश्वरप्रेम है, विश्वसे भिन्न और कोई ईश्वर नहीं है। इसलिये उपर्युक्त श्लोकका आशय समझनेके लिये यह जान लेना आवश्यक है कि यहाँ कर्मोंके द्वारा जिन ईश्वरको पूजनेकी बात कही गयी है, उनका वास्तविक स्वरूप क्या है—वे विश्वमें ओतप्रोत हैं या विश्वसे अतीत हैं अथवा दोनों ही हैं। इसका उत्तर यह है कि ईश्वर अनन्त और असीम हैं, चराचर विश्व ईश्वरके एक अंशमें उनके सङ्कल्पके आधारपर स्थित है। ईश्वर अपनी योगमायाके प्रभावसे विश्वकी रचना और उसका विनाश करते हैं, उन अनन्त विज्ञानानन्दघन परमात्माके किसी अंशमें प्रकृति या माया है और उस मायाके किसी अंशमें यह समस्त चराचर विश्व है। इस अवस्थामें ईश्वरके प्रति किया जानेवाला प्रेम स्वाभाविक ही समस्त विश्वके प्रति हो जाता है। क्योंकि ईश्वर ही विश्वके आधार हैं, ईश्वर ही

विश्वके आत्मा हैं, ईश्वर ही विश्वमें व्याप्त हैं और ईश्वर ही विश्वके एकमात्र (अभिन्ननिमित्तोपादान) कारण हैं; वे अंशी हैं और यह समस्त विश्व उनका अंश है या यों कहिये कि उनका अङ्ग है। श्रीभगवान्‌ने गीतामें अर्जुनसे कहा है—

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥
(१०।४२)

'मैं इस सम्पूर्ण जगत्‌को (अपनी योगशक्तिके) एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ।'

भगवान्‌के उपर्युक्त वचनका अभिप्राय समझ लेनेपर यह निश्चय हो जाता है कि यह समस्त जगत् भगवान्‌के एक अंशमें स्थित है, भगवान् ही इस जगत्‌के रूपमें अभिव्यक्त हो रहे हैं; ऐसी स्थितिमें भगवत्प्रेमीका स्वाभाविक ही जगत्‌के साथ अकृत्रिम प्रेम होता है। परन्तु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि केवल विश्वप्रेम ही ईश्वरप्रेम है; क्योंकि विश्वके परे भी परमात्माका स्वरूप अनन्त और अपार है, बल्कि हम यों कह सकते हैं कि विश्व उस परमात्माके एक अंशमें होनेके नाते विश्वप्रेम भी ईश्वरप्रेमके ही अन्तर्गत है। वस्तुतः विश्वसहित समग्र परमात्माके साथ होनेवाला प्रेम ही ईश्वरप्रेम है।

भगवान्‌ने १८वें अध्यायके ४६वें श्लोकमें ईश्वरके उपर्युक्त स्वरूपको लक्ष्यमें रखते हुए ही अपने कर्मोंके द्वारा उन्हें पूजनेकी बात कही है। अब हमें यह देखना है कि किस प्रकार कर्म करनेसे हमारे द्वारा उन ईश्वरकी पूजा हो सकती है। हमारा कर्म भगवान्‌की पूजा तभी

कहला सकता है जब उसमें दो बातें प्रधानरूपसे हों। पहली बात तो यह है कि उसमें ममता, आसक्ति एवं फलेच्छाका त्याग होना चाहिये। इनमेंसे सबसे स्थूल बात फलेच्छाका त्याग है और उसकी पहचान है सिद्धि-असिद्धिमें समता। यदि हमें अपनी सफलतापर हर्ष एवं असफलतापर विषाद होता है तो हमने उस कर्मके द्वारा भगवान्‌की पूजा की है, यह नहीं कहा जा सकता। दूसरी बात यह है कि प्रत्येक कर्मके द्वारा भगवान्‌की पूजा कर रहे हैं और जिसकी हम सेवा कर रहे हैं, वह भगवान्‌का ही स्वरूप है। उदाहरणतः अध्यापकको यह समझना चाहिये कि विद्यार्थीरूपमें भगवान् ही हमारी सेवाको ग्रहण कर रहे हैं। डाक्टर यह समझे कि रोगीके रूपमें भगवान् ही हमसे चिकित्सा करवा रहे हैं। वकील यह समझे कि मुवक्किलके रूपमें भगवान् ही हमसे अपने मुकद्दमेकी पैरवी करवा रहे हैं। दूकानदार यह समझे कि ग्राहकके रूपमें भगवान् ही हमारे यहाँ सौदा लेने आये हैं। न्यायाधीश यह समझे कि वादी-प्रतिवादीके रूपमें भगवान् ही हमसे न्याय कराने आये हैं। सेवक यह समझे कि मालिकके रूपमें साक्षात् भगवान् ही हमारे सेव्य बने हुए हैं। माता-पिता यह समझें कि सन्तानके रूपमें भगवान् ही हमारी सेवा स्वीकार कर रहे हैं। स्त्री यह समझे कि पतिके रूपमें भगवान् ही हमारी सेवा स्वीकार कर रहे हैं। राजा यह समझे कि प्रजाके रूपमें भगवान् ही हमारी सेवा ग्रहण कर रहे हैं। ऐसा भाव होनेपर हमारे द्वारा न तो किसीके प्रति अन्याय होगा, न किसीके साथ दुर्व्यवहार होगा, न किसीको ठगने, लूटने, धोखा देने

अथवा किसीसे अनुचित लाभ उठानेकी चेष्टा होगी और व्यवहारमें ऊँच-नीचका बर्ताव होनेपर भी हमारे हृदयमें किसीके प्रति ऊँच-नीचका भाव नहीं होगा; क्योंकि जिनसे भी हमारा व्यवहार होगा उनके प्रति हमारी भगवद्बुद्धि होगी। अतः सभीको हृदयमें उपर्युक्त भाव रखते हुए ही सबके साथ अपने-अपने वर्णाश्रमानुसार व्यवहार करना चाहिये।

फिर हमारे द्वारा सारी चेष्टाएँ अभिनयवत् होंगी। नाटकमें कम्पनीका मालिक यदि नौकरका पार्ट करता है और उसका एक अदना-सा कर्मचारी राजा बनता है तो वह राजा बना हुआ कर्मचारी जबतक रङ्गमञ्चपर रहेगा तबतक उस नौकर बने हुए अपने मालिकके साथ वह नौकरका-सा ही व्यवहार करेगा, उसमें कहीं भी त्रुटि नहीं आने देगा; क्योंकि वह जानता है कि यदि मैं अपना पार्ट ठीक नहीं करूँगा तो मेरा मालिक मुझपर प्रसन्न नहीं होगा। किन्तु मनमें वह एक क्षणके लिये भी इस बातको नहीं भूलता कि नौकरके वेषमें मेरे मालिक ही मेरे सामने हैं। अतः यद्यपि वह ऊपरसे उन्हें डाँटे-डपटेगा, उनका शासन करेगा, किन्तु भीतरसे सदा सावधान रहेगा कि जिनके साथ मैं आवश्यकतावश उन्हींके आज्ञानुसार इस प्रकारका व्यवहार कर रहा हूँ, वास्तवमें वे मेरे मालिक हैं, वे मेरी प्रत्येक क्रियाकी जाँच कर रहे हैं कि मैं कौन-सा पार्ट ठीक कर रहा हूँ, कौन-सा वेठीक कर रहा हूँ, इत्यादि। इसी प्रकार भगवान्की पूजा-बुद्धिसे कर्म करनेवाला व्यवहारमें सबके साथ अपने अधिकारके अनुसार बर्ताव करता हुआ भी भीतर सजग रहेगा कि इन सब रूपोंमें वह मायावी ही खेल कर रहा है। पिताके साथ पुत्र-जैसा,

स्त्रीके साथ पतिके अनुरूप, शिष्यके साथ अध्यापकके समान और सेवकके साथ स्वामीके सदृश वर्ताव करता हुआ भी वह उन सब रूपोंमें अपने इष्टदेवको ही देखेगा। पहले इसके लिये अभ्यास करना होगा। अभ्यास करते-करते फिर ऐसी बात स्वाभाविक हो सकती है। परन्तु दिनभर ऐसा अभ्यास करनेके लिये प्रतिदिन कुछ समय एकान्तमें भजन-ध्यान, स्वाध्याय-सत्सङ्गके लिये भी निकालनेकी आवश्यकता है; अन्यथा भगवान् सब जगह सब रूपोंमें हैं, यह बात हमें याद ही नहीं आवेगी और हम केवल कर्मके प्रवाहमें बहते रहेंगे। अतः भक्तिके मार्गपर चलनेवालेको दोनों ही प्रकारके साधन करनेकी आवश्यकता है। श्रद्धा-विश्वासपूर्वक एवं तत्परताके साथ निरन्तर उक्त दोनों प्रकारका साधन करते रहनेसे बहुत शीघ्र भगवान्में सच्चा प्रेम होकर उनकी प्राप्ति हो सकती है। भगवान् वास्तवमें कैसे हैं इसका पता भी तभी लगेगा।

इस प्रकारकी भक्तिसे भगवान्के सगुण-साकार रूपका दर्शन, उनके समग्र रूपका ज्ञान तथा उसकी यथार्थरूपमें प्राप्ति—सभी कुछ सम्भव है। भगवान्ने स्वयं कहा है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥
(गीता ११। ५४)

'हे परंतप अर्जुन! अनन्यभक्तिके द्वारा इस प्रकार चतुर्भुजरूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ।'

(३) तीसरे प्रश्नमें प्रश्नकर्ताने मनको चञ्चल बतलाते हुए उसको वशमें करनेके उपाय पूछे हैं। मन बड़ा चञ्चल है, इसको सभी एकमतसे स्वीकार करते हैं और सबका अनुभव भी इसमें साक्षी है। गीतामें अर्जुनने भी मनको चञ्चल एवं वलवान् कहा है और उसका निग्रह दुःसाध्य बतलाया है (६।३४), इतना ही नहीं, भगवान्ने भी उनके इस कथनका विरोध नहीं किया, अपितु समर्थन ही किया (६।३५)। इससे यह तो स्पष्ट है कि मन वास्तवमें बड़ा चञ्चल एवं दुर्जेय है; परन्तु उसे निगृहीत करनेके उपाय भी शास्त्रोंमें अनेक बतलाये हैं। योगदर्शनमें तो प्रधानतया चित्तवृत्तिके निरोधकी ही बात कही गयी है; क्योंकि योगदर्शनकारने योगका लक्षण ही चित्तवृत्तिका निरोध बतलाया है—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' (१।२)। अतः इस सम्बन्धमें हम पहले योगदर्शनकी ही कुछ बातें कहेंगे।

चित्तवृत्तिके निरोधके लिये पहला उपाय योगदर्शनकारने अभ्यास और वैराग्य बतलाया है—'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः' (१।१२)। अभ्यास किसे कहते हैं; इस सम्बन्धमें महर्षि पतञ्जलिका सूत्र है—

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः। (१।१३)

'इन (अभ्यास और वैराग्य) मेंसे चित्तको ठहरानेके लिये जो साधन किया जाता है, उसीका नाम 'अभ्यास' है।'

दूसरे शब्दोंमें चित्तको स्थिर करनेके लिये बार-बार उसे किसी एक विषयपर टिकानेका प्रयत्न करना ही 'अभ्यास' है।

वैराग्यका लक्षण महर्षि पतञ्जलि इस प्रकार करते हैं—

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ।
(१ । १५)

अर्थात् 'काञ्चन, कामिनी आदि दृष्ट विषयोंमें तथा श्रुतियोंमें कहे हुए स्वर्गादि अदृष्ट विषयोंमें तृष्णारहित वशमें किये हुए चित्तकी रागरहित स्थितिका नाम ही 'वैराग्य' है ।'

उपर्युक्त दोनों ही साधन चित्तवृत्तिके निरोधके लिये उपयोगी हैं एवं एक दूसरेके सहायक हैं, इस बातको भाष्यकार व्यासजीने बड़े सुन्दर ढंगसे समझाया है। उन्होंने चित्तको एक नदीकी उपमा दी है, जो दो धाराओंमें बहती है। उसकी एक धारा कल्याणकी ओर बहती है तथा दूसरी धारा पापोंकी ओर बहती है ('चित्तनदी नामोभयतोवाहिनी वहति कल्याणाय वहति पापाय च' योग० १२ व्यासभाष्य)। विवेकमार्गका अनुसरण करनेवाली धारा कल्याणकी ओर बहती है और अविवेकके मार्गसे चलनेवाली धारा पापोंकी ओर बहती है। वैराग्यका बाँध लगा देनेपर अविवेक अर्थात् विषयोंके मार्गसे बहनेवाली धारा रुक जाती है ('वैराग्येण विषयस्रोतः खिलीक्रियते' यो० १३ व्यासभाष्य) और विवेकपूर्वक अभ्यास करते रहनेसे उसका विवेकमार्ग खुल जाता है। इस प्रकार एक ओरसे चित्तरूपी नदीका प्रवाह रोक देनेसे तथा दूसरी ओर उसे खोल देनेसे ही चित्तवृत्तिका निरोध हो सकता है, ऐसा भाष्यकारका तात्पर्य है। अस्तु,

चित्तवृत्तिके निरोधका दूसरा उपाय महर्षि पतञ्जलिने 'ईश्वरप्रणिधान' बतलाया है—'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' (१ । २३) 'ईश्वरप्रणिधान' कहते हैं ईश्वरकी भक्तिको। महर्षि पतञ्जलिके मतमें

ईश्वर उस पुरुषविशेषका नाम है जिसका अविद्यादि पञ्चक्लेश*, शुभाशुभ कर्म तथा उनके फल एवं वासनाओंसे सम्बन्ध नहीं है। उपर्युक्त लक्षणवाले ईश्वरके नाम—ओंकारका जप तथा उनके स्वरूपका बार-बार चिन्तन करना ही ईश्वरप्रणिधान है। ऐसा करनेसे सारे विघ्नोंका अभाव होकर परमात्माके स्वरूपका साक्षात्कार हो जाता है।

इनके अतिरिक्त चित्तवृत्तिके निरोधका एक और उपाय महर्षि पतञ्जलिने बतलाया है। वे कहते हैं—

'प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य।' (१।३४)

श्वासको विशेष प्रयत्नपूर्वक नासिकामार्गसे बाहर निकालनेका नाम है 'प्रच्छर्दन' और उसे बाहर ही रोक रखना 'विधारण' कहलाता है। इस उपायसे भी मनको रोका जा सकता है।

जिनसे उपर्युक्त साधनोंमेंसे कोई भी न बन सके, उनके लिये महर्षि पतञ्जलिने एक और सुगम उपाय बतलाया है—वह है वैराग्यवान् पुरुषोंका ध्यान। 'वीतरागविषयं वा चित्तम् (१।३७) अर्थात् वीतराग पुरुषोंको विषय करनेवाला चित्त स्थिर हो जाता है। इसपर यह प्रश्न हो सकता है कि पूर्वकालमें जो वैराग्यवान् पुरुष हो गये हैं, उनके स्वरूपको तो हम जानते नहीं, फिर उनका ध्यान किस प्रकार करें और वर्तमान युगमें जो वीतराग पुरुष हैं उन्हें हम पहचानते नहीं, अतः उनका भी ध्यान सम्भव नहीं है। इसपर महर्षि पतञ्जलि कहते हैं कि जो कोई भी पुरुष तुम्हारी दृष्टिमें

* अविद्या, अस्मिता (अहङ्कार), राग, द्वेष और अभिनिवेश (मृत्युभय)—इनको महर्षि पतञ्जलिने पञ्चक्लेशके नामसे कहा है।

वीतराग हो, जिसके प्रति तुम्हारी श्रद्धा एवं पूज्यबुद्धि हो उसीका ध्यान कर सकते हो—'यथाभिमतध्यानाद्वा' (१ । ३९); उसके ध्यानसे ही तुम्हारी चित्तवृत्तिका निरोध हो सकता है। इसी प्रकार मनके निरोध करनेकी और भी कई युक्तियाँ योगदर्शन तथा अन्यान्य शास्त्रोंमें पूज्यपाद ऋषियोंने बतलायी हैं।

गीतामें मनको निगृहीत करनेके दो ही प्रधान उपाय भगवान् श्रीकृष्णने बतलाये हैं—अभ्यास और वैराग्य (६ । ३५)। इनमेंसे अभ्यास कई प्रकारसे हो सकता है। योगदर्शनमें तो ईश्वरप्रणिधान आदि सब साधनोंको अभ्याससे पृथक् माना है और अभ्यासको इन सबसे स्वतन्त्र साधन माना है;परन्तु भगवद्गीतामें 'अभ्यास' शब्दका व्यापक अर्थमें प्रयोग हुआ है। किसी भी क्रियाकी पुनः-पुनः आवृत्तिको अभ्यास कहते हैं; ऊपर कहे हुए सभी साधन अभ्यासके अन्तर्गत आ सकते हैं। भगवद्गीतामें अभ्यास और वैराग्यके कई प्रकार बतलाये गये हैं। उनमेंसे कुछ गीता-तत्त्वाङ्कके अ० ६ । ३५ की व्याख्यामें तथा केवल अभ्यासके कई प्रकार अ० १२ । ९ की व्याख्यामें दिये गये हैं, उन्हें वहीं देखना चाहिये। उनमें सबसे प्रधान साधन जिस-जिस कारणसे मन भागता है उस-उस कारणसे मनको हटाकर बार-बार परमात्मामें लगाना है (देखिये गीता ६ । २६)।

इनके अतिरिक्त कुछ और साधन नीचे दिये जाते हैं—

(१) रात्रिके समय सोनेसे पूर्व या कुछ रात्रि शेष रहते ही जागकर जब आलस्य बिल्कुल न आता हो, नेत्रों और कानोंको उँगलीसे बंद करके भीतर होनेवाली अनहद ध्वनिको सुनो और उसमें

अपने इष्टदेवके नामकी भावना करे। नाम बहुत छोटा—दो ही अक्षरोंका होना चाहिये—जैसे ओम्, राम, शिव, हरि, विष्णु, कृष्ण इत्यादि। पहले रेलके इञ्जनका-सा शब्द सुनायी देगा, फिर घड़ीका-सा खटका सुनायी देगा और तब धीरे-धीरे जिस नामकी हम भावना करते हैं वह नाम हमें स्पष्टरूपसे सुनायी पड़ने लगेगा और उसमें हमारा मन टिक जायगा।

(२) कलेजेके भीतर हृदयाकाशमें जो एक नाड़ी है, जिसे सुषुम्णा कहते हैं, उसके अंदर सब भूतोंके हृदयदेशमें स्थित परमात्माके विज्ञानानन्दघन स्वरूपका ध्यान करे। ऐसा समझे कि वहाँ चेतनता एवं आनन्दका पुञ्ज एकत्रित हो रहा है। चेतनता उस गुणका नाम है जिसके कारण हम जड पदार्थोंसे चेतन जीवका और मुर्दे प्राणीसे जीवित प्राणीका भेद करते हैं। अथवा शुद्ध आनन्दका या केवल चेतनताका ध्यान करनेसे भी चित्त स्थिर हो जाता है।

(३) भ्रुकुटीके मध्यमें स्थित आज्ञाचक्रमें पूर्णिमाके चन्द्रमाके प्रकाशकी भाँति शीतल एवं सौम्य प्रकाशके रूपमें परमात्माका ध्यान करनेसे भी मनका निग्रह हो सकता है।

(४) श्वास एवं प्रश्वासकी स्वाभाविक गतिके साथ भगवान्‌के किसी नामको जोड़कर साक्षीरूपसे उसका श्रवण करनेका अभ्यास भी मनको निगृहीत करनेमें सहायक है।

(५) परमात्माके स्वरूपके सम्बन्धमें जो कुछ हमने पढ़-सुन रक्खा है, उसीका मननपूर्वक विचार करनेपर बुद्धिके द्वारा उसका

जो रूप हमारी समझमें आवे उसींमें ध्यान लगानेसे मनका निरोध हो सकता है।

(६) भगवान्‌के श्रीराम, कृष्ण, शिव, विष्णु, सूर्य, शक्ति या विश्वरूप आदि किसी भी स्वरूपको सर्वोपरि, सर्वान्तर्यामी, सर्व-व्यापी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् एवं परम दयालु प्रेमास्पद परमात्माका ही स्वरूप समझकर अपनी रुचिके अनुसार उनके चित्रपट या प्रतिमाकी स्थापना करके अथवा मनके द्वारा हृदयमें या बाहर उनको प्रत्यक्षके सदृश निश्चय करके अतिशय श्रद्धा और भक्तिके साथ निरन्तर उनमें मन लगाने तथा पत्र-पुष्प-फलादिके द्वारा अथवा अन्यान्य उचित प्रकारोंसे उनकी सेवा-पूजा करनेसे भी बहुत शीघ्र मन स्थिर हो सकता है।

इनके अतिरिक्त निम्नलिखित उपाय भी मनको निगृहीत करनेमें बहुत सहायक हो सकते हैं—

(१) नियमानुवर्तिताका पालन करना, सारे कार्य नियमित रूपसे करना।

(२) मनकी प्रत्येक चेष्टापर विचार करते हुए उसे बुरे चिन्तनसे बचाना।

(३) मनके कहनेके अनुसार न चलना।

(४) मनको सदा शुभकार्यमें लगाये रखना।

(५) अनन्य मनसे भगवान्‌के शरण हो जाना।

(६) मनसे अलग होकर उसके कार्योंका निरीक्षण करना।

(७) प्रेमपूर्वक भगवन्नामका कीर्तन करना।

काम करते हुए भगवत्-प्राप्तिकी साधना

काम करते हुए भी हम ईश्वरको सदा-सर्वदा याद रखते हुए अपना कल्याण किस प्रकार कर सकते हैं—इस सम्बन्धमें कुछ निवेदन किया जाता है। निश्चय ही सभी लोग कामको छोड़कर भजन-ध्यानमें नहीं लग सकते। वास्तवमें गीताके अनुसार कामको छोड़ देनेकी आवश्यकता भी नहीं है। लोग भूलसे ही यह धारणा कर लेते हैं कि गीता तो संन्यास ले लेनेका ही उपदेश देती है। किन्तु यह बात ठीक नहीं; क्योंकि अर्जुन तो सब कुछ छोड़कर भीखके द्वारा अपना जीवन-निर्वाह करनेको तैयार ही हो गये थे। उन्होंने भगवान्से स्पष्ट कह दिया था कि—

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्॥

(गीता २।५)

'इन महानुभाव गुरुजनोंको न मारकर मैं इस लोकमें भिक्षाका अन्न भी खाना कल्याणकारक समझता हूँ। क्योंकि गुरुजनोंको

मारकर भी इस लोकमें रुधिरसे सने हुए अर्थ और कामरूप भोगोंहीको तो भोगूँगा ।'

किन्तु भगवान्‌ने उसे अपना स्मरण करते हुए ही स्वधर्मरूप युद्ध करनेकी आज्ञा दी ।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥
(गीता ८ । ७)

'इसलिये हे अर्जुन ! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर । इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निस्सन्देह मुझको ही प्राप्त होगा ।'

भगवान्‌के इस उपदेशके अनुसार जब भगवत्स्मृतिके रहते हुए युद्ध-जैसी क्रिया भी हो सकती है तो फिर हमलोगोंके साधारण कार्योंके होनेमें तो कठिनाई ही क्या है ? गीता अध्याय १८ श्लोक ५६ में तो सदा कर्म करते हुए भी भगवत्प्राप्ति होनेकी बात कही गयी है ।

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्‌व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥

'मेरे परायण हुआ कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है।'

अतः भगवान्‌की शरण होकर कर्म करने चाहिये । कई भाइयोंका कहना है कि काम करते हुए भजन करनेसे काम अच्छी

तरह नहीं होता और कामको अच्छी तरह करनेसे भजन निरन्तर नहीं होता। उनका यह कहना ठीक है। आरम्भमें ऐसी कठिनाई हो सकती है, किन्तु आगे चलकर अभ्यासके बढ़ जानेपर भगवत्-कृपासे यह कठिनाई नहीं रहती। इसलिये काम करते समय भी हमें भजनका अभ्यास डालना चाहिये। इस सम्बन्धमें नटनीका उदाहरण सामने रक्खा जा सकता है। नटनी बाँसपर चढ़ते समय ढोल भी बजाती रहती है और गायन भी करती रहती है। किन्तु इन सब क्रियाओंको करते हुए भी उसका ध्यान निरन्तर अपने पैरोंपर ही रहता है। इसी प्रकार गाने-बजानेकी भाँति हमें सब काम करने चाहिये और उसके पैरोंके ध्यानकी तरह हमें परमात्मामें अपना मन रखना चाहिये।

जब हमलोग कोई भी काम करें, उस समय हमें श्वास या वाणीके द्वारा भगवान्‌के नामका जप तथा गुण-प्रभावके सहित उनके स्वरूपका ध्यान करते हुए ही काम करनेका अभ्यास डालना चाहिये। काम करते समय यह भाव रहना चाहिये कि यह काम भगवान्‌का है, और उन्हींके आज्ञानुसार, मैं इसे उन्हींकी प्रसन्नताके लिये कर रहा हूँ। प्रभु मेरे पास खड़े हुए मेरे कामको देख रहे हैं—ऐसा समझकर सदा प्रसन्न रहना चाहिये।

इस प्रकार मनसे परमात्माका चिन्तन और श्वास या वाणीसे उनके नामका जप करते हुए ही काम करनेका अभ्यास करनेसे परमात्माकी प्राप्ति सहज ही हो सकती है। ऐसा अभ्यास करनेमें आरम्भमें यदि काममें कमी भी आवे तो कोई हर्ज नहीं। वास्तवमें जप-ध्यानमें कमी नहीं आनी चाहिये।

हमलोगोंको प्रातः-सायं दोनों समय नियमितरूपसे अपने-अपने अधिकारके अनुसार ईश्वरकी उपासना अवश्य ही करनी चाहिये। क्योंकि प्रातःकालकी उपासना करनेपर परमात्माकी कृपासे दिनभर उनकी स्मृति रह सकती है। स्मृतिको तैलधाराकी तरह अखण्ड बनाये रखनेके लिये हमें चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते तथा प्रत्येक कार्य करते हुए भगवान्को अपने साथ समझना चाहिये। मनमें सदा-सर्वदा यह निश्चय रखना चाहिये कि हम जो कुछ करते हैं उसे भगवान् ही करवाते हैं। गुरु जिस प्रकार बच्चेका हाथ पकड़कर उससे अक्षर लिखवाते हैं, उसी प्रकार परमात्मा हमें प्रेरित करके समस्त कार्योंका आचरण हमसे करवाते हैं। कठपुतली जिस प्रकार सूत्रधारके इशारेपर नाचती है उसी प्रकार हमें भगवान्के हाथमें अपनी बागडोर सम्हलाकर उनके इशारेपर काम करना चाहिये। इस प्रकारके अभ्याससे हमें प्रत्यक्षमें शान्तिका अनुभव होने लगेगा और हमारे इस साधनसे परमात्मा विशेष प्रसन्न होंगे। इसी प्रकार सायङ्कालकी उपासना करनेपर भगवत्कृपासे रात्रिमें और सोनेके समय भी भगवान्की स्मृति रह सकती है। उसमें दुःस्वप्नों-का नाश होकर वृत्तियाँ सात्त्विक हो जाती हैं और निरन्तर प्रसन्नता तथा शान्ति रहती है। इसलिये हमें अपने मस्तकपर प्रभुका हाथ समझकर सदा आनन्दित रहना चाहिये और भोग, आराम, पाप, आलस्य तथा प्रमाद आदिको मृत्युके समान समझकर अपने जीवनके क्षणोंका उपयोग उत्तम-से-उत्तम कार्योंमें ही करना चाहिये। भगवान्के नामका जप और गुण तथा प्रभावके सहित उनके स्वरूपका ध्यान करते हुए ही उनकी आज्ञाके अनुसार तत्परताके साथ काम करना चाहिये।

परन्तु इस साधनामें निम्नलिखित बातें अत्यन्त बाधक हैं— क्रोध, वैमनस्य, ईर्ष्या, भय, शोक, मोह, अभिमान, मनोमालिन्य, राग-द्वेष और घृणा आदि। इन विघ्नोंको मृत्युके समान समझते हुए इनका सर्वथा परित्याग कर देना ही उचित है। इनसे छुटकारा पानेका मुख्य उपाय है—ईश्वरकी शरण। इस शरणागतिका यदि पूर्णतया पालन कर लिया जाय तो उपर्युक्त विघ्नोंसे सहज ही मुक्ति प्राप्त की जा सकती है—इसमें तो सन्देह ही क्या है, किन्तु परेच्छा और अनिच्छासे जो कुछ भी प्राप्त हो उसे ईश्वरका भेजा हुआ पुरस्कार मानकर प्रसन्न होनेसे भी इन विघ्नोंसे छुटकारा हो सकता है। मनके प्रतिकूल जो कार्य होता है उसे दैवेच्छा यानी भगवदिच्छा-से होनेवाला मान लें तो तुरंत ऊपर लिखे विघ्न नष्ट हो सकते हैं। जब कोई कार्य हमारे मनके प्रतिकूल हो तो हमें समझना चाहिये कि इसमें निश्चय ही भगवान्का हाथ है। यह उनकी हमपर बड़ी भारी दया हो रही है कि वे सब कुछ जानते हुए भी आज हमारे हितके लिये हमारी परीक्षा ले रहे हैं। अब हमें सावधान रहना चाहिये कि कहीं हम उस परीक्षामें अनुत्तीर्ण न हो जायँ। इस प्रकार जो उस स्थलपर भी आनन्दका ही अनुभव करता है वही वास्तविक भक्त है। भगवान्के प्रत्येक विधानमें प्रसन्न रहना ही तो भक्तका परम कर्तव्य है। अतएव भगवान्का भक्त बननेकी इच्छावालोंको चाहिये कि वे उनके प्रत्येक विधानमें प्रसन्न रहें। भगवान् हमें पापोंसे मुक्त करके विशुद्ध बनाने तथा सहनशील और धैर्यवान् होनेके लिये हमारे मनके प्रतिकूल पदार्थ भेजकर हमें चेतावनी दिया करते हैं। बाढ़, भूकम्प, महामारी और दुर्भिक्ष आदि अनिच्छासे होनेवाले अनिष्ट भगवान्के द्वारा ही भेजे

हुए होते हैं। मनुष्यों तथा पशु-पक्षियों आदि द्वारा परेच्छासे जो अनिष्ट होते हैं, उनमें भी भगवान्‌की ही प्रेरणा समझनी चाहिये। यह समझकर हमें उन विपरीत परिस्थितियोंमें भी इतना आनन्द होना चाहिये, जितना कि एक दरिद्र पुरुषको पारसके प्राप्त होनेपर भी नहीं होता।

निन्दा और अपमान हमको जिस दिन अच्छे मालूम होने लगेंगे, उस दिन समझना चाहिये कि हम भगवान्‌के सन्निकट पहुँच रहे हैं। वर्तमान स्थितिसे वह स्थिति बिल्कुल विपरीत होगी। जो मान और स्तुति आज हमको अमृतके समान मधुर लगते हैं, वे ही भगवत्-शरणापन्न होनेपर विषके समान लगने लगेंगे। जिस प्रकार स्तुति सुनकर हमारे हृदयमें प्रसन्नताकी लहर उठती है, उसी प्रकार जब निन्दा सुनकर भी हमारे हृदयकी वही स्थिति बनी रहेगी, हमारे हृदयमें स्तुति सुननेके समान ही प्रसन्नताकी लहर उठेगी, तब समझना चाहिये कि हम भगवान्‌के समीप आ गये हैं। आज पुष्पमाला पहनकर जिस हर्षका अनुभव हम करते हैं, ठीक उसी हर्षकी अनुभूति तब हमें जूतोंसे तिरस्कृत होनेपर भी होगी।

हमें चाहिये कि हम उन पुरुषोंको, जो हमारी निन्दा करते हैं, उसी भावसे देखें जिस भावसे हम अपनी प्रशंसा करनेवालेको देखते हैं। महात्मा कबीरदासजी तो यहाँतक कहते हैं कि निन्दक पुरुषको अपनी कुटिया देकर अपने पास बसाना चाहिये।

निन्दक नियरे राखिये, आँगन कुटी छवाय।
बिन पानी साबुन बिना, निरमल करै सुभाय॥

कहनेका तात्पर्य यह है कि जिस किसी भी प्रकारसे हो अपनो

निन्दा करनेवालेको अधिक-से-अधिक अपने सम्पर्कमें रक्खा जाय, क्योंकि वह हमारे जिस कार्यकी निन्दा करेगा उसे सुधारनेकी चेष्टा हमारे द्वारा अवश्य ही होगी। मनुष्यको अपने दोष शीघ्र दिखलायी नहीं पड़ते, परन्तु किसीके द्वारा अपने दोषोंके लिये चेतावनी दिये जानेपर कल्याणकामी पुरुष उन्हें दूर करनेकी चेष्टा करता है। अतएव हमें प्रसन्नतापूर्वक अपनी निन्दा सुननेका स्वभाव बनाना चाहिये। ऐसा स्वभाव बना लेनेपर हमारे द्वारा होनेवाले निन्दनीय कार्योंका तथा निन्दा-श्रवणसे उत्पन्न होनेवाले हमारे अन्तःकरणके विकारोंका विनाश हो जायगा, इसी बातका स्पष्टीकरण करनेके लिये एक काल्पनिक उदाहरण दिया जाता है।

एक दूकानदार था। उसके हृदयमें किसीके प्रति जरा भी क्रोध, द्वेष या घृणाका भाव नहीं था। वह सभी कार्योंमें भगवत्प्रेरणाका ही अनुभव किया करता था। वह अपने-आपको प्रभुके चरणोंमें समर्पित कर चुका था। एक बार पासके एक दूकानदारने उसे इस प्रकार प्रत्येक विधानमें सन्तुष्ट और कभी क्रोध न करते हुए देखकर विचार किया कि आज चाहे जैसे हो उसको क्रोध दिलाना चाहिये। यह निश्चय करके वह उसकी दूकानपर गया और प्रत्येक बातमें उसके विपरीत बोलने लगा। उसने उसके प्रति न जाने कितनी कटूक्तियाँ—कितने अपशब्द कहे पर वह अपनी स्थितिसे तिलभर भी विचलित न हुआ। अन्तमें उसे किसी प्रकार भी क्रोध न करते देखकर उस दूकानदारको अपनी असफलतापर कुछ निराशा हुई, किन्तु फिर भी उसने मन-ही-मन इस बातका दृढ़ सङ्कल्प किया कि मैं इसे क्रोध दिलाकर ही विश्राम लूँगा। कुछ दिनों बाद मौका देखकर वह फिर उसके पास गया और कहने लगा—'आज मुझे अपने ससुराल जाना

है। मैं चाहता हूँ कि तुम भी मेरे साथ चलो।' उस भक्तने उसके सन्तोषके लिये उसकी बातको स्वीकार कर लिया और साथ जानेके लिये तैयार हो गया। जब वे दोनों चलने लगे तब उसने उस भक्तसे कहा कि इस समय मेरे पास कोई नौकर नहीं है और मेरी इस मिठाईकी हँडियाको ससुरालतक ले जाना जरूरी है। क्या तुम अपने सिरपर रखकर उसे वहाँतक ले चलोगे ? उस भक्तने सहर्ष उस हँडियाको अपने सिरपर रख लिया और वह उस दूकानदारके आगे-आगे चलने लगा। जब वे लोग एक ऐसे स्थानपर पहुँचे जहाँपर बड़ा भारी जनसमूह एकत्र था, उपयुक्त अवसर देखकर दूकानदारने पीछेसे अपने डंडेसे उस हँडियाको फोड़ दिया। हँडियाका फूटना था कि उसके भीतरका सारा कीचड़ और सारा मैला उस भक्तके बदनपर फैल गया। उस भक्तको इस दशामें देखकर सारा जनसमाज हँस पड़ा। वह दूकानदार भी भक्तके सामने खड़ा होकर खूब हँसने लगा। उन सबको हँसते देखकर वह भक्त भी खिलखिलाकर हँसने लगा। तब उस दूकानदारने पूछा कि 'भाई! मैं तो तुम्हारी इस दुरवस्थापर हँस रहा हूँ पर तुम्हारे हँसनेका क्या कारण है ?' उस भक्तने कहा—'मैं अपने ऊपर भगवान्‌की महती अनुकम्पाका अनुभव करके हँस रहा हूँ। आपकी भी मुझपर कितनी दया है जो कि आप पद-पदपर मेरी सम्हाल रखते हैं। नहीं तो किसको क्या गरज पड़ी है कि वह बिना किसी स्वार्थके दूसरेका भला करे—उसकी पूरी सम्हाल रक्खे। आप तो हमेशा ही मुझपर कृपा करके ऐसा कार्य करते रहते हैं जिससे मैं अक्रोधकी कसौटीपर खरा उतर सकूँ।' इस बातको सुनते ही वह दुरात्मा दूकानदार पानी-पानी हो गया। उसकी

कलुषित भावनाएँ एकदम विलुप्त हो गयीं। उसकी आँखें खुल गयीं। वह उस भक्तके चरणोंमें लोट गया और अपने अपराधोंके लिये क्षमा-प्रार्थना करने लगा। उस भक्तने उसे अपने हाथोंसे उठा लिया और कहा—'भाई! आप तो मेरे गुरु हैं। आपके द्वारा ही तो मैं अक्रोधका पाठ पढ़ सका हूँ। मेरे हितकी दृष्टिसे ही भगवान्‌ने आपके द्वारा यह कार्य करवाया है। आप चिन्ता न कीजिये। इस कार्यके करवानेमें भगवान्‌की इच्छा थी।'

कहनेका अभिप्राय यह है कि सब कार्योंमें भगवदिच्छाका अनुभव करनेके कारण ही उस महात्माके मनमें स्वयं जनसमाजमें अपमानित किये जानेपर भी किञ्चिन्मात्र भी विपरीत भाव उत्पन्न ही नहीं हुआ। अस्तु,

भगवान् अपने भक्तोंके सम्मुख उनके हितके लिये इस प्रकारकी प्रतिकूल परिस्थितियाँ पैदा करते रहते हैं। उन विपरीत विधानोंके प्राप्त हो जानेपर भी जो जरा भी उद्विग्न न होकर उन्हें भगवान्‌के भेजे हुए पुरस्कार समझकर उनमें सदा सन्तुष्ट रहते हैं, वे ही सच्चे भक्त हैं। इसके विपरीत यदि हम उनके विधानमें आनन्द नहीं मानते, उनकी प्रसन्नतामें प्रसन्न नहीं होते तो हम भगवान्‌के भक्त कहाँ? इसीलिये इन सब विपरीत विधानोंमें भी हमें हर्ष मानना चाहिये, क्योंकि ऐसा करनेसे हमारे पूर्वकृत पापोंका नाश होता है, आत्मबल और सहनशक्तिकी वृद्धि होती है और साथ-ही-साथ भगवत्स्मृति होकर शास्त्र-विपरीत कर्मोंका होना रुक जाता है, तथा शत्रु मित्र बन जाता है और विषके अमृत रूपमें परिणत हो जाता है।

श्रीतुलसीदासजीने भी यही कहा है—

गरल सुधासम अरि हित होई। तेहि मनि बिनु सुख पाव न कोई॥

इसकी चरितार्थता प्रह्लाद और मीरा आदिके जीवनमें प्रत्यक्ष देखी जाती है। मीराबाई भगवान्‌की अनन्य उपासिका थी। उसकी भक्तिसे चिढ़कर राणाने उसके प्राणोंका हनन करनेके लिये उसके पास विषका प्याला यह कहकर भेजा कि मीरा ! यह तेरे उपास्यदेवका चरणामृत है। कहना नहीं होगा कि भक्तिमती मीरा भगवान्‌का नाम लेकर उसे पी गयी। भगवान्‌के चरणामृतसे बढ़कर उत्तम वस्तु उसके लिये और हो ही क्या सकती थी ? भगवान् भी अपने भक्तोंका अनिष्ट कैसे होने देते ? तुरंत मीराका वह विष अमृत हो गया। यह दृश्य देखकर राणा अवाक् रह गया और मीराकी भक्तिके प्रभावसे प्रभावित होकर अन्तमें उसका भक्त बन गया। यह है ईश्वर-भक्तिका प्रताप!

इसलिये हमलोगोंको भी अपने मनके प्रतिकूल जो कुछ भी हो उसे भगवान्‌का विधान समझकर हर समय सन्तुष्ट रहना चाहिये; क्योंकि उन प्रभुकी प्रेरणाके बिना वृक्षका एक पत्ता भी नहीं हिल सकता ! अतएव चाहे हमारा कोई कितना ही अनिष्ट क्यों न करे, हमें उसको भगवान्‌की ही प्रेरणा जानकर उससे प्रेम ही करना चाहिये—उसके प्रति आदर-बुद्धि ही रखनी चाहिये। यह भी ईश्वर-शरणागतिका तत्त्व है। अपनेसे प्रेम करनेवालेके साथ तो पशु भी प्रेम करते हैं। कुत्ते, गधे आदि सभी इसके प्रमाण हैं। देखा जाता है कि एक जब दूसरेसे प्रेम करता है तो दूसरा भी उससे प्रेम करता है। जब एक कुत्ता दूसरेको चाटता है तो दूसरा भी उसको चाटता है। इसी प्रकार वैरके विषयमें भी समझ लेना चाहिये। यदि हमलोग भी अपनेसे प्रेम करनेवालेके साथ प्रेम और अपनेसे द्वेष रखनेवालोंके साथ द्वेष करें तो फिर हममें और

पशुओंमें अन्तर ही क्या है ? हमें तो अपनेसे वैर करनेवालेके सा भी अधिक-से-अधिक प्रेम करना चाहिये। ऐसा करनेसे ही हमार वास्तविक मनुष्यत्व सिद्ध होगा।

इस विषयमें हमारे सामने मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरा चन्द्रजीने प्रेमके व्यवहारका जो आदर्श रक्खा है वह कितना उ है ? निरपराधी रामको कैकेयी दशरथजीकी इच्छा न रहते भी चौदह वर्षके लिये वनमें भेज रही है। भगवान् राम उस आज्ञाको शिरोधार्य करके सहर्ष वन जानेको तैयार हैं। कैकेयी बाणके समान मर्मवेधी वचनोंका उत्तर भगवान् कितनी नम्र और मधुरताके साथ देते हैं। वे कहते हैं—'माता ! वनमें जा मुनियोंके दर्शनोंका सौभाग्य प्राप्त होगा। वन जानेमें पिताजी आज्ञा और आपकी भी सम्मति है। मेरे वन जानेसे भाई भरत राज्य मिलेगा। इससे बढ़कर मेरे लिये सौभाग्यकी और बात क्या हो सकती है ?' श्रीतुलसीदासजीने अयोध्याकाण्डमें कहा है—

मुनिगन मिलनु बिसेषि बन सबहि भाँति हित मोर।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि संमत जननी तोर॥
भरतु प्रानप्रिय पावहिं राजू। बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आ
जौं न जाउँ बन ऐसेहु काजा। प्रथम गनिअ मोहि मूढ़ समा

इतने विनय और प्रेमपूर्ण व्यवहारके होनेपर भी कैकेयी निष्ठुरताका ही व्यवहार किया।

सहज सरल रघुबर बचन कुमति कुटिल करि जान।
चलइ जोंक जल बक्र गति जद्यपि सलिलु समान॥

जब सीता भी रामचन्द्रजीके साथ वन जानेको तैयार हो गयी तब कैकेयी उसे कहती है—'हे सीते ! लो, तुम भी वल्कल वस्त्र धारण कर लो ।' सीता वल्कल वस्त्र अपने हाथमें ले लेती है । परन्तु वह राजकुमारी, जिसने कभी अपने हाथसे आभूषणादि भी नहीं पहने, वल्कल वस्त्र पहनना क्या जाने ? वह भगवान्की ओर देखने लग जाती है । ऐसी परिस्थितिमें भगवान् लज्जाकी परवा न करके सीताको वल्कल वस्त्र पहनाते हैं । इस अनुचित और करुणापूर्ण दृश्यको देखकर रनवासकी स्त्रियाँ रो पड़ती हैं और वशिष्ठजी कैकेयीके इस कठोर व्यवहारकी कड़ी आलोचना करके सीताको वल्कल वस्त्र नहीं पहनानेका विधान करते हैं । अन्तमें अपनी विमाताके दुर्व्यवहारोंकी ओर तनिक भी ध्यान न देकर मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजी प्रसन्नवदन होकर हँसते-हँसते वनकी ओर चले जाते हैं । इतना ही नहीं, अपि तु चित्रकूटमें तथा चौदह वर्षकी अवधि पूर्ण होनेपर अयोध्या लौटकर सबसे प्रथम कैकेयीका ही आदर करते हैं । उनके इस आदर्श व्यवहारसे हमें यह शिक्षा लेनी चाहिये कि अपने साथ कोई चाहे कितना ही कठोरतापूर्ण व्यवहार करे; किन्तु हमें उसके साथ प्रेमका ही व्यवहार करना चाहिये ।

जब किसीको हमपर क्रोध होता है तो हमें समझना चाहिये कि हमारा कोई अपराध बन गया है इसीसे तो इनको क्रोध आया है । यदि हमारा कोई भी अपराध न होता तो इन्हें अकारण ही क्यों क्रोध आता । इस प्रकार अपनेपर दूसरेके क्रोधित होनेमें अपनेको ही उसका कारण मानकर अपनेको ही अपराधी समझना चाहिये ।

परन्तु यदि अपनेको भी क्रोध आ गया तो फिर अपनी नीचताकी चरम सीमा ही समझनी चाहिये। किसी भी जीवपर क्रोध करना भगवान्‌पर ही क्रोध करना है। इसलिये किसीपर भी क्रोध न करके सबके साथ अहैतुक प्रेम करना चाहिये। क्योंकि किसीके साथ जो प्रेम करना है वह भगवान्‌के साथ ही प्रेम करना है। इस प्रकारके प्रेमपूर्ण व्यवहारके प्रभावसे हम भगवान्‌के परम प्रिय बन जायँगे। गीताके १२वें अध्यायके १५वें श्लोकमें भगवान् श्रीकृष्ण अपने प्रेमी भक्तोंके लक्षणोंका वर्णन करते हुए कहते हैं—

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥

'जिससे कोई भी जीव उद्वेगको प्राप्त नहीं होता और जो स्वयं भी किसी जीवसे उद्वेगको प्राप्त नहीं होता; तथा जो हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगादिसे रहित है—वह भक्त मुझको प्रिय है।'

अतः साधकोंको निरन्तर भगवान्‌का स्मरण करते हुए ही उनकी आज्ञाके अनुसार काम करना चाहिये और अपने मनके प्रतिकूल कार्योंको भी भगवान्‌का विधान समझकर सदा उनमें सन्तुष्ट रहना चाहिये; क्योंकि भगवान्‌का प्रत्येक विधान जीवोंके कल्याणके लिये ही होता है। यदि यह रहस्य याथातथ्य समझमें आ जाय तो भगवत्साक्षात्कार होकर सदाके लिये परमानन्द और परमशान्तिकी प्राप्ति हो सकती है।

कुछ उपयोगी साधन

साधन शब्दका अर्थ बहुत ही व्यापक है। परन्तु वास्तविक साधन तो उसे ही समझना चाहिये जो परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला हो। परमात्माकी प्राप्तिके लिये शास्त्रोंमें अनेकों प्रकारके साधन बतलाये गये हैं। उनमें सुगमतापूर्वक हो सकनेवाले कुछ सरल साधनोंका उल्लेख यहाँ किया जाता है। विवेकदृष्टिसे विचार करने-पर सारे साधन ज्ञाननिष्ठा और योगनिष्ठा—इन दोनों निष्ठाओंके अन्तर्गत आ जाते हैं। जीवात्मा और परमात्माकी एकताके आधार-पर होनेवाले जितने भी साधन हैं, वे सब ज्ञाननिष्ठाके अन्तर्गत हैं तथा जीवात्मा और परमात्माके भेदके आधारपर होनेवाले योग-निष्ठाके अन्तर्गत हैं। इसी बातको लक्ष्यमें रखते हुए भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें अभेदनिष्ठाको सांख्य, संन्यास अथवा ज्ञानयोगके नामसे कहा है और भेदनिष्ठाको योग, कर्मयोग तथा भक्तियोग आदि नामोंसे। श्रीमद्भागवतमें भी अभेद और भेदनिष्ठाओंका विशद वर्णन है। इसी प्रकार गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने भी श्रीरामचरितमानसके उत्तरकाण्डमें ज्ञानदीपकके नामसे अभेदनिष्ठाका और भक्तिमणिके नामसे भेदनिष्ठाका वर्णन किया है।

वेद और उपनिषदोंके 'अहं ब्रह्मास्मि', (बृह० उ० १। ४। १०) 'तत्त्वमसि' (छान्दोग्य० ६। ८। ७) आदि महावाक्य अभेदनिष्ठा (अभेदज्ञान) का प्रतिपादन करते हैं और 'द्वा सुपर्णा'*

---

* द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥
(मुण्डक० ३। १। १)

आदि श्रुतियाँ भेदनिष्ठाका प्रतिपादन करती हैं। इस प्रकार श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण आदि वैदिक सनातनधर्मके प्रायः सभी आर्ष ग्रन्थोंमें भेदनिष्ठा और अभेदनिष्ठाका ही भेदोपासना और अभेदोपासना आदि नामोंसे वर्णन किया गया है। इन्हीं दोनों निष्ठाओंके आधारपर यहाँ कुछ साधनोंका वर्णन किया जाता है।

अचिन्त्य ब्रह्मकी उपासना

नेत्र आदि इन्द्रियोंके द्वारा जो कुछ अनुभव किया जाता है एवं मनसे जो कुछ चिन्तन किया जाता है, अनुभव और चिन्तन करनेवाले इन्द्रियों और मनके सहित उस सम्पूर्ण दृश्यको नाशवान्, क्षणभङ्गुर और स्वप्नवत् समझकर उसका अभाव करना अर्थात् उसे अनित्य होनेके कारण असत् समझकर उससे रहित हो जाना और जिस बुद्धिवृत्तिके द्वारा सबका अभाव किया जाता है उस वृत्तिका त्याग करके उससे भी रहित हो जानेपर द्रष्टाका जो केवल चिन्मय-स्वरूप बच रहता है अर्थात् दृश्यमात्रका अभाव हो जानेपर चिन्तन करनेवाला जो द्रष्टा शेष बच जाता है उसमें स्थित होना ही अचिन्त्य ब्रह्मकी उपासना है। इस अभेद उपासनारूप साधनसे दृश्य, दर्शनका बाध हो जाता है और द्रष्टाका परब्रह्म परमात्माके साथ तादात्म्य हो जाता है। यही परमात्माकी प्राप्ति है। जैसे घटाकाश और महाकाशके बीच व्यवधानरूप केवल घटकी आकृति ही भेद-दर्शनमें हेतु है इसी प्रकार जड दृश्यमात्र जीवात्मा और परमात्माके भेद-दर्शनमें हेतु है। जब तत्त्वज्ञानके द्वारा सम्पूर्ण दृश्य और दर्शनका बाध हो जाता है, तब स्वभावतः ही जीवात्मा परमात्माको प्राप्त हो जाता है। जैसे घटके फूट जानेपर घटाकाशस्थानीय

आकाश महाकाशके साथ एक हो जाता है उसी प्रकार जीवात्माका सच्चिदानन्दघन परमात्माके साथ एकीभाव हो जाता है अर्थात् वह अभेदरूपसे ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है।

चराचररूप ब्रह्मकी उपासना

जो भी कुछ चर-अचर, जड-चेतन संसार है, वह सब परमात्मासे ही उत्पन्न है, परमात्मामें ही स्थित है और परमात्मामें ही लीन हो जाता है, इसलिये वस्तुतः परमात्मस्वरूप ही है।

जो पुरुष इस सम्पूर्ण संसारको परमात्माका स्वरूप समझकर परमात्मभावसे इसकी उपासना करता है, वह परमात्माको ही प्राप्त होता है।

यह उपासना भेद और अभेद दोनों ही दृष्टियोंसे की जा सकती है। भेददृष्टिवाला साधक समझता है कि जो कुछ है सो परमात्मा है और मैं उसका सेवक हूँ। जैसे गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

और अभेद दृष्टिवाला साधक सारे संसारको एवं अपने-आपको भी परमात्माका स्वरूप मानता है। जैसे श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
(१३।१५)

'परमात्मा चराचर सब भूतोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण है और चर-अचररूप भी वही है।'

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥
(१३ । ३०

'जिस क्षण यह पुरुष भूतोंके पृथक्-पृथक् भावको एक परमात्मामें ही स्थित तथा उस परमात्मासे ही सम्पूर्ण भूतोंका विस्तार देखता है, उसी क्षण वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है।'

इस प्रकार इस सम्पूर्ण दृश्यमात्रको परमात्माका स्वरूप मानकर उसकी उपासना करते-करते साधककी सर्वत्र समबुद्धि हो जाती है और वह राग-द्वेषरहित होकर परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेता है।

सङ्कल्पब्रह्मकी उपासना

सङ्कल्पब्रह्मकी उपासनामें जो भी कुछ अच्छे या बुरे सङ्कल्प मनमें उठते हैं उनको ब्रह्म मानकर उपासना की जाती है। इस प्रकार मनमें उठनेवाले प्रत्येक सङ्कल्पको ब्रह्म मानकर उपासना करनेवालेके लिये कोई भी सङ्कल्प (स्फुरणा) विघ्नकारक नहीं होते तथा उनमें समबुद्धि हो जानेके कारण अनुकूल और प्रतिकूल सङ्कल्पोंमें राग-द्वेष नहीं होता।

सङ्कल्पमात्रमें निरन्तर ब्रह्माकारवृत्ति बनी रहनेके कारण साधकको विज्ञानानन्दघन ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है।

शब्दब्रह्मकी उपासना

शब्दब्रह्मकी उपासना करनेवालेको जो भी कुछ भला या बुरा शब्द सुनायी देता है उसे वह ब्रह्म मानकर उपासना करता है। ब्रह्म सम और एक है, इसलिये साधककी शब्दमात्रमें समबुद्धि

हो जाती है। अतएव वह अनुकूल और प्रतिकूल शब्दोंमें राग-द्वेष और हर्ष-शोकसे रहित हो जाता है। कोई उसकी स्तुति या निन्दा करता है तो इससे उसके चित्तमें कोई विकार नहीं होता। शब्द-मात्रको ब्रह्म माननेके कारण उसकी वृत्ति हर समय ब्रह्माकार बनी रहती है, जिससे उसका अन्तःकरण शुद्ध होकर उसे परम शान्ति और परमानन्दकी प्राप्ति हो जाती है।

निःस्वार्थ कर्म-साधन

स्वार्थ (स्व-अर्थ) का अभिप्राय है—'अपने लिये' अपने व्यक्तिगत लाभके लिये, और निःस्वार्थका अर्थ है–'अपने लिये नहीं' अर्थात् दूसरों (समष्टि) के हितके लिये। साधारण मनुष्य यज्ञ, दान, तप, सेवा, तीर्थ, व्रत, उपवास, कृषि, वाणिज्य, खान-पान, शौच-स्नान, लेन-देन आदि जो कुछ भी कर्म करता है, किसी-न-किसी व्यक्तिगत स्वार्थको लेकर ही करता है। जैसे क्रय-विक्रय करनेवाला लोभी व्यापारी दूकान खोलनेके समयसे लेकर उसे बंद करनेतक दिनभर जो भी कुछ क्रय-विक्रय, लेन-देन आदि व्यापार करता है, सबमें उसका लक्ष्य हर समय यही रहता है कि अधिक-से-अधिक रुपये पैदा हों। जिसमें जरा भी अर्थकी हानि होती हो, ऐसा कोई भी काम वह जान-बूझकर कभी नहीं करना चाहता। इसी प्रकार यज्ञ, दान, तपादि कार्य करनेवाले सकामी लोग धन, स्त्री, पुत्र आदि इहलौकिक और स्वर्गादि पारलौकिक भोगोंकी कामनासे ही उन कामोंमें प्रवृत्त होते हैं।

यह स्वार्थ इतना व्यापक है कि किसी भी छोटे-से-छोटे कामका आरम्भ करनेके समय मनुष्य यही सोचता है कि इसके

करनेसे मुझे व्यक्तिगत क्या लाभ होगा। किसी लाभका निश्चय करके ही वह कार्यमें प्रवृत्त होता है। बिना प्रयोजन एक पैंड भी चलना नहीं चाहता। उसके मनमें पद-पदपर स्वार्थकी भावना भरी रहती है। इसी स्वार्थ-बुद्धिसे मनुष्यको बार-बार दुःखरूप संसार-चक्रमें भटकना पड़ता है। अतएव यथार्थ कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको स्वार्थरहित होकर लोक-हितके लिये ही कर्म करने चाहिये। जैसे स्वार्थी मनुष्य प्रत्येक कामके आरम्भमें यह सोचता है कि मुझे इसमें क्या लाभ होगा, ऐसे ही निःस्वार्थी पुरुषके मनमें यह भाव होना चाहिये कि इससे अन्य प्राणियोंका क्या हित होगा। जिस कामके आरम्भमें संसारका हित सोचकर प्रवृत्त हुआ जाता है, वही निष्काम कर्म है।

बहुत-से सज्जन लोकोपकारके कामोंमें धन-सम्पत्ति और शरीरके आरामका त्याग करते हैं और यह बहुत उत्तम है, परन्तु वे जो इसके बदलेमें मान, बड़ाई और प्रतिष्ठा चाहते हैं, इससे उनका वह त्याग निःस्वार्थ नहीं रह जाता। मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाकी कामनासे शुभ कर्म करनेवाले लोग अवश्य ही शुभ कर्म न करनेवालोंकी अपेक्षा तो बहुत ही अच्छे हैं; किन्तु वास्तविक कल्याणमें तो उनकी यह कामना भी बाधक ही है। और यदि कहीं राग-द्वेषके वश होना पड़ा तब तो इस कामनासे पतन भी हो सकता है। अतएव वास्तविक हित चाहनेवाले पुरुषको मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाकी इच्छाका भी सर्वथा त्याग करके विशुद्ध निःस्वार्थभावसे ही लोकहितार्थ कर्म करने चाहिये।

कुछ सज्जन मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और स्वर्गकी इच्छाका भी

त्याग करके केवल अपने आत्माके उद्धारकी इच्छासे यज्ञ, दान, तप, सेवा, सत्सङ्ग और व्यापार आदि शास्त्रविहित कर्म करते हैं। यद्यपि इस प्रकार कर्म करनेवाले लोग उपर्युक्त सभी साधकोंसे श्रेष्ठ हैं, तथापि केवल अपने ही आत्माके उद्धारकी यह इच्छा भी मुक्तिरूप स्वार्थ-बुद्धिके कारण कभी-कभी मोहमें डालकर साधकको कर्तव्य-च्युत कर देती है। कहीं-कहीं तो यह राग-द्वेषको उत्पन्न करके साधकका पतन भी कर डालती है। इसलिये केवल अपने उद्धारकी इच्छा न रखकर सम्पूर्ण प्राणियोंके कल्याणके उद्देश्यसे ही मनुष्यको शास्त्रविहित कर्मोंमें प्रवृत्त होना चाहिये। इस प्रकार निःस्वार्थभावसे कर्म करनेवाला मनुष्य सहज ही परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

संसारका हित चाहनेवाले ऐसे दयालु निष्कामी भक्तोंके सम्बन्धमें गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने तो यहाँतक कहा है—

> मोरें मन प्रभु अस बिस्वासा।
> राम ते अधिक राम कर दासा॥

इसका कुछ रहस्य निम्नलिखित दृष्टान्तके द्वारा समझना चाहिये।

भगवान्‌के एक निष्कामी भक्त जगत्‌के परम हितैषी थे। वे सदा-सर्वदा जगत्‌के हितमें रत रहा करते थे। इसके फलस्वरूप एक दिन भगवान् स्वयं उनको दर्शन देनेके लिये उनके सामने प्रकट हुए और बोले—'तुम्हारी जो इच्छा हो वही वर माँगो।'

भक्तने कहा—'भगवन्! आपकी मुझपर जो अनन्त कृपा है, इससे बढ़कर और कौन-सी वस्तु है, जिसकी मैं याचना करूँ— आपकी कृपासे मुझे किसी वस्तुकी आवश्यकता नहीं है।'

भगवान्‌ने विशेष आग्रहपूर्वक कहा—'मेरे सन्तोषके लिये तुम्हें कुछ तो अवश्य ही माँगना चाहिये ।'

भक्तने कहा—'प्रभो! यदि आपका इतना आग्रह है तो मैं यही चाहता हूँ कि मेरे मनमें यदि कुछ माँगनेकी इच्छा हो तो आप उसका सर्वथा विनाश कर दीजिये ।'

भगवान् बोले—'यह तो तुमने कुछ भी नहीं माँगा । मेरी प्रसन्नताके लिये तुम्हें अवश्य कुछ माँगना पड़ेगा । तुम जो चाहो सो माँग सकते हो ।'

भक्तने कहा—'जब आप इतना बाध्य करते हैं तो मैं यह माँगता हूँ कि आप संसारके सभी जीवोंका कल्याण कर दीजिये ।'

भगवान्‌ने कहा—'यदि सब जीवोंका कल्याण कर दिया जाय तो उनके किये हुए पापोंका फल कौन भोगेगा ?'

भक्तने कहा—'प्रभो । सबके पापोंका फल मुझे भुगता दीजिये ।'

भगवान् बोले—'तुम-सरीखे भक्तको सब जीवोंके पापोंका दण्ड कैसे भुगताया जा सकता है ?'

भक्तने कहा—'तो फिर सबको क्षमा कर दीजिये ।'

भगवान्‌ने कहा—'इस प्रकार सबको पापोंका फल न भुगताकर उन्हें क्षमा कर देना तो असम्भव है ।'

भक्तने कहा—'भगवन् ! आप तो असम्भवको भी सम्भव करनेवाले सर्वशक्तिमान् परमेश्वर हैं । आपके लिये कुछ भी असम्भव नहीं है ।'

भगवान्‌ने कहा—'इस प्रकार करनेके लिये मैं असमर्थ हूँ ।'

भक्तने कहा—'यदि आप अपनेको असमर्थ कहते हैं, तो फिर आपने इच्छानुसार वर माँगनेके लिये इतना आग्रह क्यों किया था ? आपको स्त्री, पुत्र, धन, मान-बड़ाई, स्वर्ग, मोक्ष आदि किसी एक वस्तुके माँगनेके लिये कहना चाहिये था। जो इच्छा हो सो माँगनेका वचन देनेपर तो याचककी माँग पूरी करनी ही चाहिये।'

भगवान्‌ने कहा—'भाई ! मेरी हार और तुम्हारी जीत हुई। मैं भक्तोंके सामने सदा ही हारा हुआ हूँ।'

भक्तने कहा—'प्रभो ! हार तो मेरी हुई। जीत तो तब होती जब आप सबका कल्याण कर देते।'

भगवान्‌ने कहा—'तुम्हारे इस निःस्वार्थभावसे मैं अति प्रसन्न हुआ हूँ। मैं तुम्हें यह वर देता हूँ कि जो कोई भी तुम्हारा दर्शन, स्पर्श और चिन्तन आदि करेगा, उसका भी कल्याण हो जायगा।'

इस प्रकार संसारका कल्याण चाहनेवाले निःस्वार्थ भक्तको विनोदमें भगवान्‌से भी बढ़कर कहना कोई अत्युक्ति नहीं है। अतएव कल्याणकामी पुरुषोंको निःस्वार्थभावसे लोकहितार्थ ही सारे कर्म करने चाहिये।

सेवा-साधन

धन-सम्पत्ति, शारीरिक सुख और मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा आदिको न चाहते हुए ममता, आसक्ति और अहङ्कारसे रहित होकर मन, वाणी, शरीर और धनके द्वारा सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत होकर उन्हें सुख पहुँचानेकी चेष्टा करना 'सेवा-साधन' कहलाता है। इस

साधनसे साधकके चित्तमें निर्मलता और प्रसन्नता होकर उसे भगवत्प्राप्ति हो जाती है।

उपर्युक्त प्रकारकी सेवा-साधना तीन प्रकारके भावोंसे की जा सकती है—सब एक ईश्वरकी ही सन्तान होनेके कारण सबको अपना 'बन्धु' मानते हुए, आत्म-दृष्टिसे सबको अपना 'स्वरूप' समझते हुए और परमात्मा ही सब भूतोंके हृदयमें स्थित है इसलिये सबको साक्षात् 'परमेश्वर' समझते हुए। इन तीनों भावोंमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठता है। बन्धुभावसे होनेवाली सेवामें एक दूसरेके प्रति पर-बुद्धि होनेके कारण राग-द्वेषवश कभी झगड़ा भी हो सकता है, परन्तु आत्मभावमें इसकी सम्भावना नहीं है, अतः बन्धुभावसे की हुई सेवाकी अपेक्षा आत्मभावसे की हुई सेवा उत्तम है। आत्मभावसे की हुई सेवाकी अपेक्षा भी परमात्मभावसे की हुई सेवा उत्तम है; क्योंकि मनुष्य अपने इष्टकी सेवाके लिये प्रसन्नता-पूर्वक अपने प्राणोंका भी बलिदान कर सकता है। तीनों प्रकारके भावोंसे की हुई सेवाका परिणाम एक होनेपर भी भगवत्प्राप्तिमें शीघ्रताकी दृष्टिसे ही उत्तरोत्तर श्रेष्ठताका प्रतिपादन किया गया है।

उत्तम देश, काल और पात्रके प्राप्त होनेपर जो न्यायानुकूल सेवा की जाती है, वही सेवा महत्त्वपूर्ण होती है। जैसे—अन्य देशोंकी अपेक्षा आर्यावर्त देश उत्तम माना गया है, उसमें भी काशी आदि तीर्थ अधिक उत्तम माने गये हैं। परन्तु यदि काशी आदि तीर्थोंमें अन्नकी फसल अच्छी हो और मगध आदि देशोंमें भयङ्कर अकाल पड़ा हो तो अन्नदानके लिये काशीकी अपेक्षा मगध अधिक उपयुक्त देश है। इसी प्रकार यद्यपि साधारण कालकी अपेक्षा

एकादशी, पूर्णिमा, सोमवती, व्यतिपात, ग्रहण और पर्वकाल दानके लिये श्रेष्ठ हैं तथापि यदि अन्य कालमें अन्नके बिना प्राणी मरते हों तो पर्वकालकी अपेक्षा भी वह पर्वातिरिक्त काल अन्नदानके लिये श्रेष्ठ काल है। पात्रके विषयमें भी ऐसा ही समझना चाहिये। जिस प्राणीके द्वारा जितना अधिक उपकार होता है, उतना ही वह सेवाका अधिक पात्र है। जैसे कीड़े, चींटी आदिकी अपेक्षा पशु आदि, पशुओंमें भी अन्य पशुओंकी अपेक्षा गाय आदि, पशुओंकी अपेक्षा मनुष्य, मनुष्योंमें भी दूसरोंकी अपेक्षा उत्तम गुण और आचरणवाले पुरुष सेवाके विशेष पात्र हैं। उदाहरणके लिये—यदि देशमें बाढ़ या अकाल आदिके कारण प्राणी भूखों मर रहे हों और साधकके पास थोड़ा-सा परिमित अन्न हो तो ऐसी स्थितिमें पूर्वमें बतलाये हुए प्राणियोंकी अपेक्षा बादमें बतलाये हुए उत्तरोत्तर सेवाके अधिक पात्र हैं, क्योंकि उनके द्वारा उत्तरोत्तर लोकोपकार अधिक होता है। परन्तु इसमें भी यह बात है कि जिसके पास अन्नका जितना अधिक अभाव हो उतना ही उसे अधिक पात्र समझना चाहिये। जैसे—किसी देशमें अकाल होनेपर भी गायोंके लिये चारेकी कमी न हो पर कुत्ते भूखों मरते हों तो वहाँ कुत्ते ही अधिक पात्र हैं। इसी प्रकार सबके विषयमें समझना चाहिये। प्यासेको पानी, नंगोंको वस्त्र, बीमारको औषध और आतुरको अभयदान आदिके विषयमें भी यही बात समझनी चाहिये।

परन्तु विशेष ध्यान देनेकी बात तो यह है कि सेवा-साधनमें क्रियाकी अपेक्षा भावकी प्रधानता है। स्त्री-पुत्र, धन-मान, बड़ाई-

प्रतिष्ठा और स्वर्गादिकी प्राप्तिके उद्देश्यसे तत्परताके साथ आजीवन किये हुए उपर्युक्त विशाल सेवाकार्यकी अपेक्षा ममता, आसक्ति और अहङ्कारसे रहित होकर निःस्वार्थभावसे की हुई थोड़ी सेवा भी अधिक मूल्यवाली होती है।

पञ्च महायज्ञ-साधन

पञ्च महायज्ञसे हमारे नित्यके पापोंका प्रायश्चित्त तो होता ही है, यदि स्वार्थत्यागपूर्वक निष्कामभावसे केवल भगवत्प्रीत्यर्थ इनका साधन किया जाय तो इनसे भगवत्प्राप्ति भी हो जाती है।

ब्रह्मयज्ञ (ऋषियज्ञ), पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ (बलिवैश्व) और मनुष्ययज्ञ—ये पञ्च महायज्ञ कहलाते हैं। * जिस कर्मसे बहुतोंकी तृप्ति हो उसे यज्ञ कहते हैं और जिससे सारे संसारकी तृप्ति हो उसे महायज्ञ कहते हैं। इस दृष्टिसे इनका महत्त्व बहुत अधिक है।

देवयज्ञसे मुख्यतासे देवताओंकी, ऋषियज्ञसे ऋषियोंकी, पितृयज्ञसे पितरोंकी, मनुष्ययज्ञसे मनुष्योंकी और भूतयज्ञसे भूतोंकी तृप्ति होती है और गौणरूपसे इनके द्वारा सारे संसारकी तृप्ति होती है। वैदिक सनातनधर्मने महायज्ञोंमें सम्पूर्ण संसारके जीवोंके हितके

---

* अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥
(मनु० ३। ७०)

वेद-शास्त्रका पठन-पाठन एवं सन्ध्योपासन, गायत्रीजप आदि ब्रह्मयज्ञ (ऋषियज्ञ) है, नित्य श्राद्धतर्पण पितृयज्ञ है, हवन देवयज्ञ है, बलिवैश्वदेव भूतयज्ञ है और अतिथि-सत्कार मनुष्ययज्ञ है।

लिये जैसा दया और उदारतापूर्ण स्वार्थत्यागका भाव भरा है, वैसा अन्य धर्मोंमें देखनेमें नहीं आता ।

वेद और शास्त्रोंका पठन-पाठन जगत्के हितार्थ ऋषियोंको सन्तुष्ट करनेके लिये ही किया जाता है, अपने स्वार्थके लिये नहीं । सन्ध्योपासनमें भी 'पश्येम शरदः' आदिमें सबके हितकी ही प्रार्थना की गयी है । और इसी प्रकार गायत्रीमन्त्रमें स्तुति और ध्यान बतलाकर सभीकी बुद्धियोंको सत्कार्यमें लगानेकी प्रार्थना की गयी है ।

पितृतर्पणमें भी देवता, ऋषि, मनुष्य, पितर एवं सम्पूर्ण भूतप्राणियोंको जलदान करनेकी विधि है । यहाँतक कि पहाड़, वनस्पति और शत्रु आदिको भी जल देकर तृप्त किया जाता है ।

देवयज्ञमें अग्निमें आहुति दी जाती है । वह सूर्यको प्राप्त होती है और सूर्यसे वृष्टि और वृष्टिसे अन्न और प्रजाकी उत्पत्ति होती है ।*

भूतयज्ञसे भी सारे प्राणियोंकी तृप्ति होती है । इसको बलिवैश्वदेव भी कहते हैं, क्योंकि इसमें सारे विश्वके लिये बलि दी जाती है ।

मनुष्ययज्ञमें अपने-आप घर आये हुए अतिथिका सत्कार करके उसे विधिपूर्वक यथाशक्ति भोजन कराया जाता है† । यदि भोजन

---

* अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥
(मनु० ३ । ७६)

† सम्प्राप्ताय त्वतिथये प्रदद्यादासनोदके ।
अन्नं चैव यथाशक्ति सत्कृत्य विधिपूर्वकम् ॥
(मनु० ३ । ९९)

करानेकी सामर्थ्य न हो तो उसे बैठनेके लिये जगह, आसन, जल और मीठे वचनोंका दान तो गृहस्थको अवश्य ही करना चाहिये।*

उपर्युक्त पाँच प्रकारके महायज्ञोंपर ऋषियोंने बहुत जोर दिया है। अतएव स्वाध्यायसे ऋषियोंका, हवनसे देवताओंका, तर्पण और श्राद्धसे पितरोंका, अन्नसे मनुष्योंका और बलिकर्मसे सम्पूर्ण भूतप्राणियोंका यथायोग्य सत्कार करना चाहिये। † इस प्रकार जो मनुष्य नित्य सब प्राणियोंका सत्कार करता है वह तेजोमय मूर्ति धारणकर सरल अर्चिमार्गके द्वारा परमधामको प्राप्त होता है।‡ इसके विपरीत जो मनुष्य दूसरोंको भोजन न देकर केवल अपने ही उदर-पोषणके लिये भोजन बनाता है, वह पापायु मनुष्य पाप ही खाता है। सबको भोजन देनेके बाद शेष बचा हुआ अन्न यज्ञशिष्ट होनेके कारण अमृतके तुल्य है, इसलिये ऐसे अन्नको ही सज्जनोंके खाने योग्य कहा गया है। §

---

*तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन॥
(मनु० ३। १०१)

† स्वाध्यायेनार्चयेतर्षीन् होमैर्देवान् यथाविधि।
पितॄञ्छ्राद्धैश्च नॄनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा॥
(मनु० ३। ८१)

‡ एवं यः सर्वभूतानि ब्राह्मणो नित्यमर्चति।
स गच्छति परं स्थानं तेजोमूर्तिः पथर्जुना॥
(मनु० ३। ९३)

§ अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात्।
यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत्सतामन्नं विधीयते॥
(मनु० ३। ११८)

भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें भी प्रायः ऐसी ही बात कही है।*

उपर्युक्त सभी महायज्ञोंका तात्पर्य है सम्पूर्ण भूतप्राणियोंकी अन्न और जलके द्वारा सेवा करना एवं अध्ययन-अध्यापन, जप, उपासना आदि स्वाध्यायद्वारा सबका हित चाहना। अपने स्वार्थके त्यागकी बात तो पद-पदमें बतलायी गयी है।

हवनके और बलिवैश्वदेवके मन्त्रोंमें भी स्वार्थत्यागकी ही बात कही गयी है। जैसे 'ॐइन्द्राय स्वाहा, इदमिन्द्राय न मम। ॐब्रह्मणे स्वाहा, इदं ब्रह्मणे न मम।' इस 'न मम'का अभिप्राय यह है कि यह आहुति इन्द्रके लिये दी जाती है, इसका फल मैं नहीं चाहता। यह आहुति ब्रह्मके लिये दी जाती है, इसका फल मैं नहीं चाहता। अन्य मन्त्रोंमें भी इसी प्रकारके त्यागकी बात जगह-जगहपर कही गयी है। इन सबसे यही शिक्षा मिलती है कि मनुष्यको अपने स्वार्थका त्याग करके संसारके हितके लिये ही प्रयत्न करना चाहिये।

सम्पूर्ण संसारके प्राणियोंमें एक मनुष्य ही ऐसा प्राणी है, जो प्राणीमात्रकी सेवा कर सकता है। अन्य प्राणियोंके द्वारा भी जगत्का बहुत उपकार होता है, किन्तु सबकी सेवा तो केवल मनुष्य ही कर सकता है। मनुष्यका शरीर खान-पान, ऐश-आराम और भोग भोगनेके लिये नहीं मिला है। ये सब तो अन्य योनियोंमें भी प्राप्त हो सकते

---

* यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥
(गीता ३। १३)

हैं। मनुष्यका जन्म तो प्राणीमात्रके हितकी चेष्टा करनेके लिये ही मिला है। अतएव सब लोगोंको चाहिये कि अपने तन, मन और धनद्वारा निःस्वार्थभावसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी सेवाके लिये तत्परतासे चेष्टा करें। और इस प्रकार प्राणीमात्रमें विराजित भगवान्‌की सेवा करके उनको प्राप्त कर सफलजीवन हों।

विषय-हवनरूप साधन

इन्द्रियोंके विषयोंको राग-द्वेषरहित होकर इन्द्रियरूप अग्निमें हवन करनेसे परमात्माकी प्राप्ति होती है,। शब्द, स्पर्श, रूप आदिका श्रवण, स्पर्श और दर्शन आदि करते समय अनुकूल और प्रतिकूल पदार्थोंमें राग-द्वेषरहित होकर उनका न्यायोचित सेवन करनेसे अन्तःकरण शुद्ध होता है और उसमें 'प्रसाद'का अनुभव होता है। उस 'प्रसाद'से सारे दुःखोंका नाश होकर परमात्माके स्वरूपमें स्थिति हो जाती है। परन्तु जबतक इन्द्रियाँ और मन वशमें नहीं होते और भोगोंमें वैराग्य नहीं होता,तबतक अनुकूल पदार्थके सेवनसे राग और हर्ष एवं प्रतिकूलके सेवनसे द्वेष और दुःख होता है। अतएव सम्पूर्ण पदार्थोंको नाशवान् और क्षणभङ्गुर समझकर न्यायसे प्राप्त हुए पदार्थोंका विवेक और वैराग्ययुक्त बुद्धिके द्वारा समभावसे ग्रहण करना, चाहिये। श्रवण, स्पर्श, दर्शन, भोजनादि कार्य रसबुद्धिका त्याग करके कर्तव्यबुद्धिसे भगवत्प्राप्तिके लिये करने चाहिये। इन पदार्थोंमें ऐशो-आराम, मौज-शौक, स्वाद-सुख और इन्द्रियतृप्ति, रमणीयता या भोग-बुद्धिकी भावना ही मनुष्यके मनमें विकार उत्पन्न करके उसका पतन करनेवाली होती है। उपर्युक्त दोषोंसे रहित होकर विवेक और वैराग्ययुक्त बुद्धिके द्वारा किये जानेवाले इन्द्रियोंके विषय-सेवनसे तो हवनके लिये अग्निमें डाले

हुए इंधनकी तरह वे सब पदार्थ अपने-आप ही भस्म हो जाते हैं। फिर उनकी कोई भी सत्ता या प्रभाव नहीं रह जाता। इस प्रकार साधन करते-करते अन्तःकरणकी शुद्धि होनेपर सारे दुःखों और पापोंका अभाव होकर परमात्माके स्वरूपमें स्थिर और अचल स्थिति हो जाती है अर्थात् परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

महापुरुष-आज्ञा-पालनरूप साधन

जो पुरुष महात्माओंके* पास जाकर उनके उपदेशको सुनकर उसके अनुसार साधन करता है, उसे भी परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥

(१३।२५)

'जो पुरुष स्वयं इस प्रकार (ध्यानयोग, सांख्ययोग और कर्मयोग) न जानते हुए दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वके जाननेवाले महापुरुषोंसे सुनकर तदनुसार उपासना करते हैं, वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसार-सागरको निःसन्देह तर जाते हैं।'

अतएव जो पुरुष श्रद्धा-भक्तिपूर्वक महात्माओंकी आज्ञाका पालन करता है, उसका कल्याण हो जाता है। शास्त्रोंमें इसके अनेक उदाहरण भी मिलते हैं।

* ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ या संन्यासी कोई भी पुरुष जो गीता अध्याय २ श्लोक ५५ से ७२ तथा अध्याय १२ श्लोक १३ से १९ और अध्याय १४ श्लोक २२ से २५ में वर्णित लक्षणोंसे युक्त हो, उसीको महात्मा समझना चाहिये।

महाभारत आदिपर्वके तीसरे अध्यायके २० वेंसे ३२ वें श्लोक-तक आयोदधौम्य और उनके शिष्य पाञ्चालदेशीय आरुणिकी कथा है। वहाँ लिखा है कि गुरुने शिष्यको खेतमें जाकर खेतकी मेंड़ बाँधनेकी आज्ञा दी। शिष्य जब चेष्टा करनेपर भी मिट्टीसे मेंड न बाँध सका तब उसने स्वयं जलके प्रवाहके सामने सोकर जलको रोक लिया। जब शामतक वह घर न लौटा तो गुरु उसे खोजते हुए खेतमें आये और पुकारने लगे। उनकी आवाज सुनकर आरुणि उठा और जाकर सामने खड़ा हो गया। मिट्टीके स्थानपर खुद उसके पड़नेकी बात जानकर धौम्यमुनि उसकी आज्ञापालन-परायणताको देखकर बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने वरदान दिया कि तुमने जो मेरी आज्ञा-का पालन किया है, इससे तुम्हारा कल्याण हो जायगा। समस्त वेद और धर्मशास्त्रोंका ज्ञान तुम्हें बिना ही पढ़े अपने आप हो जायगा।*

इसी प्रकार छान्दोग्य-उपनिषद्के अध्याय ४, खण्ड ४ से ९ में की एक कथा आती है। हारिद्रुमत गौतम ऋषिने अपने शिष्य सत्य-काम जाबालका उपनयनसंस्कार करके उसे ४०० कृश और दुर्बल गायोंको वनमें ले जाकर चरानेकी आज्ञा दी। शिष्यने गुरुका भाव समझकर यह कहा कि जब इन गायोंकी संख्या पूरी १००० हो जायगी, तब मैं लौट आऊँगा।

कई वर्ष बीतनेपर एक दिन एक साँड़ने उससे कहा कि अब हम पूरे हजार हो गये हैं, तुम हमें गुरुके पास ले चलो। सत्यकाम जब उन्हें लेकर आने लगा तो गुरुके पास उसे साँड़, अग्नि, हंस और मद्गु

---

* यस्माच्च त्वया मद्वचनमनुष्ठितं तस्माच्छ्रेयोऽवाप्स्यसि।
सर्वे च ते वेदाः प्रतिभास्यन्ति सर्वाणि च धर्मशास्त्राणीति॥
(महा० आदि० ३। ३२)

(जलचर पक्षी) ने मार्गमें ही ब्रह्मका उपदेश दे दिया। जब वह घर लौटा तो उसे देखकर गुरुने कहा—'तुम तो ब्रह्मवेत्ता-से प्रतीत हो रहे हो, तुमको उपदेश किसने दिया ?' सत्यकामने रास्तेकी सच्ची-सच्ची घटना बतलाकर कहा—'मैं अब आपके द्वारा उपदेश प्राप्त करना चाहता हूँ।' महर्षि गौतमने उसे पुनः वही ब्रह्मविद्याका उपदेश दिया जो उसे रास्तेमें प्राप्त हुआ था।

इसी प्रकारके और भी अनेक उदाहरण शास्त्रोंमें आते हैं, जिनमें महात्माओंके आज्ञापालनमात्रसे ही शिष्योंका कल्याण हुआ है।

महात्माओंके आज्ञापालनसे परम कल्याण हो इसमें तो कहना ही क्या है, उनका दर्शन, स्पर्श और चिन्तन भी कल्याणका परम कारण होता है।

देवर्षि नारदजीने कहा है—

महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च। (नारदभक्तिसूत्र ३९)

'महात्मा पुरुषोंका सङ्ग दुर्लभ, अगम्य और अमोघ है।'

महात्माओंका मिलना कठिन है, मिलनेपर उन्हें पहचानना कठिन है, परन्तु न पहचाननेपर भी उनका मिलना व्यर्थ नहीं होता, वह महान् कल्याणकारक होता है। जैसे सूर्यको न जानकर भी यदि कोई सूर्यके सामने आ जाय तो उसकी सरदी दूर हो जाती है। यह सूर्यका स्वाभाविक गुण है। इसी प्रकार महात्माओंका मिलन अपने स्वाभाविक वस्तुगुणसे ही मनुष्योंको तारनेवाला होता है।

अतएव महात्माओंके सङ्ग और उनके आज्ञापालनसे सबको लाभ उठाना चाहिये।

सन्ध्या-गायत्रीका महत्त्व

सन्ध्योपासन तथा गायत्री-जपका हमारे शास्त्रोंमें बहुत बड़ा महत्त्व कहा गया है। द्विजातिमात्रके लिये इन दोनों कर्मोंको अवश्य कर्तव्य बतलाया गया है। श्रुति भगवती कहती है—'अहरहः सन्ध्यामुपासीत' प्रतिदिन बिना नागा सन्ध्योपासन अवश्य करना चाहिये। शास्त्रोंमें तीन प्रकारके कर्मोंका उल्लेख मिलता है—नित्य, नैमित्तिक एवं काम्य। नित्यकर्म उसे कहते हैं, जिसे नित्य नियमपूर्वक—बिना नागा—कर्तव्य-बुद्धिसे एवं बिना किसी फलेच्छाके करनेके लिये शास्त्रोंकी आज्ञा है। नैमित्तिक कर्म वे कहलाते हैं, जो किसी विशेष निमित्तको लेकर खास-खास अवसरोंपर आवश्यकरूपसे किये जाते हैं—जैसे पितृपक्ष (आश्विन कृष्णपक्ष) में पितरोंके लिये श्राद्ध किया जाता है। नैमित्तिक कर्मोंको भी शास्त्रोंमें अवश्यकर्तव्य बतलाया गया है और उन्हें भी कर्तव्यरूपसे बिना किसी फलाभिसन्धिके करनेकी आज्ञा दी गयी है; परन्तु उन्हें नित्य करनेकी आज्ञा नहीं है। यही नित्य और नैमित्तिक कर्मोंमें भेद है। अवश्य ही नित्य एवं नैमित्तिक दोनों प्रकारके कर्मोंके न करनेमें दोष बतलाया गया है। तीसरे—काम्यकर्म वे हैं, जो किसी कामनासे—किसी फलाभिसन्धिसे किये जाते हैं और जिनके न करनेमें कोई दोष नहीं लगता। उनका करना, न करना सर्वथा कर्ताकी इच्छापर निर्भर है। जैसे पुत्रकी प्राप्तिके लिये शास्त्रोंमें पुत्रेष्टि-यज्ञका विधान पाया जाता है।

जिसे पुत्रकी कामना हो, वह चाहे तो पुत्रेष्टि-यज्ञ कर सकता है; किन्तु जिसे पुत्र प्राप्त है अथवा जिसे पुत्रकी इच्छा नहीं है या जिसने विवाह ही नहीं किया है अथवा विवाह करके गृहस्थाश्रमका त्याग कर दिया है, उसे पुत्रेष्टि-यज्ञ करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है और इस यज्ञके न करनेसे कोई दोष लगता हो, यह बात भी नहीं है, परन्तु नित्यकर्मोंको तो प्रतिदिन करनेकी आज्ञा है, उसमें एक दिनका नागा भी क्षम्य नहीं है और प्रत्येक द्विजातिको, जिसने शिखा-सूत्रका त्याग नहीं किया है, अर्थात् चतुर्थ आश्रम (संन्यास) को छोड़कर पहले तीनों आश्रमोंमें नित्यकर्मोंका अनुष्ठान करना ही चाहिये। नित्यकर्म ये हैं—सन्ध्या, तर्पण, बलिवैश्वदेव, स्वाध्याय, जप, होम आदि। इन सबमें सन्ध्या और गायत्री-जप मुख्य हैं; क्योंकि यह ईश्वरकी उपासना है और बाकी कर्म देवताओं, ऋषियों तथा पितरों आदिके उद्देश्यसे किये जाते हैं, यद्यपि इन सबको भी परमेश्वरकी प्रीतिके लिये ही करना चाहिये।

सन्ध्या न करनेवालोंको तो बड़ा दोषका भागी बतलाया गया है। देवीभागवतमें लिखा है—

> सन्ध्या येन न विज्ञाता सन्ध्या येनानुपासिता।
> जीवन्नेव भवेच्छूद्रो मृतः श्वा चाभिजायते॥
> (११।१६।६)

'जो द्विज सन्ध्या नहीं जानता और सन्ध्योपासन नहीं करता, वह जीता हुआ ही शूद्र हो जाता है और मरनेपर कुत्तेकी योनिको प्राप्त होता है।' दक्षस्मृतिका वचन है—

सन्ध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मसु ।
यदन्यत् कुरुते कर्म न तस्य फलभाग्भवेत् ॥
(२ । २३)

'सन्ध्याहीन द्विज नित्य ही अपवित्र है और सम्पूर्ण धर्मकार्य करनेमें अयोग्य है । वह जो कुछ अन्य कर्म करता है उसका फल उसे नहीं मिलता ।'

भगवान् मनु कहते हैं—

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम् ।
स शूद्रवद्बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः ॥
(मनु० २ । १०३)

'जो द्विज प्रातःकाल और सायङ्कालकी सन्ध्या नहीं करता, उसे शूद्रकी भाँति द्विजातियोंके करने योग्य सभी कर्मोंसे अलग कर देना चाहिये ।'

बात भी बिल्कुल ठीक है । यह मनुष्य-जन्म हमें ईश्वरोपासनाके लिये ही मिला है । संसारके भोग तो हम अन्य योनियोंमें भी भोग सकते हैं, परन्तु ईश्वरका ज्ञान प्राप्त करने तथा उनकी आराधना करनेका अधिकार तो हमें मनुष्ययोनिमें ही मिलता है। मनुष्योंमें भी जिनका द्विजाति-संस्कार हो चुका है अर्थात् जिन्हें वेदाध्ययन यानी वेदरूप ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त करनेका अधिकार प्राप्त हो चुका है, वे लोग भी यदि नित्य नियमित रूपसे ईश्वरोपासना न करें, तो वे अपने अधिकारका दुरुपयोग करते हैं, उन्हें द्विजाति कहलानेका क्या अधिकार है ? जो मनुष्य-जन्म पाकर भी भगवदुपासनासे विमुख

रहते हैं, वे मरनेके बाद मनुष्ययोनिसे नीचे गिरा दिये जाते हैं और इस प्रकार भगवान्‌की दयासे जन्म-मरणके चक्करसे छूटनेका जो सुलभ साधन उन्हें प्राप्त हुआ था उसे अपनी मूर्खतासे खो बैठते हैं। मनुष्योंमें भी जिन्होंने म्लेच्छ, चाण्डाल, शूद्र आदि योनियोंसे ऊपर उठकर द्विज-शरीर प्राप्त किया है, वे भी यदि ईश्वरकी आराधना नहीं करते, वेदरूपी ईश्वरीय आज्ञाका उल्लङ्घन करते हैं, उन्हें यदि मरनेपर कुत्ते आदिकी योनि मिले तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? अतः प्रत्येक द्विज कहलानेवालेको चाहिये कि वह नित्य नियमपूर्वक दोनों समय (अर्थात् प्रातःकाल एवं सायङ्काल) वैदिक विधिसे अर्थात् वेदोक्त मन्त्रोंसे सन्ध्योपासन करे। यों तो शास्त्रोंमें सायं, प्रातः एवं मध्याह्नकालमें—तीनों समय ही सन्ध्या करनेका विधान है; परन्तु जिन लोगोंको मध्याह्नके समय जीविकोपार्जनके कार्यसे अवकाश न मिले अथवा जो और किसी अड़चनके कारण मध्याह्नकालकी सन्ध्याको बराबर न निभा सकें, उन्हें चाहिये कि वे दिनमें कम-से-कम दो बार अर्थात् प्रातःकाल और सायङ्काल तो नियमित रूपसे सन्ध्या अवश्य ही करें।

सन्ध्यामें क्रियाकी प्रधानता तो है ही; परन्तु जिस-जिस मन्त्रका जिस-जिस क्रियामें विनियोग है, उस-उस क्रियाको विधि-पूर्वक करते हुए उस मन्त्रका शुद्ध उच्चारण भी करना चाहिये और साथ-साथ उस मन्त्रके अर्थकी ओर लक्ष्य रखते हुए उसी भावमें भावित होनेकी चेष्टा करनी चाहिये। उदाहरणतः 'सूर्यश्च मा०' इस मन्त्रका शुद्ध उच्चारण करके आचमन करना चाहिये और साथ ही इस मन्त्रके अर्थकी ओर लक्ष्य रखते हुए यह भावना करनी

चाहिये कि जिस प्रकार यह अभिमन्त्रित जल मेरे मुँहमें जा रहा है उसी प्रकार मन, वचन, कर्मसे मैंने व्यतीत रात्रिमें जो-जो पाप किये हों वे सब रात्रिके अभिमानी देवताके द्वारा नष्ट किये जा रहे हैं और इस समय जो भी पाप मेरे अंदर हों वे सब भगवान् सूर्यकी ज्योतिमें विलीन हो रहे हैं, भस्म हो रहे हैं; भगवान्के तेजके सामने पापोंकी ताकत ही क्या है कि जो वे ठहर सकें।

आजकल कुछ लोग कहते हैं कि सन्ध्याका अर्थ है ईश्वरोपासना। ईश्वरकी दृष्टिमें सभी भाषाएँ समान हैं और सभी भाषाओंमें की हुई प्रार्थना एवं स्तुति उनके पास पहुँच सकती है; क्योंकि सभी भाषाएँ उन्हींकी रची हुई हैं और ऐसी कोई भाषा नहीं है, जिसे वे न समझते हों। फिर क्यों न हमलोग अपनी मातृभाषामें ही उनकी स्तुति एवं प्रार्थना करें? संस्कृत अथवा वैदिक भाषाकी अपेक्षा अपनी निजकी भाषामें हम अपने भावोंको अधिक स्पष्टरूपमें व्यक्त कर सकते हैं। जिस समय देशमें वैदिक अथवा संस्कृत भाषा बोली जाती रही हो, उस समय लोगोंका वैदिक मन्त्रोंके द्वारा सन्ध्या करना ठीक रहा, परन्तु वर्तमान युगमें जब कि संस्कृतके जाननेवाले लोग बहुत कम रह गये हैं—यहाँतक कि वैदिक मन्त्रोंके उच्चारणमें ही लोगोंको कठिनाईका अनुभव होता है, उनका अर्थ जानना और उनके भावमें भावित होना तो दूर रहा—इस लकीरको पीटनेसे क्या लाभ, बल्कि ईश्वर तो घट-घटमें व्यापक हैं, वे तो हमारे हृदयकी सूक्ष्मतम बातोंको भी जानते हैं। उनके लिये तो भाषाके आडम्बरकी आवश्यकता ही नहीं है। उनके सामने तो हृदयकी मूक प्रार्थना ही पर्याप्त है, बल्कि सच्ची प्रार्थना तो हृदयकी

ही होती है। बिना हृदयके केवल तोतेकी भाँति रटे हुए कुछ शब्दोंके उच्चारणमात्रसे क्या होता है।

यह शङ्का सर्वथा निर्मूल नहीं है। ईश्वरकी दृष्टिमें अवश्य ही भाषाका कोई विशेष महत्त्व नहीं है। उनकी दृष्टिमें सभी भाषाएँ समान हैं और भाषाओंमें की हुई प्रार्थनाको वे सुनते और उत्तर चाहनेपर उसी भाषामें वे उसका उत्तर भी देते हैं। यह भी ठीक है कि प्रार्थनामें भावकी प्रधानता है, उसका सम्बन्ध हृदयसे है और अपने भावोंको जितने स्पष्ट रूपमें हम अपनी मातृभाषामें रख सकते हैं, उतना स्पष्ट हम और किसी भाषामें नहीं रख सकते। यह भी निर्विवाद है कि हृदयकी मूक प्रार्थना जितना काम कर सकती है केवल कुछ चुने हुए शब्दोंके उच्चारणमात्रसे वह कार्य नहीं बन सकता। इन सब बातोंको स्वीकार करते हुए भी हम सन्ध्याको उसी रूपमें करनेके पक्षपाती हैं, जिस रूपमें उसके करने-का शास्त्रोंमें विधान है और जिस रूपमें लाखों-करोड़ों वर्षोंसे बल्कि अनादिकालसे हमारे पूर्वज उसे करते आये हैं।

सन्ध्यामें ईश्वरकी स्तुति, ध्यान और प्रार्थना है, और उसके उतने अंशकी पूर्ति अपनी मातृभाषामें, अपने ही शब्दोंमें की हुई प्रार्थनासे भी अथवा हृदयकी मूक प्रार्थनासे भी हो सकती है। जो लोग इस रूपमें प्रार्थना करना चाहते हैं अथवा करते हैं, वे अवश्य ऐसा करें। उनका हम विरोध नहीं करते, बल्कि हृदयसे समर्थन ही करते हैं, क्योंकि वैदिक मन्त्रोंके उच्चारणका सबको अधिकार भी नहीं है और न सबका उनमें विश्वास ही है। अन्यान्य मतों एवं मजहबोंकी भाँति सनातन वैदिक धर्मकी मान्यता यह नहीं है कि अन्य मतावलम्बियोंको ईश्वरकी प्राप्ति हो ही नहीं सकती, उनके

लिये ईश्वरका द्वार बंद है। अधिकार न होनेके कारण जो लोग वैदिक मन्त्रोंका उच्चारण नहीं कर सकते अथवा जिनका वैदिक धर्ममें विश्वास नहीं है, वे लोग अपने-अपने ढंगकी प्रार्थनाके द्वारा ईश्वरकी प्रसन्नता प्राप्त कर सकते हैं और जिन्हें वैदिक सन्ध्या करनेका अधिकार प्राप्त है, वे लोग भी इस रूपमें प्रार्थना कर सकते हैं। परन्तु उन्हें सन्ध्याका परित्याग नहीं करना चाहिये। सन्ध्याके साथ-साथ वे ईश्वरको रिझानेके लिये चाहे जितने और साधन भी कर सकते हैं। ये सभी साधन एक दूसरेके सहायक ही हैं, विरोधी नहीं। सबका अपना-अपना अलग महत्त्व है, कोई किसीसे छोटा अथवा बड़ा नहीं कहा जा सकता।

यह ठीक है कि ईश्वरकी दृष्टिमें भाषाका कोई विशेष महत्त्व नहीं है और वैदिक भाषा भी अन्य भाषाओंकी भाँति अपने हार्दिक अभिप्रायको व्यक्त करनेका एक साधनमात्र है। परन्तु वैदिक धर्मावलम्बियोंकी धारणा इस सम्बन्धमें कुछ दूसरी ही है। उनकी दृष्टिमें वेद अपौरुषेय हैं, वे किसी मनुष्यके बनाये हुए नहीं हैं। वे साक्षात् ईश्वरके निःश्वास है, ईश्वरकी वाणी हैं, 'यस्य निःश्वसितं वेदाः' ऋषिलोग उनके द्रष्टामात्र हैं—'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः।' अनुभव करनेवाले हैं, रचयिता नहीं। सृष्टिके आदिमें भगवान् नारायण पहले-पहल ब्रह्माको उत्पन्न करते हैं और फिर उन्हें वेदोंका उपदेश देते हैं—

> यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
> यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै···
>
> (श्वेताश्वतर० ६।१८)

इसीलिये हम वैदिक धर्मावलम्बियोंके लिये वेद बड़े महत्त्वकी वस्तु हैं। वेद ही ईश्वरीय ज्ञानके अनादि स्रोत हैं। उन्हींसे सारा ज्ञान निकला है। धर्मका आधार भी वेद ही है। हमारे कर्तव्य-अकर्तव्य-के निर्णायक वेद ही हैं। सारे शास्त्र वेदके ही आधारको लेकर चलते हैं। स्मृति-आगम-पुराणादि शास्त्रोंकी प्रमाणता वेदमूलक ही है। जहाँ श्रुति और स्मृतिका परस्पर विरोध दृष्टिगोचर हो, वहाँ श्रुतिको ही बलवान् माना जाता है। तात्पर्य यह है कि वेद हमारे सर्वस्व हैं, वेद हमारे प्राण हैं, वेदोंपर ही हमारा जीवन अवलम्बित है, वेद ही हमारे आधारस्तम्भ हैं। वेदोंकी जितनी भी महिमा गायी जाय, थोड़ी है।

जिन वेदोंकी हमारे शास्त्रोंमें इतनी महिमा है, उन वेदोंके अङ्गभूत मन्त्रोंकी अन्य किसी भाषा अथवा अन्य किसी वाक्य-रचना-के साथ तुलना नहीं की जा सकती। भावोंको व्यक्त करनेके लिये भाषाकी सहायता आवश्यक होती है। भाषा और भावका परस्पर अविच्छेद्य सम्बन्ध है। हमारे शास्त्रोंने तो शब्दको भी अनादि, नित्य एवं ब्रह्मरूप ही माना है तथा वाच्य एवं वाचकका अभेद स्वीकार किया है। इसी प्रकार वैदिक मन्त्रोंका भी अपना एक विशेष महत्त्व है। उनमें एक विशेष शक्ति निहित है, जो उनके उच्चारणमात्रसे प्रकट हो जाती है, अर्थकी ओर लक्ष्य रखते हुए उच्चारण करनेपर तो वह और भी जल्दी आविर्भूत होती है। इसके अतिरिक्त अनादि-कालसे इतने असंख्य लोगोंने उनकी आवृत्ति एवं अनुष्ठान करके उन्हें जगाया है कि उन सबकी शक्ति भी उनके अन्दर संक्रान्त हो गयी है। ऐसी दशामें तोतेकी भाँति बिना समझे हुए भी उनका स्वरसहित

शुद्ध उच्चारण करनेका कम महत्त्व नहीं है; फिर अर्थको समझते हुए उनके भावमें भावित होकर श्रद्धा और प्रेमपूर्वक उनके उच्चारणका तो इतना अधिक महत्त्व है कि जिसका वर्णन नहीं हो सकता। वह तो सोनेमें सुगन्धका काम करता है । यही नहीं, वैदिक मन्त्रोंके उच्चारणका तो एक अलग शास्त्र ही है, उसकी तो एक-एक मात्रा और एक-एक स्वरका इतना महत्त्व है कि उसके उच्चारणमें जरा-सी भी त्रुटि हो जानेसे अभिप्रेत अर्थसे विपरीत अर्थका बोध हो सकता है । कहा भी है—

> एकः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा
> मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह ।

'वेदमन्त्रके एक शब्दका भी यदि ठीक प्रयोग न हुआ, उसके स्वर, मात्रा या अक्षरके उच्चारणमें त्रुटि हो गयी, तो उससे अभीष्ट अर्थका प्रतिपादन नहीं होता ।'

यही कारण है कि लाखों-करोड़ों वर्षोंसे वैदिक लोग परम्परासे पद, क्रम, घन और जटासहित वैदिक मन्त्रोंको सस्वर कण्ठस्थ करते आये हैं, और इस प्रकार उन्होंने वैदिक परम्परा और वैदिक साहित्यको जीवित रक्खा है। इसलिये वैदिक मन्त्रोंकी उपयोगिताके विषयमें शङ्का न करके द्विजातिमात्रको उपनयन-संस्कारके बाद सन्ध्याको अर्थसहित सीख लेना चाहिये और फिर कम-से-कम सायंकाल और प्रातःकाल दोनों सन्धियोंके समय श्रद्धा-प्रेम और विधिपूर्वक अनुष्ठान करना चाहिये। ऐसा करनेसे उन्हें बहुत जल्दी लाभ प्रतीत होगा और फिर वे इसे कभी छोड़ना न चाहेंगे ।

इसके अतिरिक्त द्विजातिमात्रको नित्य नियमपूर्वक सन्ध्या करने-

के लिये वेदोंकी स्पष्ट आज्ञा है, जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, उस आज्ञाका पालन करनेके लिये भी हमें सन्ध्योपासन नित्य करना चाहिये। क्योंकि वेद ईश्वरकी वाणी होनेके कारण हमारे लिये परम मान्य हैं, और उनकी आज्ञाकी अवहेलना करना हमारे लिये अत्यन्त हानिकर है। इस दृष्टिसे भी सन्ध्योपासन करना परमावश्यक है। पुराने जमानेमें तो लोग पूरा वेद या कम-से-कम अपनी शाखा पूरी कण्ठ किया करते थे और इसके लिये वेदोंकी स्पष्ट आज्ञा भी है—'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' वेदोंका अध्ययन अवश्य करना चाहिये। यदि हमलोग पूरा वेद अथवा पूरी शाखा कण्ठ नहीं कर सकते तो कम-से-कम सन्ध्यामात्र तो अवश्य कण्ठ कर लेनी चाहिये और उसका प्रतिदिन अनुष्ठान करना चाहिये, जिससे वैदिक संस्कृतिका लोप न हो और हमलोग अपने स्वरूप और धर्मकी रक्षा कर सकें। नियमपालन और सङ्गठनकी दृष्टिसे भी इसकी बड़ी आवश्यकता है। नहीं तो एक दिन हमलोग विजातीय संस्कारोंके प्रवाहमें बहकर अपना सब कुछ गँवा बैठेंगे और अन्य प्राचीन जातियोंकी भाँति हमारा भी नाममात्र शेष रह जायगा। वह दिन जल्दी न आवे, इसके लिये हमें सतर्क हो जाना चाहिये और यदि हम संसारमें जीवित रहना चाहते हैं तो हमें अपनी प्राचीन संस्कृतिकी रक्षाके लिये कटिबद्ध हो जाना चाहिये। भगवान् तो हमारे और हमारी संस्कृतिके सहायक हैं ही; अन्यथा इसपर ऐसे-ऐसे प्रबल आक्रमण हुए कि उनके आघातसे वह कभीकी नष्ट हो गयी होती।

सन्ध्याकी हमारे शास्त्रोंने बड़ी महिमा गायी है।

वेदोंमें कहा है—

'उद्यन्तमस्तं यन्तमादित्यमभिध्यायन् कुर्वन् ब्राह्मणो विद्वान् सकलं भद्रमश्नुते ।' (तै० आ० प्र० २ अ० २)

अर्थात् 'उदय और अस्त होते हुए सूर्यकी उपासना करनेवाला विद्वान् ब्राह्मण सब प्रकारके कल्याणको प्राप्त करता है।'

महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं—

निशायां वा दिवा वापि यदज्ञानकृतं भवेत् ।
त्रिकालसन्ध्याकरणात्तत्सर्वं हि प्रणश्यति ॥

(३ । ३०८)

'दिनमें या रात्रिके समय अनजानमें जो पाप बन जाता है वह सारा ही तीनों कालकी सन्ध्या करनेसे नष्ट हो जाता है।'

महर्षि कात्यायनका वचन है—

सन्ध्यालोपस्य चाकर्ता स्नानशीलश्च यः सदा ।
तं दोषा नोपसर्पन्ति गरुत्मन्तमिवोरगाः ॥

(११ । १६)

'जो प्रतिदिन स्नान करता है तथा कभी सन्ध्या-कर्मका लोप नहीं करता, दोष उसके पास भी नहीं फटकते—जैसे गरुड़जीके पास सर्प नहीं जाते ।'

समयकी गति सूर्यके द्वारा नियमित होती है। सूर्य भगवान् जब उदय होते हैं, तब दिनका प्रारम्भ तथा रात्रिका शेष होता है, इसको प्रातःकाल भी कहते हैं। जब वे आकाशके शिखरपर आरूढ़ होते हैं, उस समयको दिनका मध्य अथवा मध्याह्न कहते हैं

और जब वे अस्ताचलको जाते हैं, तब दिनका शेष एवं रात्रिका प्रारम्भ होता है। इसे सायङ्काल भी कहते हैं। ये तीन काल उपासनाके मुख्य काल माने गये हैं। यों तो जीवनका प्रत्येक क्षण उपासनामय होना चाहिये, परन्तु इन तीन कालोंमें तो भगवान्‌की उपासना नितान्त आवश्यक बतलायी गयी है। इन तीनों समयकी उपासनाका नाम ही क्रमशः प्रातःसन्ध्या, मध्याह्नसन्ध्या और सायंसन्ध्या है। प्रत्येक वस्तुकी तीन अवस्थाएँ होती हैं—उत्पत्ति, पूर्ण विकास और विनाश। जीवनकी भी तीन ही दशाएँ होती हैं—जन्म, पूर्ण युवावस्था और मृत्यु। हमें इन अवस्थाओंका स्मरण दिलानेके लिये तथा इस प्रकार हमारे अंदर संसारके प्रति वैराग्यकी भावना जाग्रत् करनेके लिये ही मानो सूर्य भगवान् प्रतिदिन उदय होने, उन्नतिके शिखरपर आरूढ़ होने और फिर अस्त होनेकी लीला करते हैं। भगवान्‌की इस त्रिविध लीलाके साथ ही हमारे शास्त्रोंने तीन कालकी उपासना जोड़ दी है।

भगवान् सूर्य परमात्मा नारायणके साक्षात् प्रतीक हैं, इसीलिये वे सूर्यनारायण कहलाते हैं। यही नहीं, सर्गके आदिमें भगवान् नारायण ही सूर्यरूपमें प्रकट होते हैं; इसीलिये पञ्चदेवोंमें सूर्यकी भी गणना है। यों भी वे भगवान्‌की प्रत्यक्ष विभूतियोंमें सर्वश्रेष्ठ, हमारे इस ब्रह्माण्डके केन्द्र, स्थूल कालके नियामक, तेजके महान् आकर, विश्वके पोषक एवं प्राणदाता तथा समस्त चराचर प्राणियोंके आधार हैं। वे प्रत्यक्ष दीखनेवाले सारे देवोंमें श्रेष्ठ हैं। इसीलिये सन्ध्यामें सूर्यरूपसे ही भगवान्‌की उपासना की जाती है। उनकी उपासनासे हमारे तेज, बल, आयु एवं नेत्रोंकी

ज्योतिकी वृद्धि होती है और मरनेके समय वे हमें अपने लोकमेंसे होकर भगवान्‌के परमधाममें ले जाते हैं। क्योंकि भगवान्‌के परमधामका रास्ता सूर्यलोकमेंसे होकर ही गया है। शास्त्रोंमें लिखा है कि योगी लोग तथा कर्तव्यरूपसे युद्धमें शत्रुके सम्मुख लड़ते हुए प्राण देनेवाले क्षत्रिय वीर सूर्यमण्डलको भेदकर भगवान्‌के धामको चले जाते हैं। हमारी आराधनासे प्रसन्न होकर भगवान् सूर्य यदि हमें भी उस लक्ष्यतक पहुँचा दें तो इसमें उनके लिये कौन बड़ी बात है। भगवान् अपने भक्तोंपर सदा ही अनुग्रह करते आये हैं। हम यदि जीवनभर नियमपूर्वक श्रद्धा एवं भक्तिके साथ निष्कामभावसे उनकी आराधना करेंगे, तो क्या वे मरते समय हमारी इतनी भी मदद नहीं करेंगे? अवश्य करेंगे। भक्तोंकी रक्षा करना तो भगवान्‌का विरद ही ठहरा। अतः जो लोग आदरपूर्वक तथा नियमसे बिना नागा तीनों समय अथवा कम-से-कम दो समय (प्रातःकाल एवं सायङ्काल) ही भगवान् सूर्यकी आराधना करते हैं, उन्हें विश्वास करना चाहिये कि उनका कल्याण निश्चित है और वे मरते समय भगवान् सूर्यकी कृपासे अवश्य परम गतिको प्राप्त होंगे।

इस प्रकार युक्तिसे भी भगवान् सूर्यकी उपासना हमारे लिये अत्यन्त कल्याणकारक, थोड़े परिश्रमके बदलेमें महान् फल देनेवाली अतएव अवश्यकर्तव्य है। अतः द्विजातिमात्रको चाहिये कि वे लोग नियमपूर्वक त्रिकालसन्ध्याके रूपमें भगवान् सूर्यकी उपासना किया करें और इस प्रकार लौकिक एवं पारमार्थिक दोनों प्रकारके लाभ उठावें। आशा है, सभी लोग इस सस्ते सौदेको

सहर्ष स्वीकार करेंगे, इसमें खर्च एक पैसेका भी नहीं है और समय भी बहुत कम लगता है, परन्तु इसका फल अत्यन्त महान् है। इसलिये सब लोगोंको श्रद्धा, प्रेम एवं लगनके साथ इस कर्मके अनुष्ठानमें लग जाना चाहिये। फिर सब प्रकारसे मङ्गल-ही-मङ्गल है।

जब कोई हमारे पूज्य महापुरुष हमारे नगरमें आते हैं और उसकी सूचना हमें पहलेसे मिली हुई रहती है तो हम उनका स्वागत करनेके लिये अर्घ्य, चन्दन, फूल, माला आदि पूजाकी सामग्री लेकर पहलेसे ही स्टेशनपर पहुँच जाते हैं, उत्सुकतापूर्वक उनकी बाट जोहते हैं और आते ही उनकी बड़ी आवभगत एवं प्रेमके साथ स्वागत करते हैं। हमारे इस व्यवहारसे उन आगन्तुक महापुरुषको बड़ी प्रसन्नता होती है और यदि हम निष्काम-भावसे अपना कर्तव्य समझकर उनका स्वागत करते हैं तो वे हमारे इस प्रेमके आभारी बन जाते हैं और चाहते हैं कि किस प्रकार बदलेमें वे भी हमारी कोई सेवा करें। हम यह भी देखते हैं कि कुछ लोग अपने पूज्य पुरुषके आगमनकी सूचना होनेपर भी उनके स्वागतके लिये समयपर स्टेशन नहीं पहुँच पाते और जब वे गाड़ीसे उतरकर प्लेटफार्मपर पहुँच जाते हैं तब दौड़े हुए आते हैं और देरके लिये क्षमा-याचना करते हुए उनकी पूजा करते हैं। और कुछ इतने आलसी होते हैं कि जब हमारे पूज्य पुरुष अपने डेरेपर पहुँच जाते हैं और अपने कार्यमें लग जाते हैं, तब वे धीरे-धीरे फुरसतसे अपना और सब काम निपटाकर आते हैं और उन आगन्तुक महानुभावकी पूजा करते हैं। वे महानुभाव तो तीनों

प्रकारके स्वागत करनेवालोंकी पूजासे प्रसन्न होते हैं और उनका उपकार मानते हैं, पूजा न करनेवालोंकी अपेक्षा देर-सबेर करनेवाले भी अच्छे हैं; किन्तु दर्जेका फरक तो रहता ही है। जो जितनी तत्परता, लगन, प्रेम एवं आदरबुद्धिसे पूजा करते हैं उनकी पूजा उतनी ही महत्त्वकी और मूल्यवान् होती है और पूजा ग्रहण करनेवालेको उससे उतनी ही प्रसन्नता होती है।

ऊपर जो बात आगन्तुक महापुरुषकी पूजाके सम्बन्धमें कही गयी है वही बात सन्ध्याके सम्बन्धमें भी समझनी चाहिये। भगवान् सूर्यनारायण प्रतिदिन सबेरे हमारे इस भूमण्डलपर महापुरुषकी भाँति पधारते हैं; उनसे बढ़कर हमारा पूज्यपात्र और कौन होगा। अतः हमें चाहिये कि हम ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर शौच-स्नानादिसे निवृत्त होकर शुद्ध वस्त्र पहनकर उनका स्वागत करनेके लिये उनके आगमनसे पूर्व ही तैयार हो जायँ और आते ही बड़े प्रेमसे चन्दन, पुष्प आदिसे युक्त शुद्ध ताजे जलसे उन्हें अर्घ्य प्रदान करें, उनकी स्तुति करें, जप करें। भगवान् सूर्यको तीन वार गायत्रीमन्त्रका उच्चारण करते हुए अर्घ्य प्रदान करना, गायत्रीमन्त्रका (जिसमें उन्हींकी परमात्मभावसे स्तुति की गयी है और उनसे बुद्धिको परमात्ममुखी करनेके लिये प्रार्थना की गयी है) जप करना और खड़े होकर उनका उपस्थान करना, स्तुति करना—यही सन्ध्योपासनके मुख्य अङ्ग हैं; शेष कर्म इन्हींके अङ्गभूत एवं सहायक हैं। जो लोग सूर्योदयके समय सन्ध्या करने बैठते हैं, वे एक प्रकारसे अतिथिके स्टेशनपर पहुँच जाते और गाड़ीसे उतर जानेपर उनकी पूजा करने दौड़ते हैं और जो लोग सूर्योदय हो जानेके बाद फुरसतसे अन्य आवश्यक कार्योंसे

निवृत्त होकर सन्ध्या करने बैठते हैं वे मानो अतिथिके अपने डेरे-पर पहुँच जानेपर धीरे-धीरे उनका स्वागत करने पहुँचते हैं।

जो लोग सन्ध्योपासन करते ही नहीं, उनकी अपेक्षा तो वे भी अच्छे हैं जो देर-सवेर, कुछ भी खानेके पूर्व सन्ध्या कर लेते हैं। उनके द्वारा कर्मका अनुष्ठान तो हो ही जाता है और इस प्रकार शास्त्रकी आज्ञाका निर्वाह हो जाता है। वे कर्मलोपके प्रायश्चित्तके भागी नहीं होते। उनकी अपेक्षा वे अच्छे हैं, जो प्रातः-कालमें तारोंके लुप्त हो जानेपर सन्ध्या प्रारम्भ करते हैं। और उनसे भी श्रेष्ठ वे हैं, जो उषाकालमें ही तारे रहते सन्ध्या करने बैठ जाते हैं, सूर्योदय होनेतक खड़े होकर गायत्री-मन्त्रका जप करते हैं और इस प्रकार अपने पूज्य आगन्तुक महापुरुषकी प्रतीक्षामें, उन्हींके चिन्तनमें उतना समय व्यतीत करते हैं और उनका पदार्पण—उनका दर्शन होते ही जप बंद कर उनकी स्तुति—उनका उपस्थान करते हैं।* इसी बातको लक्ष्यमें रखकर सन्ध्याके उत्तम, मध्यम और अधम—तीन भेद किये गये हैं।

> उत्तमा तारकोपेता मध्यमा लुप्ततारका।
> कनिष्ठा सूर्यसहिता प्रातःसन्ध्या त्रिधा स्मृता॥
>
> (देवीभागवत ११।१६।४)

प्रातःसन्ध्याके लिये जो बात कही गयी है, सायंसन्ध्याके लिये उससे विपरीत बात समझनी चाहिये। अर्थात् सायंसन्ध्या उत्तम

---

* पूर्वां सन्ध्यां सनक्षत्रामुपासीत यथाविधि।
गायत्रीमभ्यसेत्तावद् यावदादित्यदर्शनम्॥
(हारीतस्मृति ४।१८)

वह कहलाती है, जो सूर्यके रहते की जाय; मध्यम वह है, जो सूर्यास्त होनेपर की जाय और अधम वह है, जो तारोंके दिखायी देनेपर की जाय—

उत्तमा सूर्यसहिता मध्यमा लुप्तभास्करा।
कनिष्ठा तारकोपेता सायंसन्ध्या त्रिधा स्मृता॥

(देवीभागवत ११।१६।५)

कारण यह है कि अपने पूज्य पुरुषके विदा होते समय पहलेहीसे सब काम छोड़कर जो उनके साथ-साथ स्टेशन पहुँचता है उन्हें आरामसे गाड़ीपर बिठानेकी व्यवस्था कर देता है और गाड़ीके छूटनेपर हाथ जोड़े हुए प्लेटफार्मपर खड़ा-खड़ा प्रेमसे उनकी ओर ताकता रहता है और गाड़ीके आँखोंसे ओझल हो जानेपर ही स्टेशनसे लौटता है, वही मनुष्य उनका सबसे अधिक सम्मान करता है और प्रेमपात्र बनता है। जो मनुष्य ठीक गाड़ीके छूटनेके समय हाँफता हुआ स्टेशनपर पहुँचता है और चलते-चलते दूरसे अतिथिके दर्शन कर पाता है वह निश्चय ही अतिथिकी दृष्टिमें उतना प्रेमी नहीं ठहरता, यद्यपि उसके प्रेमसे भी महानुभाव अतिथि प्रसन्न ही होते हैं और उसके ऊपर प्रेमभरी दृष्टि रखते हैं। उससे भी नीचे दर्जेका प्रेमी वह समझा जाता है, जो अतिथिके चले जानेपर पीछेसे स्टेशन पहुँचता है और क्षमा-याचना करता है। महानुभाव अतिथि उसके भी आतिथ्यको मान लेते हैं और उसपर प्रसन्न ही होते हैं।

यहाँ यह नहीं मानना चाहिये कि भगवान् भी साधारण मनुष्यों-

की भाँति राग-द्वेषसे युक्त हैं, वे पूजा करनेवालेपर प्रसन्न होते हैं और न करनेवालोंपर नाराज होते हैं या उनका अहित करते हैं। भगवान्‌की सामान्य कृपा तो सबपर समानरूपसे रहती है। सूर्य-नारायण अपनी उपासना न करनेवालोंको भी उतना ही ताप एवं प्रकाश देते हैं, जितना वे उपासना करनेवालोंको देते हैं। उसमें न्यूनाधिकता नहीं होती। हाँ, जो लोग उनसे विशेष लाभ उठाना चाहते हैं, जन्म-मरणके चक्रसे छूटना चाहते हैं, उनके लिये तो उनकी उपासनाकी आवश्यकता है ही और उसमें आदर और प्रेमकी दृष्टिसे तारतम्य भी होता ही है। भगवान्‌ने गीतामें भी कहा है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥
(९।२९)

'मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है न प्रिय है, परन्तु जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ।'

ऊपरके विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि सन्ध्याके सम्बन्धमें पहली बात तो यह है कि उसे नित्य नियमपूर्वक किया जाय, कालका लोप हो जाय तो कोई बात नहीं; किन्तु कर्मका लोप न हो। इस प्रकार सन्ध्या करनेवाला भी न करनेवालेसे श्रेष्ठ है। दूसरी बात यह है कि जहाँतक सम्भव हो, तीनों कालकी सन्ध्या ठीक समयपर की जाय अर्थात् प्रातःसन्ध्या सूर्योदयसे पूर्व और सायं-सन्ध्या सूर्यास्तसे पूर्व की जाय और मध्याह्नसन्ध्या ठीक दोपहरके समय की जाय। समयकी पाबंदी रखनेसे नियमकी पाबंदी तो अपने-

आप हो जायगी। इसलिये इस प्रकार ठीक समयपर सन्ध्या करनेवाला पूर्वोक्तकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। तीसरी बात यह है कि तीनों कालकी अथवा दो कालकी सन्ध्या नियमपूर्वक और समयपर तो हो ही, साथ ही प्रेमपूर्वक एवं आदरभावसे हो तो और भी उत्तम है। किसी कार्यमें प्रेम और आदरबुद्धि होनेसे वह अपने-आप ठीक समयपर और नियमपूर्वक होने लगेगा। जो लोग इस प्रकार इन तीनों बातोंका ध्यान रखते हुए श्रद्धा-प्रेमपूर्वक भगवान् सूर्यनारायणकी जीवनभर उपासना करेंगे, उनकी मुक्ति निश्चित है।

महाभारतके आदिपर्वमें जरत्कारु ऋषिकी कथा आती है। वे बड़े भारी तपस्वी और मनस्वी थे। उन्होंने सर्पराज वासुकिकी बहिन अपने ही नामकी नागकन्यासे विवाह किया। विवाहके समय उन्होंने उस कन्यासे यह शर्त की थी कि यदि तुम मेरा कोई भी अप्रिय कार्य करोगी तो मैं उसी क्षण तुम्हारा परित्याग कर दूँगा। एक बारकी बात है, ऋषि अपनी धर्मपत्नीकी गोदमें सिर रक्खे हुए लेटे हुए थे कि उनकी आँख लग गयी। देखते-देखते सूर्यास्तका समय हो आया। किन्तु ऋषि जागे नहीं, वे निद्रामें थे। ऋषिपत्नीने सोचा कि ऋषिकी सायंसन्ध्याका समय हो गया; यदि इन्हें जगाती हूँ तो ये नाराज होकर मेरा परित्याग कर देंगे और यदि नहीं जगाती हूँ तो सन्ध्याकी वेला टल जाती है और ऋषिके धर्मका लोप हो जाता है। धर्मप्राणा ऋषिपत्नीने अन्तमें यही निर्णय किया कि पतिदेव मेरा परित्याग चाहे भले ही कर दें, परन्तु उनके धर्मकी रक्षा मुझे अवश्य करनी चाहिये। यही सोचकर उसने पतिको जगा दिया। ऋषिने अपनी इच्छाके विरुद्ध जगाये जानेपर रोष प्रकट किया और अपनी पूर्व

प्रतिज्ञाका स्मरण दिलाकर पत्नीको छोड़ देनेपर उतारू हो गये। जगानेका कारण बतानेपर ऋषिने कहा कि हे मुग्धे! तुमने इतने दिन मेरे साथ रहकर भी मेरे प्रभावको नहीं जाना। मैंने आजतक कभी सन्ध्याकी वेलाका अतिक्रमण नहीं किया। फिर क्या आज सूर्यभगवान् मेरा अर्घ्य लिये बिना ही अस्त हो सकते थे? कभी नहीं।

शक्तिरस्ति न वामोरु मयि सुप्ते विभावसोः ॥
अस्तं गन्तुं यथाकालमिति मे हृदि वर्तते ।*

(महा० आदि० ४७। २५-२६)

सच है, जिस भक्तकी उपासनामें इतनी दृढ़ निष्ठा होती है, सूर्यभगवान् उसकी इच्छाके विरुद्ध कोई कार्य कर नहीं सकते। इसीलिये भक्तोंके लिये भगवान्‌को अपने नियम भी तोड़ने पड़ते हैं।

अन्तमें हम गायत्रीके सम्बन्धमें कुछ निवेदन कर अपने लेखको समाप्त करते हैं। सन्ध्याका प्रधान अङ्ग गायत्री-जप ही है। गायत्रीको हमारे शास्त्रोंमें वेदमाता कहा है। गायत्रीकी महिमा चारों ही वेद गाते हैं। जो फल चारों वेदोंके अध्ययनसे होता है, वह एकमात्र व्याहृतिपूर्वक गायत्रीमन्त्रके जपसे हो सकता है†। इसीलिये गायत्री-जपकी शास्त्रोंमें बड़ी महिमा गायी गयी है। भगवान् मनु कहते हैं कि

---

* हे सुन्दरि! सूर्यमें इतनी शक्ति नहीं है कि मैं सोता रहूँ और वे नियत समयपर [मुझसे अर्घ्य लिये बिना ही] अस्त हो जायँ। मेरे हृदयमें ऐसा दृढ़ विश्वास है।

† एतदक्षरमेतां च जपन् व्याहृतिपूर्विकाम्।
सन्ध्ययोर्वेदविद् विप्रो वेदपुण्येन युज्यते ॥

(मनुस्मृति २। ७८)

'जो पुरुष प्रतिदिन आलस्यका त्याग करके तीन वर्षतक गायत्रीका जप करता है, वह मृत्युके बाद वायुरूप होता है और उसके बाद आकाशकी तरह व्यापक होकर परब्रह्मको प्राप्त करता है।'*

जप तीन प्रकारका कहा गया है—(१) वाचिक, (२) उपांशु एवं (३) मानसिक। एककी अपेक्षा दूसरेको उत्तरोत्तर अधिक लाभदायक माना गया है। अर्थात् वाचिककी अपेक्षा उपांशु और उपांशुकी अपेक्षा मानसिक जप अधिक लाभदायक है।† जप जितना अधिक हो, उतना ही विशेष लाभदायक होता है।

---

* योऽधीतेऽहन्यहन्येतास्त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान्॥
(२।८२)

† त्रिविधो जपयज्ञः स्यात्तस्य भेदं निबोधत॥
वाचिकश्च उपांशुश्च मानसस्त्रिविधः स्मृतः।
त्रयाणां जपयज्ञानां श्रेयः स्यादुत्तरोत्तरम्॥
यदुच्चनीचस्वरितैः स्पष्टशब्दवदक्षरैः।
शब्दमुच्चारयेद् वाचा जपयज्ञः स वाचिकः॥
शनैरुच्चारयेन्मन्त्रमीषदोष्ठौ प्रचालयेत्।
किञ्चिन्मन्त्रं स्वयं विद्यादुपांशुः स जपः स्मृतः॥
धिया यदक्षरश्रेण्या वर्णाद् वर्णं पदात् पदम्।
शब्दार्थचिन्तनं ध्यानं तदुक्तं मानसं जपः॥
सहस्रपरमां देवीं शतमध्यां दशावराम्।
गायत्रीं यो जपेन्नित्यं न स पापैर्हि लिप्यते॥
(नरसिंहपुराण ५८।७८—८२, ८६)

अर्थात् जप-यज्ञ तीन प्रकारका होता है, उसका भेद आप लोग सुनें—वाचिक, उपांशु और मानस—यहाँ तीन प्रकारका जप कहा गया है।

महाभारत, शान्तिपर्व (मोक्षधर्मपर्व) के १९९ वें तथा २००वें अध्यायोंमें गायत्रीकी महिमाका एक बड़ा सुन्दर उपाख्यान मिलता है। कौशिक गोत्रमें उत्पन्न हुआ पिप्पलादका पुत्र एक बड़ा तपस्वी धर्मनिष्ठ ब्राह्मण था। वह गायत्रीका जप किया करता था। लगातार एक हजार वर्षतक गायत्रीका जप कर चुकनेपर सावित्रीदेवीने उसको साक्षात् दर्शन देकर कहा कि मैं तुझपर प्रसन्न हूँ। परन्तु उस समय पिप्पलादका पुत्र जप कर रहा था। वह चुपचाप जप करनेमें लगा रहा और सावित्रीदेवीको कुछ भी उत्तर नहीं दिया। वेदमाता सावित्रीदेवी उसकी इस जपनिष्ठापर और भी अधिक प्रसन्न हुईं और उसके जपकी प्रशंसा करती वहीं खड़ी रहीं। जिनकी साधनमें ऐसी दृढ़ निष्ठा होती है कि साध्य चाहे भले ही छूट जाय परन्तु साधन नहीं छूटना चाहिये, उनसे साधन तो छूटता ही नहीं, साध्य भी श्रद्धा और प्रेमके कारण उनके पीछे-पीछे उनके इशारेपर नाचता रहता है। साधननिष्ठाकी ऐसी महिमा

इन तीनों जप-यज्ञोंमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं (अर्थात् वाचिक जपकी अपेक्षा उपांशु और उसकी अपेक्षा मानस जप श्रेष्ठ है)। जप करनेवाला पुरुष आवश्यकतानुसार ऊँचे-नीचे और समान स्वरोंमें बोले जानेवाले स्पष्ट शब्द-युक्त अक्षरोंद्वारा जो वाणीसे सुस्पष्ट शब्दोच्चारण करता है, वह वाचिक जप कहलाता है। इसी प्रकार जिस जपमें मन्त्रका उच्चारण बहुत धीरे-धीरे किया जाय, होठ कुछ-कुछ हिलते रहें और मन्त्रका शब्द कुछ-कुछ स्वयं ही सुने (दूसरा नहीं सुने) वह जप उपांशु कहलाता है। बुद्धिके द्वारा मन्त्राक्षरसमूहके प्रत्येक वर्ण, प्रत्येक पद और शब्दार्थका जो चिन्तन एवं ध्यान किया जाता है, वह 'मानस' जप कहलाता है। अधिक-से-अधिक एक हजार, साधारणतया एक सौ अथवा कम-से-कम दस बार जो द्विज गायत्री का जप करता है वह पापोंसे लिप्त नहीं होता।

है। जपकी संख्या पूरी होनेपर वह धर्मात्मा ब्राह्मण खड़ा हुआ और देवीके चरणोंमें गिरकर उनसे यह प्रार्थना करने लगा कि 'यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो कृपा करके मुझे यह वरदान दीजिये कि मेरा मन निरन्तर जपमें लगा रहे और जप करनेकी मेरी इच्छा उत्तरोत्तर बढ़ती रहे।' भगवती उस ब्राह्मणके निष्कामभावको देखकर बड़ी प्रसन्न हुईं और 'तथास्तु' कहकर अन्तर्धान हो गयीं।

ब्राह्मणने फिर जप प्रारम्भ कर दिया। देवताओंके सौ वर्ष और बीत गये। पुरश्चरणके समाप्त हो जानेपर साक्षात् धर्मने प्रसन्न होकर उस ब्राह्मणको दर्शन दिये और स्वर्गादि लोक माँगनेको कहा। परन्तु ब्राह्मणने धर्मको भी यही उत्तर दिया कि 'मुझे सनातन लोकोंसे क्या प्रयोजन है, मैं तो गायत्रीका जप करके आनन्द करूँगा। इतनेमें ही काल (आयुका परिणाम करनेवाला देवता), मृत्यु (प्राणोंका वियोग करनेवाला देवता) और यम (पुण्य-पापका फल देनेवाला देवता) भी उसकी तपस्याके प्रभावसे वहाँ आ पहुँचे। यम और कालने भी उसकी तपस्याकी बड़ी प्रशंसा की। उसी समय तीर्थयात्राके निमित्त निकले हुए राजा इक्ष्वाकु भी वहाँ आ पहुँचे। राजाने उस तपस्वी ब्राह्मणको बहुत-सा धन देना चाहा; परन्तु ब्राह्मणने कहा कि 'मैंने तो प्रवृत्ति-धर्मको त्यागकर निवृत्ति-धर्म अङ्गीकार किया है, अतः मुझे धनकी कोई आवश्यकता नहीं है। तुम्हीं कुछ चाहो तो मुझसे माँग सकते हो। मैं अपनी तपस्याके द्वारा तुम्हारा कौन-सा कार्य सिद्ध करूँ?' राजाने उस तपस्वी मुनिसे

उसके जपका फल माँग लिया। तपस्वी ब्राह्मण अपने जपका पूरा फल राजाको देनेके लिये तैयार हो गया, किन्तु राजा उसे स्वीकार करनेमें हिचकिचाने लगे। बड़ी देरतक दोनोंमें वाद-विवाद चलता रहा। ब्राह्मण सत्यकी दुहाई देकर राजाको माँगी हुई वस्तु स्वीकार करनेके लिये आग्रह करता था और राजा क्षत्रियत्वकी दुहाई देकर उसे लेनेमें धर्मकी हानि बतलाते थे। अन्तमें दोनोंमें यह समझौता हुआ कि ब्राह्मणके जपके फलको राजा ग्रहण कर लें और बदलेमें राजाके पुण्य-फलको ब्राह्मण स्वीकार कर ले। उनके इस निश्चयको जानकर विष्णु आदि देवता वहाँ उपस्थित हुए और दोनोंके कार्यकी सराहना करने लगे, आकाशसे पुष्पोंकी वर्षा होने लगी। अन्तमें ब्राह्मण और राजा दोनों योगके द्वारा समाधिमें स्थित हो गये। उस समय ब्राह्मणके ब्रह्मरन्ध्रमेंसे एक बड़ा भारी तेजका पुञ्ज निकला तथा सबके देखते-देखते स्वर्गकी ओर चला गया और वहाँसे ब्रह्मलोकमें प्रवेश कर गया। ब्रह्माने उस तेजका स्वागत किया और कहा कि अहा! जो फल योगियोंको मिलता है, वही जप करनेवालोंको भी मिलता है। इसके बाद ब्रह्माने उस तेजको नित्य आत्मा और ब्रह्मकी एकताका उपदेश दिया, तब उस तेजने ब्रह्माके मुखमें प्रवेश किया। और राजाने भी ब्राह्मणकी भाँति ब्रह्माके शरीरमें प्रवेश किया। इस प्रकार शास्त्रोंमें गायत्री-जपका महान् फल बतलाया गया है। अतः कल्याणकामियोंको चाहिये कि वे इस स्वल्प आयाससे साध्य होनेवाले सन्ध्या और गायत्रीरूप साधनके द्वारा शीघ्र-से-शीघ्र मुक्ति लाभ करें।

अवतारका सिद्धान्त

अवतारका अर्थ है अव्यक्तरूपसे व्यक्तरूपमें प्रादुर्भाव होना। यह बहुत ही अलौकिक एवं रहस्यकी बात है। इसलिये जो पुरुष भगवान्‌के इस अवतरित होनेके दिव्य रहस्यको जानते हैं वे भगवान्‌को प्राप्त हो जाते हैं (गीता ४।९)।

परम दयालु पूर्ण ब्रह्म परमात्मा सबपर अहैतुकी दया करके संसारके परम हितके लिये ही यहाँ अवतार लेते हैं। यानी जन्म धारण करते है। भगवान् इतने महान् हैं कि उनकी महिमा वर्णन करनेमें ब्रह्मादि देवता भी अपनेको असमर्थ समझते हैं। श्रीमद्भागवतमें श्रीब्रह्माजीने स्वयं कहा है—

सुरेष्वृषिष्वीश तथैव नृष्वपि
तिर्यक्षु यादस्स्वपि तेऽजनस्य।
जन्मासतां दुर्मदनिग्रहाय
प्रभो विधातः सदनुग्रहाय च ॥
को वेत्ति भूमन् भगवन् परात्मन्
योगेश्वरोतीर्भवतस्त्रिलोक्याम्।
क्व वा कथं वा कति वा कदेति
विस्तारयन् क्रीडसि योगमायाम् ॥

(१०।१४।२०-२१)

"हे जगन्नियन्ता प्रभो! हे विधातः! देवता, ऋषि, मनुष्य,

तिर्यक् और वैसे ही जलचरादि योनियोंमें आप अजन्माके जो अवतार होते हैं वे असत्पुरुषोंके मदका मथन और सत्पुरुषोंपर कृपा करनेके लिये ही होते हैं।

'हे भगवन्! आप सर्वव्यापक परमात्मा और योगेश्वर हैं; जिस समय आप अपनी योगमायाका विस्तार कर क्रीड़ा करते हैं उस समय त्रिलोकीमें ऐसा कौन है जो यह जान सके कि आपकी लीला कहाँ किस प्रकार कितनी और कब होती है ?'

वे ही भगवान् हमलोगोंके साथ क्रीड़ा करनेके लिये हमारे-जैसे बनकर हमारे इस भूमण्डलमें उतर आते हैं, इससे बढ़कर जीवों-पर भगवान्की और क्या कृपा होगी। वे तो कृपाके आकर हैं। कृपा करना उनका स्वभाव ही है। कृपा किये बिना उनसे रहा नहीं जाता। इसीलिये जब-जब भक्तोंपर विपत्ति आती है, पृथ्वी पापोंके भारसे दब जाती है, साधुपुरुष बुरी तरह सताये जाने लगते हैं और अत्याचारियोंके अत्याचार असह्य हो जाते हैं, तब-तब पृथ्वीका भार हरण करनेके लिये, भक्तोंको उबारनेके लिये, साधुओं-की रक्षा और दुष्टोंके अत्याचारोंका दमन करके संसारमें पुनः धर्मकी स्थापना करनेके लिये वे समय-समयपर इस पृथ्वीमण्डलपर अवतीर्ण हुआ करते हैं। भगवान् स्वयं गीताजीमें कहते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥
(४ । ६—८)

'मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी, तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी, अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ। हे भारत ! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपने रूपको रचता हूँ अर्थात् साकाररूपसे लोगोंके सम्मुख प्रकट होता हूँ। साधु पुरुषोंका उद्धार करनेके लिये पाप-कर्म करनेवालोंका विनाश करनेके लिये और धर्मकी अच्छी तरहसे स्थापना करनेके लिये मैं युग-युगमें प्रकट हुआ करता हूँ।'

यहाँ यह प्रश्न होता है कि 'भगवान् तो सर्वशक्तिमान् हैं, वे सब कुछ करनेमें समर्थ हैं, वे विना अवतार लिये ही अपनी शक्तिसे—अपने सङ्कल्पसे ही सब कुछ कर सकते हैं, फिर अवतार लेनेकी उन्हें क्या आवश्यकता है?' बात बिल्कुल ठीक है, भगवान् बिना अवतार लिये ही सब कुछ कर सकते थे और कर सकते हैं तथा करते भी हैं, परन्तु लोगोंपर विशेष दया करके अपने दर्शन, स्पर्श और भाषणादिके द्वारा सुगमतासे उन्हें उद्धारका सुअवसर देनेके लिये एवं अपने प्रेमी भक्तोंको अपनी दिव्य लीलाओंका आस्वादन करानेके लिये इस पृथ्वीपर साकाररूपसे प्रकट होते हैं। उन अवतारोंमें धारण किये हुए रूपका तथा उनके गुण, प्रभाव, नाम-माहात्म्य और दिव्यकर्मोंका श्रवण, कीर्तन और स्मरण करके सब लोग सहज ही संसार-समुद्रसे पार हो जाते हैं। यह काम बिना अवतारके नहीं हो सकता। इसीलिये भगवान् अवतार लेते हैं।

दूसरा प्रश्न यह होता है कि 'जो भगवान् निराकाररूपसे सर्वत्र व्याप्त हैं, वे अल्पकी भाँति किसी एक देशमें कैसे प्रकट हो सकते हैं और यदि होते हैं तो उतने कालके लिये अन्यत्र उनका अभाव हो जाता होगा अथवा उनकी शक्ति बहुत सीमित हो जाती होगी ? इस बातको समझनेके लिये हमें व्यापक अग्नि और प्रकट अग्निका दृष्टान्त लेना चाहिये। अग्नि निराकाररूपसे सर्वत्र व्याप्त है; इसीलिये उसे चकमक पत्थर तथा दियासलाई आदिसे चाहे जहाँ प्रकट किया जा सकता है। और जिस कालमें उसे एक जगह प्रकट किया जाता है उस कालमें अन्यत्र उसका अभाव नहीं हो जाता, बल्कि एक ही कालमें वह कई जगह प्रकट होती देखी जाती है। और जहाँ भी प्रकट होती है, उसमें पूरी शक्ति रहती है। इसी प्रकार भगवान् भी निराकाररूपसे सर्वत्र व्याप्त होते हुए ही किसी देशविशेषमें अपनी पूरी भगवत्ताके साथ प्रकट हो जाते हैं और उस समय उनका अन्यत्र अभाव नहीं हो जाता, बल्कि एक ही समयमें उनके कई स्थलोंपर प्रकट होनेकी बात भी शास्त्रोंमें कई जगह आती है। श्रीमद्भागवतमें वर्णन आता है कि एक बार भगवान् श्रीकृष्ण द्वारकासे मिथिलापुरी गये। वहाँके राजा बहुलाश्व भगवान्के अनन्य भक्त थे। वहींपर श्रुतदेव नामके एक ब्राह्मण भक्त भी रहते थे। दोनोंने एक ही साथ भगवान्से अपने-अपने घर पधारनेकी प्रार्थना की। दोनों ही भगवान्की भक्तिमें एक-से-एक बढ़कर थे। भगवान् दोनोंमेंसे किसीका भी जी नहीं तोड़ना चाहते थे। अतः उन्होंने दोनोंका ही मन रखनेके लिये एक-दूसरेको न जनाते हुए एक ही समय दो रूप धारण

करके एक साथ दोनोंके घर जाकर दोनोंको कृतार्थ किया।* एक और भी प्रसङ्ग श्रीमद्भागवतमें आता है। एक बारकी बात है, देवर्षि नारदजी यह देखनेके लिये कि भगवान् गृहस्थाश्रममें किस प्रकार रहते हैं, द्वारकामें पहुँचे। वे अलग-अलग सब रानियोंके महलोंमें गये और सभी जगह उन्होंने श्रीकृष्णको गृहस्थधर्मका यथायोग्य पालन करते हुए पाया। वे प्रातःकाल उठनेके समयसे लेकर रात्रिको सोनेके समयतकका समस्त दैनिक कृत्य अनेक रूपोंमें सब जगह विधिवत् करते थे। नारदजी यह सब देखकर दंग रह गये और भगवान्को प्रणाम करके उनकी स्तुति करते हुए (ब्रह्मलोकको) चले गये (देखिये भागवत १०। ६९। १३–४३)।

ब्रह्माजीके मोहके प्रसङ्गमें भी भगवान्के बछड़ों और गोपबालकोंका रूप धारण करने और सालभरतक इस प्रकार अनेक रूप होकर रहनेकी बात श्रीमद्भागवतमें आयी है (देखिये भागवत १०। १३)।

भगवान् श्रीरामके सम्बन्धमें भी यह वर्णन आता है कि जब भगवान् लंका-विजय कर चौदह वर्षकी अवधि शेष होनेपर अयोध्या लौटे, उस समय उन्होंने पुरवासियोंको मिलनेके लिये अत्यन्त आतुर देखकर असंख्य रूप धारण कर लिये और पलभरमें एक साथ सबसे मिल लिये।

---

* भगवांस्तदभिप्रेत्य द्वयोः प्रियचिकीर्षया।
उभयोराविशद् गेहमुभाभ्यां तदलक्षितः।
(भागवत १०। ८६। २६)

प्रेमातुर सब लोग निहारी । कौतुक कीन्ह कृपाल खरारी ।।
अमित रूप प्रगटे तेहि काला । जथाजोग मिले सबहि कृपाला ।।
छन महिं सबहि मिले भगवाना। उमा मरम यह काहुँ न जाना ।।

(रामचरित० उत्तर० ५ । २, ३, ४)

भगवान्‌के लिये यह कोई बड़ी बात भी नहीं कही जा सकती । जिन्होंने इस सारे विश्वको अपने सङ्कल्पके आधारपर टिका रक्खा है और जो एक होते हुए भी लीलासे अनेक बने हुए हैं, वे यदि इस प्रकार एक ही समयमें एकसे अधिक रूप धारण कर लें; तो इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। यह कार्य तो एक योगी भी कर सकता है । फिर भगवान् तो योगेश्वरोंके भी ईश्वर तथा मायाके अधिपति ठहरे; उनके लिये ऐसा करना कौन कठिन काम है ।

अब प्रश्न यह होता है कि 'क्या भगवान्‌का अवतार हम-लोगोंके जन्मकी भाँति कर्मोंसे प्रेरित होता है ? क्या उनका शरीर भी हमलोगोंकी भाँति पञ्चभूतोंसे बना हुआ मायिक होता है ?' इसका उत्तर यह है कि भगवान्‌के अवतारमें इनमेंसे एक भी बात नहीं होती। भगवान्‌का अवतार न तो कर्मसे प्रेरित होकर होता है, न उनका शरीर पाञ्चभौतिक अथवा मायिक होता है। उनका जन्म और उनके कर्म दोनों ही दिव्य—अलौकिक होते हैं। उनका अवतार कर्मसे प्रेरित तो इसलिये नहीं होता कि वे काल और कर्मसे सर्वथा परे हैं । कर्मकी स्थिति तो मायाके अंदर है और वे मायासे सर्वथा अतीत हैं । अतः कर्म उनका स्पर्श भी नहीं कर सकते। वे स्वयं गीतामें कहते हैं—

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥

(४ । १४)

'कर्मोंके फलमें मेरी स्पृहा नहीं है, इसलिये मुझे कर्म लिप्त नहीं करते—इस प्रकार जो मुझे तत्त्वसे जान लेता है, वह भी कर्मोंसे नहीं बँधता ।' जब उन्हें तत्त्वसे जाननेवाला भी कर्मोंसे नहीं बँधता तब उनके कर्मोंके वश होकर जन्म लेनेकी तो बात भी नहीं उठ सकती । वे तो अपनी इच्छासे भक्तोंपर अनुग्रह करनेके लिये शरीर धारण करते हैं। यह बात जेलके दृष्टान्तसे भली-भाँति समझमें आ सकती है। जेलके अंदर कैदी भी रहते हैं, जेलके कर्मचारी भी रहते हैं और जेलके अफसर—जेलर भी रहते हैं तथा कभी-कभी जेलके मालिक स्वयं राजा भी जेलके अहातेके अंदर जेलका निरीक्षण करने एवं कैदियोंपर अनुग्रह करनेके लिये तथा उन्हें जेलसे मुक्त करनेके लिये चले जाया करते हैं । परन्तु उनके जानेमें और कैदियोंके जानेमें बड़ा अन्तर है। कैदी जाता है वहाँ राजाज्ञाके अनुसार सजा भोगनेके लिये । नियत अवधितक उसे बाध्य होकर वहाँ रहना पड़ता है, अपनी इच्छासे वह वहाँ नहीं रहता । परन्तु राजा वहाँ अपनी स्वतन्त्र इच्छासे जाता है, सजा भोगनेके लिये नहीं; और जबतक उसकी इच्छा होती है, तबतक वहाँ रहता है । इसी प्रकार भगवान् भी प्रकृतिको वशमें करके अपनी स्वतन्त्र इच्छासे जन्म लेते हैं । और लीला-कार्य समाप्त हो जानेपर पुनः बेरोक-टोक अपने धामको वापस चले आते हैं ।

भगवान्‌का अवतारविग्रह भी हमलोगोंके शरीरकी भाँति पञ्च-

भूतोंसे बना हुआ मायिक नहीं होता, अपितु चिन्मय—सच्चिदानन्दमय होता है; इसलिये वह अनामय और दिव्य है। इस विषयमें दूसरी बात ध्यान देनेयोग्य यह है कि भगवान्‌का जन्म साधारण मनुष्योंकी भाँति नहीं होता। भगवान् श्रीकृष्ण जब कारागारमें वसुदेव-देवकीके सामने प्रकट हुए, उस समयका श्रीमद्भागवतका प्रसङ्ग देखने और विचारनेसे मनुष्य समझ सकता है कि उनका जन्म साधारण मनुष्योंकी भाँति नहीं हुआ। अव्यक्त सच्चिदानन्दघन परमात्मा अपनी लीलासे ही शङ्ख, चक्र, गदा, पद्मसहित विष्णुके रूपमें वहाँ प्रकट हुए। उनका प्रकट होना और पुनः अन्तर्धान होना उनकी स्वतन्त्र लीला है, वह हमलोगोंके उत्पत्ति-विनाशकी तरह नहीं है। भगवान्‌की तो बात ही निराली है, एक योगी भी अपने योगबलसे अन्तर्धान हो जाता है और पुनः उसी रूपमें प्रकट हो जाता है; परन्तु उसकी अन्तर्धानकी अवस्थामें कोई उसे मरा नहीं समझता। जब महर्षि पतञ्जलि आदि योगके ज्ञाता एक योगीकी ऐसी शक्ति बतलाते हैं* तब परमात्मा ईश्वरके लिये अन्तर्धान हो जाना और पुनः प्रकट होना कौन बड़ी बात है। अवश्य ही भगवान् श्रीकृष्णका अवतरण साधारण लोगोंकी दृष्टिमें जन्म लेनेके सदृश ही था; परन्तु वास्तवमें वह जन्म नहीं था, वह तो उनका प्रकट होना ही था। इसीलिये तो उन्होंने माता

---

* महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

कायरूपसंयमात्तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुःप्रकाशासंप्रयोगेऽन्तर्धानम्।

(योग० ३। २१)

देवकीकी प्रार्थनापर अपने चतुर्भुजरूपको अदृश्य करके द्विभुज बालकका रूप धारण कर लिया।*

गीताके ग्यारहवें अध्यायमें भी वर्णन आता है कि भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके प्रार्थना करनेपर पहले उसे अपना विश्वरूप दिखलाया, फिर उसीकी प्रार्थनापर चतुर्भुजरूप धारण किया और अन्तमें पुनः द्विभुज मनुष्यरूप हो गये।

भगवान् श्रीरामके भी इसी प्रकार चतुर्भुजरूपमें ही माता कौसल्याके सामने प्रकट होने और फिर उनकी प्रार्थनापर द्विभुज बालकके रूपमें बदल जानेकी बात मानसमें आती है। इससे प्रकट होता है कि भगवान् अपने भक्तोंकी इच्छाके अनुसार उन्हें दर्शन देकर अन्तर्धान हो जाते हैं।

मनुष्योंके शरीरके विनाशकी तरह भगवान्‌के दिव्य वपुका विनाश भी नहीं समझना चाहिये। जिस शरीरका विनाश होता है, वह तो यहीं पड़ा रहता है; किन्तु देवकीके सामने चतुर्भुजरूपके और अर्जुनके सामने विश्वरूप तथा चतुर्भुजरूपके अदृश्य हो जानेपर उन वपुओंकी वहाँ उपलब्धि नहीं होतीं। इतना ही नहीं, भगवान् श्रीकृष्णने जिस देहसे यहाँ लोकहितके लिये विविध लीलाएँ की थीं, वह देह भी अन्तमें नहीं मिला। वे उसी लीलामय दिव्यवपुसे

---

* इत्युक्त्वासीद्धरिस्तूष्णीं भगवानात्ममायया।
पित्रोः सम्पश्यतोः सद्यो बभूव प्राकृतः शिशुः॥

(श्रीमद्भा० १०। ३। ४७)

'यह कहकर भगवान् हरि चुप हो गये और माता-पिताके देखते-देखते अपनी मायासे तुरंत ही एक साधारण बालक बन गये।'

परमधामको पधार गये। इसके बाद भी जब-जब भक्तोंने इच्छा की तब-तब ही उसी श्यामसुन्दर-विग्रहसे पुनः प्रकट होकर उन्हें दर्शन देकर कृतार्थ किया और करते हैं। यदि उनके देहका विनाश हो गया होता, तो (परमधाम पधारनेके अनन्तर) इस प्रकार पुनः प्रकट होना कैसे सम्भव होता।

इससे यह बात सिद्ध हुई कि भगवान्‌का परमधाम-प्रयाण अन्तर्धान होना है, न कि मनुष्य-देहोंकी भाँति विनाश होना। श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

> लोकाभिरामां स्वतनुं धारणाध्यानमङ्गलम्।
> योगधारणयाग्नेय्यादग्ध्वा धामाविशत् स्वकम्॥
> (११। ३१। ६)

'धारणा और ध्यानके लिये अति मङ्गलरूप अपनी लोकाभिरामा मोहिनी मूर्तिको योग-धारणाजनित अग्निके द्वारा भस्म किये बिना ही भगवान्‌ने अपने धाममें प्रवेश किया।'

श्रीरामके सम्बन्धमें भी वाल्मीकीय रामायणमें वर्णन आता है कि भगवान्‌के परमधाम-गमनके समय सब लोकोंके पितामह ब्रह्माजी भगवान्‌को लेनेके लिये देवताओंके साथ सरयूके तटपर आये और भगवान्‌से अपने वैष्णव-देहमें प्रवेश करनेकी प्रार्थना की और भगवान्‌ने उनकी प्रार्थनाको स्वीकार कर तीनों भाइयोंसहित अपने इसी शरीरसे विष्णुशरीरमें प्रवेश किया।*

---

* अथ तस्मिन् मुहूर्ते तु ब्रह्मा लोकपितामहः।
सर्वैः परिवृतो देवैर्भूषितैश्च महात्मभिः॥
ततः पितामहो वाणीं त्वन्तरिक्षादभाषत।
आगच्छ विष्णो भद्रं ते दिष्ट्या प्राप्तोऽसि राघव॥

भगवान्‌का शरीर मायिक नहीं होता—इसका एक प्रमाण यह भी है कि मायाके बन्धनसे सर्वथा मुक्त आत्माराम मुनिगण भी उनके त्रिभुवनमोहन रूपको देखकर मुग्ध हो जाते हैं, शरीरकी सुध-बुध भूल जाते हैं। यदि वह शरीर मायासे रचित त्रिगुणमय होता तो गुणोंसे सर्वथा ऊपर उठे हुए आत्माराम, आप्तकाम मुनियोंकी ऐसी दशा कैसे हो सकती थी।

जिस समय शरशय्यापर पड़े हुए भीष्मपितामह मृत्युके समयकी प्रतीक्षा कर रहे हैं, उस समय भगवान् श्रीकृष्णको अपने सम्मुख आया हुआ जान वे सबसे पहले उनके त्रिभुवनकमनीय रूपका ही ध्यान करते हैं और उसीमें प्रीति होनेकी प्रार्थना करते हैं।* यदि वह रूप मायिक होता तो भीष्म-जैसे ज्ञानी महात्मा, जिन्होंने सब ओरसे अपनी चित्तवृत्तियोंको हटा लिया था और जिनका सारा जीवन परमवैराग्यमय था, मृत्युके समय उसमें अपने मनको क्यों लगाते?

भ्रातृभिः सह देवाभैः प्रविशस्व स्विकां तनुम्।
पितामहवचः श्रुत्वा विनिश्चित्य महामतिः।
विवेश वैष्णवं तेजः सशरीरः सहानुजः॥
(वा० उत्तर० ११०। ३, ८, ९, १२)

* त्रिभुवनकमनं तमालवर्णं रविकरगौरवराम्बरं दधाने।
वपुरलककुलावृताननाब्जं विजयसखे रतिरस्तु मेऽनवद्या॥
(श्रीमद्भा० १। ९। ३३)

जो त्रिभुवनसुन्दर और तमालवृक्षके सदृश श्यामवर्ण है, सूर्यरश्मियोंके समान पीताम्बर धारण किये है तथा जिसका मुखकमल अलकावलीसे आवृत है—ऐसे सुन्दर रूपको धारण करनेवाले अर्जुनसखा श्रीकृष्णमें मेरी निष्काम प्रीति हो।

श्रीराम-लक्ष्मण जब महर्षि विश्वामित्रके साथ धनुषयज्ञ देखने जनकपुर जाते हैं तो जनक-जैसे महान् ज्ञानीकी उस अनुपम जोड़ीको देखकर जो दशा होती है, उसका चित्र गोस्वामी तुलसीदासजीने अपनी लेखनीद्वारा बड़ी मार्मिकतासे चित्रित किया है। उस प्रसङ्गको उन्हींके शब्दोंमें हम नीचे उद्धृत करते हैं—

मूरति मधुर मनोहर देखी। भयउ बिदेहु बिदेहु बिसेषी।
प्रेम मगन मनु जानि नृपु करि बिबेकु धरि धीर।
बोलेउ मुनि पद नाइ सिरु गदगद गिरा गभीर॥
सहज बिराग रूप मनु मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा॥
इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्म सुखहि मन त्यागा।
पुनि पुनि प्रभुहि चितव नरनाहू। पुलक गात उर अधिक उछाहू।

(रामचरित० बाल०)

रामजीकी मधुर मनोहर मूर्तिको देखकर विदेह (जनक) विशेषरूपसे विदेह (देहकी सुध-बुधसे रहित) हो गये। मनको प्रेममें मग्न जान राजाने विवेकके द्वारा धीरज धारण किया और मुनिके चरणोंमें सिर नवाकर गद्गद (प्रेमभरी) गम्भीर वाणीसे कहा—'हे नाथ! 'मेरा मन' जो स्वभावसे ही वैराग्य-रूप बना हुआ है, इन बालकोंको देखकर इस तरह मुग्ध हो रहा है जैसे चन्द्रमाको देखकर चकोर। इनको देखते ही अत्यन्त प्रेमके वश होकर मेरे मनने जबर्दस्ती ब्रह्मानन्दको त्याग दिया है।' राजा बार-बार प्रभुको देखते हैं, दृष्टि वहाँसे हटना ही नहीं चाहती। प्रेमसे शरीर पुलकित हो रहा है और हृदयमें बड़ा उत्साह है।

ऊपरके विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि अवतार-शरीर मायिक नहीं होता, अवतारोंके जन्म-कर्म अलौकिक होते हैं 'जन्म कर्म च मे दिव्यम्' (गीता ४ । ९) और वे भक्तोंके प्रेमवश उन पर कृपा करनेके लिये स्वेच्छासे प्रकट होते हैं, कर्मोंके वश होकर नहीं। अब हमें यह देखना है कि अवतारोंकी सत्ता किन-किन शास्त्रोंसे प्रमाणित होती है। श्रीमद्भागवत, गीता, वाल्मीकिरामायण तथा तुलसीकृत रामायणके प्रमाण तो ऊपर उद्धृत किये हैं; अब हम उपनिषद् तथा महाभारत आदि ग्रन्थोंके आधारपर भी भगवान्का प्रादुर्भाव होना प्रमाणित करते हैं।

केनोपनिषद्में एक बड़ी सुन्दर कथा आती है। एक बारकी बात है, परब्रह्म परमात्माने देवताओंको असुरोंके साथ संग्राममें जिता दिया। देवताओंको इस विजयपर बड़ा भारी गर्व हो गया। उन्होंने सोचा कि यह विजय हमोंने अपने पुरुषार्थसे प्राप्त की है। यही हालत सब जीवोंकी है। वास्तवमें करते-कराते सब कुछ भगवान् हैं, परन्तु जीव अभिमानवश अपनेको कर्ता मान लेता है और फंस जाता है। भगवान् तो सर्वज्ञ ठहरे और ठहरे दर्पहारी। देवताओंके अभिप्रायको जान गये और उनके अभिमानको दूर करनेके लिये एक अद्भुत यक्षके रूपमें उनके सामने प्रकट हुए। देवतालोग मायासे मोहित हुए समझ नहीं सके कि यह यक्ष कौन है। भगवान् यदि अपनेको छिपाना चाहें तो किसकी शक्ति है जो उन्हें पहचान सके। वे स्वयं ही जब कृपा करके जिसको अपनी पहचान कराते हैं वही उन्हें पहचान पाता है, दूसरा नहीं—'सो जानइ जेहि देहु जनाई।' उस महामायावीने अपनेको ऐसे कौशलसे इस मायारूपी पर्देके भीतर

छिपा रक्खा है कि उसे सहसा कोई पहचान ही नहीं सकता। भगवान्‌ने स्वयं गीतामें कहा है—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः। (७।२५)

'अपनी योगमायासे छिपा हुआ मैं सबके प्रत्यक्ष नहीं होता हूँ।' इन्द्रने यक्षका पता लगानेके लिये क्रमशः अग्नि, वायुको उनके पास भेजा। यह बतलानेके लिये कि सारे देवता उन्हींकी शक्तिसे काम करते हैं, देवताओंके पास जो कुछ भी शक्ति है वह उन्हींकी दी हुई है और उनकी शक्तिके बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। ब्रह्मने एक तिनका अग्निदेवताके सामने रक्खा और कहा कि 'इसको जलाओ तो।' अग्निदेवता, जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको जला डालनेका अभिमान रखते थे—अपनी पूरी शक्ति लगाकर भी उस छोटे-से तिनके-को नहीं जला सके और लज्जित होकर वापस चले आये। इसके बाद वायुदेवताकी बारी आयी। उन्हें अभिमान था कि मैं पृथ्वीभर-के पदार्थोंको उड़ा ले जा सकता हूँ, परन्तु वे भी एक तिनकेको नहीं हटा सके। हटा सकते भी कैसे? उनकी सारी शक्ति तो ब्रह्मने छीन ली थी, जो उस शक्तिका उद्गमस्थान है। फिर उनके अंदर रह ही क्या गया था, जिसके बलपर वे कोई कार्य करते। भगवान्‌के भक्तोंके सामने भी अग्नि आदि देवताओंकी शक्ति कुण्ठित हो जाती है। एक बार भक्त प्रह्लादके सामने भी अग्निका कोई बस नहीं चला था, वह उस भक्तके प्रभावसे जलकी तरह शीतल हो गया—'पावकोऽपि सलिलायतेऽधुना।' भक्त सुधन्वाके लिये उबलता हुआ तेल ठंडा हो गया था। अस्तु,

अबकी बार देवराज इन्द्र स्वयं यक्षके पास पहुँचे। उन्हें देखते ही यक्ष अन्तर्धान हो गये। इतनेहीमें हैमवती उमादेवी (पार्वती)

वहाँ प्रकट हुईं और उन्होंने इन्द्रको बतलाया कि जो यक्ष अभी तुम्हारे नेत्रोंसे ओझल हो गया, वह ब्रह्म ही था। अब इन्द्रकी आँखें खुलीं और वे समझ गये कि हमलोगोंका अभिमान करनेके लिये ही ब्रह्मने यह लीला की थी। (केन० खं० इस प्रकार ब्रह्मके साकार रूपमें प्रकट होनेकी बात उपनिषदोंमें आती है; केवल पुराणादि ग्रन्थोंमें ही भगवान्‌के साकार विग्रह बात आयी हो इतनी ही बात नहीं है। गीताके अतिरिक्त महाभारत और भी अवतारवादके पोषक कई प्रसङ्ग हैं। उनमेंसे एकाध प्रसङ्गका उल्लेख हम यहाँ करते हैं। महाभारत-युद्धकी समाप्ति बाद जब भगवान् श्रीकृष्ण द्वारकाको लौट रहे थे, रास्तेमें उनकी महातेजस्वी उत्तङ्क मुनिसे भेंट हुई। बातों-ही-बातोंमें जब मुनि मालूम हुआ कि श्रीकृष्ण कौरवों और पाण्डवोंके बीच सन्धि नहीं करा सके और दोनोंमें घमासान युद्ध हुआ, जिसमें सारे कौरव मारे गये, तो उन्हें श्रीकृष्णपर बड़ा क्रोध आया। उन्होंने कहा कि कृष्ण! कौरव तुम्हारे सम्बन्धी थे, तुम चाहते तो युद्धको रोक सकते थे और इस प्रकार उनकी रक्षा कर सकते थे। परन्तु शक्ति रहते भी तुमने उनकी रक्षा नहीं की, इसलिये मैं तुम्हें शाप दूंगा। मुनिके इन क्रोधभरे वचनोंको सुनकर श्रीकृष्ण मन-ही-मन हँसे और बोले कि 'कोई भी पुरुष तप करके मेरा पराभव नहीं कर सकता। मैं नहीं चाहता कि तुम्हारे तपका व्यर्थ ही नाश हो। अतः तुम पहले जान लो कि मैं कौन हूँ, पीछे शाप देनेकी बात सोचना।' यों कहकर भगवान्‌ने मुनिके सामने अपनी महिमा वर्णन करना प्रारम्भ किया। वे कहने लगे—'हे मुनिश्रेष्ठ! सत्त्व, रज, तम—

ये तीनों गुण मेरे आश्रय रहते हैं तथा रुद्र और वसुओंको भी तुम मुझसे ही उत्पन्न हुआ जानो। सारे भूत मुझमें हैं और मैं सब भूतोंके अंदर स्थित हूँ, इसे तुम निश्चय समझो। दैत्य, सर्प, गन्धर्व, राक्षस, नाग और अप्सराओंको भी मुझीसे उत्पन्न हुआ जानो। लोग जिसे सत्-असत्, व्यक्त-अव्यक्त तथा क्षर-अक्षर नामसे पुकारते हैं वह सब मेरा ही रूप है। चारों आश्रमोंके जो धर्म कहे गये हैं तथा वैदिक कर्म भी मेरा ही रूप है, ओङ्कारसे आरम्भ होनेवाले वेद, हवनकी सामग्री, हवन करनेवाले होता तथा अध्वर्यु—ये सब मुझे ही जानो। उद्गाता सामगानके द्वारा मेरा ही स्तवन करते हैं। प्रायश्चित्तोंमें शान्तिपाठ और मङ्गलपाठ करनेवाले भी मेरी ही स्तुति करते हैं। धर्मकी रक्षाके लिये और धर्मकी स्थापनाके लिये मैं बहुत-सी योनियोंमें अवतार ग्रहण करता हूँ। मैं ही विष्णु हूँ, मैं ही ब्रह्मा हूँ, मैं ही उत्पत्ति और प्रलयरूप हूँ। सम्पूर्ण भूतोंको रचनेवाला और संहार करनेवाला मैं ही हूँ। जब-जब युग पलटता है, तब-तब मैं प्रजाजनोंके हितकी कामनासे भिन्न-भिन्न योनियोंमें जन्म धारण कर धर्मकी मर्यादा स्थापित करता हूँ। जब मैं देवयोनि ग्रहण करता हूँ, तब देवताओंका-सा बर्ताव करता हूँ; जब मैं गन्धर्व-योनिमें लीला करता हूँ, तब गन्धर्वोंका-सा व्यवहार करता हूँ; जब मैं नाग-योनिमें होता हूँ तो नागोंकी भाँति आचरण करता हूँ और जब मैं यक्ष आदि योनियोंमें स्थित होता हूँ; तब मैं उन-उन योनियोंका-सा बर्ताव करता हूँ। इस समय मैं मनुष्य-योनिमें हूँ और मनुष्योंका-सा आचरण करता हूँ। इसीलिये मैंने कौरवोंके पास जाकर उनसे सन्धिके लिये बड़ी अनुनय-विनय की; परन्तु मोहसे अन्धे हुए उन्होंने मेरी एक भी

बात नहीं मानी। मैंने भय दिखाकर भी उन्हें मार्गपर लानेकी चेष्टा की; परन्तु अधर्मसे अभिभूत हुए और कालचक्रमें फँसे हुए वे माने नहीं और अन्तमें युद्ध करके मारे गये।' भगवान्‌के इन वचनोंको सुनकर मुनिकी आँखें खुल गयीं। फिर मुनिकी प्रार्थनापर भगवान् श्रीकृष्ण-ने उन्हें अपना विराट् रूप दिखलाया—वैसा ही जैसा अर्जुनको दिखलाया था। (देखिये महाभारत, अश्वमेधपर्व अ० ५३—५५)

ऊपरके प्रसङ्गसे अवतारवादकी भली भाँति पुष्टि होती है। केवल मनुष्य-योनिमें ही नहीं, अन्यान्य योनियोंमें भी भगवान् अवतार लेते हैं—यह बात भी इससे प्रमाणित हो जाती है। क्योंकि सभी योनियाँ उन्हींकी तो हैं। सभी रूपोंमें वे ही लीला कर रहे हैं। भगवान्‌के मत्स्य, कूर्म, वाराह, नरसिंह, वामनादि अवतार इसी प्रकारके अवतार थे जिनका पुराणोंमें विस्तृत वर्णन पाया जाता है। जिनकी चर्चा करनेसे लेखका आकार बहुत बढ़ जायगा। इसी-लिये यहाँ केवल भगवान् श्रीराम और भगवान् श्रीकृष्ण इन दो प्रधान अवतारोंकी बात ही मुख्यतासे कही गयी है।

इनके अतिरिक्त भगवान्‌का एक अवतार और होता है। इसे अर्चावतार कहते हैं। पूजाके लिये भगवान्‌की धातु, पाषाण एवं मृत्तिका आदिसे जो प्रतिमाएँ बनायी जाती हैं, वे भगवान्‌के अर्चा-विग्रह कहलाती हैं। कभी-कभी उपासकके प्रेमबल और दृढ़ निष्ठा-से ये मूर्तियाँ चेतन हो जाती हैं, चलने-फिरने लग जाती हैं, हँसने-बोलने लग जाती हैं। इन अर्चा-विग्रहोंमें भगवान्‌की शक्तिके उतर आनेको अर्चावतार कहते हैं। ऐसे अनेक भक्तोंके चरित्रोंका उल्लेख मिलता है, जिनकी इष्ट मूर्तियाँ उनके साथ चेतनवत् व्यवहार करती थीं। इनमेंसे किसी भी अवतारका आश्रय लेकर भगवान्‌की भक्ति

करनेसे उनकी कृपासे उनके चरणोंमें सहजहीमें दृढ़ अनुराग होकर मनुष्य सदाके लिये कृतकृत्य हो जाता है। यही मनुष्य-जीवनका परम ध्येय है।

अवतारके सिद्धान्तको भिन्न-भिन्न द्वैतसम्प्रदायोंके आचार्योंने तो माना ही है (उनमेंसे कई तो भगवान् श्रीरामके और कई भगवान् श्रीकृष्णके अवतार-विग्रहोंको ही अपना उपास्य एवं सर्वोपरि अवतारी मानते हैं)। अद्वैत-सम्प्रदायाचार्य स्वामी श्रीशङ्कराचार्यजीने भी अपने श्रीमद्भगवद्गीता-भाष्यके उपोद्घातमें भगवान् श्रीकृष्णको आदिपुरुष भगवान् नारायणका अवतार माना है, वे कहते हैं—

दीर्घेण कालेन अनुष्ठातृणां कामोद्भवाद् हीयमान-विवेकविज्ञानहेतुकेन अधर्मेण अभिभूयमाने धर्मे प्रवर्धमाने च अधर्मे, जगतः स्थितिं परिपिपालयिषुः स आदिकर्ता नारायणाख्यो विष्णुः—भौमस्य ब्रह्मणो ब्राह्मणत्वस्य रक्षणार्थं देवक्यां वसुदेवाद् अंशेन कृष्णः किल संबभूव। ब्राह्मणत्वस्य हि रक्षणेन रक्षितः स्याद् वैदिको धर्मस्तदधीनत्वाद् वर्णाश्रमभेदानाम्। स च भगवान् ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजोभिस्सदासम्पन्नस्त्रिगुणात्मिकां वैष्णवीं स्वां मायां मूलप्रकृतिं वशीकृत्य अजः अव्ययो भूतानामीश्वरो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावोऽपि सन् स्वमायया देहवान् इव जात इव च लोकानुग्रहं कुर्वन्निव लक्ष्यते।

'बहुत कालसे धर्मानुष्ठान करनेवालोंके अन्तःकरणमें कामनाओंका विकास होनेसे विवेक-विज्ञानका ह्रास हो जाना ही जिसकी उत्पत्तिका कारण है, ऐसे अधर्मसे जब धर्म दबता जाने लगा और अधर्मकी वृद्धि होने लगी तब जगत्की स्थिति सुरक्षित रखनेकी इच्छा-

वाले वे आदिकर्ता नारायणनामक श्रीविष्णुभगवान् भूलोकके ब्रह्मकी अर्थात् ब्राह्मणत्वकी रक्षा करनेके लिये श्रीवसुदेवजीसे श्रीदेवकीजी-के गर्भमें अपने अंशसे श्रीकृष्णरूपमें प्रकट हुए।

ब्राह्मणत्वकी रक्षासे ही वैदिक धर्म सुरक्षित होगा। क्योंकि वर्णाश्रमोंके भेद उसीके अधीन हैं।

ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेज आदि गुणोंसे सदा सम्पन्न वे भगवान् यद्यपि अज, अविनाशी, सम्पूर्ण भूतोंके ईश्वर और नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव हैं; तो भी अपनी त्रिगुणात्मिका मूल प्रकृति वैष्णवी मायाको वशमें करके अपनी लीलासे शरीरधारीकी तरह उत्पन्न हुए-से और लोगोंपर अनुग्रह करते हुए-से दीखते हैं।' इस प्रकार अनेक युक्तियोंसे स्वामी श्रीशङ्कराचार्यजीने श्रीकृष्णकी भगवत्ता और वेदान्तप्रतिपाद्य ब्रह्मके साथ एकता दिखलायी है। अब हम उन्हीं परमदयालु परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णको बारम्बार प्रणाम करते हुए अन्तिम बात कहकर अपने लेखको समाप्त करते हैं।

जो लोग अपने पुरुषार्थसे भगवान्‌को पानेमें अपनेको सर्वथा असमर्थ अनुभव करते हैं, जो निरन्तर केवल उन्हींकी कृपाकी बाट जोहते रहते हैं तथा मातृपरायण शिशुकी भाँति उन्हींपर सर्वथा निर्भर हो जाते हैं, उनसे मिलनेके लिये भगवान् स्वयं आतुर हो उठते हैं और उसी प्रकार दौड़ पड़ते हैं जैसे नयी ब्यायी हुई गौ, अपने बछड़ेसे मिलनेके लिये दौड़ पड़ती है। अतएव हमलोगोंको भी परम दयालु भगवान्‌के दयापात्र बननेके लिये उनके शरण होकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक तत्परताके साथ नित्य-निरन्तर उनका भजन, ध्यान और उनकी आज्ञाके अनुसार आचरण करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

श्रद्धा-विश्वास और प्रेम

प्रश्न–भगवान् और महात्मा पुरुषोंके प्रभाव और गुणोंको सुनकर भी श्रद्धा-विश्वास नहीं होता और उसके अनुसार तत्परतासे चेष्टा नहीं होती–इसमें क्या कारण है?

उत्तर–भगवान्के तथा महापुरुषोंके प्रभाव और गुणोंको सुनकर भी श्रद्धा नहीं होती इसमें कारण है अन्तःकरणकी मलिनता और तदनुकूल चेष्टा न होनेमें कारण है श्रद्धाका अभाव। अन्तःकरणके अनुरूप ही श्रद्धा होती है। भगवान्ने कहा है—

> सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
> श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥
>
> (गीता १७। ३)

'हे भारत! सभी मनुष्योंकी श्रद्धा उनके अन्तःकरणके अनुरूप होती है। यह पुरुष श्रद्धामय है, इसलिये जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है, वह स्वयं भी वही है। अर्थात् जैसी जिसकी श्रद्धा है वैसा ही उसका स्वरूप है।

अन्तःकरणकी मलिनता दूर होनेसे ही उत्तम श्रद्धा होती है और श्रद्धा होनेसे ही तत्परता होती है।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।

(४ । ३९)

अन्तःकरणकी मलिनता दूर करनेका उपाय इस समय सबसे बढ़कर भगवान्‌के नामका जप है। इसलिये कैसे भी हो—हठसे या प्रेमसे—नाम-जप करता रहे। नाम-जपसे अन्तःकरणकी मलिनता नष्ट हो जायगी, उसमें सात्त्विक श्रद्धा उत्पन्न होगी और फिर भगवान् तथा महात्माओंमें आप ही श्रद्धा हो जायगी और उनके कथनानुसार तत्परतासे चेष्टा होने लगेगी।

प्र०—सत्संग करते हैं फिर भी मन जैसा होना चाहिये वैसा नहीं होता—इसमें क्या कारण है ?

उ०—इसमें भी सत्संगका प्रभाव न जानना एवं अन्तःकरणकी मलिनता ही हेतु है। अन्तःकरण मलिन होनेसे सत्संगका रंग नहीं चढ़ता। मैला कपड़ा रंगमें डुबोनेपर उसमें रंग अच्छा नहीं चढ़ता। साफ होता है तो रंग अच्छा चढ़ता है। (प्रेम, आसक्ति, रुचि, राग—इन सबका अर्थ एक ही है।) पारससे लोहा छुआ देनेसे लोहा सोना बन जाता है—यह बात सत्य है; किन्तु बीचमें यदि व्यवधान होता है तो वह सोना नहीं होता। इसी तरह महात्माओंके संगसे रंग चढ़ता ही है, किन्तु यदि अविश्वासका व्यवधान होता है तो नहीं चढ़ता। जिसको पूर्ण विश्वास होता है उनके रंग चढ़ता ही है।

भगवान् न्यायकारी हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वशक्तिमान् हैं, यह विश्वास

हमारा हो जाय तो फिर हम एक भी पाप नहीं कर सकते। ईश्वरकी सत्ता मान लेनेसे ही पापका नाश हो जाता है। मानते हुए भी यदि पाप करते हैं तो यही समझना चाहिये कि किसी एक अंशमें ही मानते हैं; पूरा विश्वास नहीं है। सरकार जिस कामसे प्रसन्न नहीं है यानी जो काम सरकारके प्रतिकूल है, उसे हम नहीं करते। परमात्मा सर्वज्ञ हैं, सब जगह हैं और सर्वसमर्थ हैं। जो कोई भी उन्हें सर्वज्ञ समझ लेता है उससे पाप नहीं हो सकते।

प्र०—जैसे पिता पुत्रको अनुचित कामसे जबरन् मना कर देता है वैसे ही ईश्वरको भी मना कर देना चाहिये। पर वह मना क्यों नहीं करता ?

उ०—मना करता है—महात्मा पुरुषोंद्वारा—मनके द्वारा—सब प्रकारसे मना करता है। किन्तु ईश्वरने जीवोंको स्वतन्त्रता दे रक्खी है। इसलिये जीव परतन्त्र होनेपर भी स्वतन्त्र है। जैसे हमको बंदूक चलानेका लाइसेन्स है। हम राजाके कानूनोंके हिसाबसे ही बंदूक चला सकते हैं। कानूनसे बँधे हुए हैं किन्तु फिर भी हम चाहे जिस किसीपर कानूनके विरुद्ध भी चला तो सकते हैं न ? फिर चाहे दण्ड मिले। ठीक वही बात यहाँ भी है।

प्र०—जब कभी कोई बात एक-दो मिनटोंके लिये समझमें आ जाती है तो वह ठहरती क्यों नहीं ? ईश्वरको उसे ठहरा देना चाहिये—इतनी तो मदद करनी चाहिये।

उ०—भगवान्से जो मदद चाहता है उसे मदद मिलती है।

जो यह प्रार्थना करता है कि हे भगवान्! मेरा मन निरन्तर भजन ध्यानमें लगा रहे तो उसे भगवान् मदद देते हैं। सामान्य मदद तो सभीको है किन्तु विशेष मदद जो चाहता है, उसे दी जाती है। इसलिये उनसे प्रार्थना करनी चाहिये जिससे कि वह स्थिति छूटे नहीं। जिसका ऐसा विश्वास होता है कि मैं भगवान्की शरण हूँ,- मेरी धारणाको दृढ़ और अन्तःकरणकी शुद्धि भगवान् ही करते हैं, उसकी हो जाती है। एक सज्जन चाहते हैं कि मैं अमुकके आज्ञानुकूल चेष्टा करूँ, कभी-कभी कुछ चेष्टा भी करते हैं पर मौका पड़नेपर पीछे हट जाते हैं तो यही समझना चाहिये उनका इस बातमें पूरा विश्वास नहीं है कि चाहे प्राण भले ही चले जायँ इनकी आज्ञा ही पालनीय है। अगर भगवान्में पूरा विश्वास करके भगवान्से मदद माँगें तो भगवान् इसके लिये भी मदद दे सकते हैं।

प्र०—श्रद्धा, प्रेम और दयापर कुछ विशेषरूपसे कहिये।

उ०—ऐसा प्रतीत होता है कि मुझे कहनेकी आदत पड़ गयी है और आपलोगोंको सुननेकी। बार-बार कहा जाता है। आप सुनते ही हैं। किन्तु जबतक बात समझमें नहीं आती, काममें नहीं लायी जाती, तबतक हमेशा ही नयी है और हमेशा ही बार-बार सुननेकी जरूरत है।

बात है बड़ी अच्छी! इसमें कुछ भी खर्च नहीं होता। मूर्ख-से-मूर्ख भी इसे कर सकता है। इसमें बलकी, बुद्धिकी, धनकी, जातिकी, वर्णकी या कुलकी—किसीकी जरूरत भी नहीं है। यह साधनकालमें भी प्रत्यक्ष शान्ति देनेवाली है। फिर सुनकर भी यदि

काममें नहीं लायी जाती है तो यही समझना चाहिये कि विश्वास-की कमी है। संसारमें जो प्रत्यक्षमें सुख-शान्ति देनेवाली होती है उसको तो लोग करनेको तैयार रहते हैं। फिर यह तो आदि, मध्य और अन्त सर्वत्र आनन्द देनेवाली है। अभी आरम्भ कीजिये, अभी शान्ति-आनन्द तैयार है। यह नहीं कि कोई घंटे-दो-घंटे बाद आनन्द मिलेगा।

बात यह है—प्रथम तो यह विश्वास कर लेना चाहिये कि परमात्मा दीखते नहीं—तब भी हैं और सब जगह हैं, जैसे प्रेत दीखता नहीं है पर है—ऐसी झूठी कल्पना करके भी लोग भयभीत हो जाते हैं और दुखी हो जाते हैं। फिर सच्ची धारणा करनेपर सुख और शान्ति प्रत्यक्ष मिलें इसमें तो कहना ही क्या है ? इसलिये परमात्मा न भी दीखें तो भी मान लेना चाहिये कि वे हैं—अवश्य हैं।

ईश्वर दयालु हैं, प्रेमी हैं। उनकी दया और प्रेम सब जगह परिपूर्ण हो रहे हैं। अणु-अणुमें उनकी दया और प्रेमको देख-देख-कर हमें मुग्ध होना चाहिये। हर समय प्रसन्न रहना चाहिये। इसको साधन बना लेना चाहिये। इसमें न कुछ परिश्रम है और न किसी अन्य चीजकी आवश्यकता है।

ईश्वरकी दया और प्रेम अपार है—असीम है। यह बात मनमें है तो ईश्वरकी स्मृति निरन्तर रहनी चाहिये। सब जगह ईश्वरकी दया और प्रेम परिपूर्ण है जैसे बादलमें सब जगह जल परिपूर्ण है। दया और प्रेमका बड़ा भारी समुद्र उमड़ा हुआ है—भरा हुआ है। उसमें अपने-आपको डुबो दे। चारों तरफ बाहर-भीतर, नीचे-ऊपर सर्वत्र ईश्वरकी दया और प्रेमका समुद्र परिपूर्ण है। जैसे सूर्य-

की धूपमें हम बैठते हैं—हमारे चारों ओर धूप-ही-धूप पूर्ण है उसी तरह परमात्माको दया और प्रेम सब जगह पूर्ण है। सूर्यका प्रकाश तो केवल बाहर ही है; किन्तु दया और प्रेम तो बाहर-भीतर सब जगह पूर्ण हो रहे हैं। इस प्रकार देख-देखकर हर समय मुग्ध होते रहना चाहिये। अहा! हम धन्य हैं! हमपर ईश्वरकी कितनी भारी दया है! सब देशमें, सब कालमें, सब वस्तुमें ईश्वरकी दयाका दर्शन करें और इसी प्रकार प्रेम बढ़ावें।

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥

(गीता ५। २९)

ईश्वर परम सुहृद् हैं। सुहृद्का अर्थ क्या है? दया और प्रेम जिसमें हो उसका नाम सुहृद् है। उसकी दया और प्रेम अनन्त है, अपार है। अणु-अणुमें, जर्रे-जर्रेमें व्याप्त हो रहे हैं। एक बादशाहकी दया हो जाती है, तो आनन्दका ठिकाना नहीं रहता। एक महात्माकी दया हो जाती है तो आनन्द समाता नहीं, फिर ईश्वरकी दया तो अपार है। फिर क्या बात है? (सहजमें ही हमारी स्थिति बदल सकती है। हम बहुत शीघ्र परमात्माको पा सकते हैं।) हर समय यह भाव जाग्रत् रहना चाहिये। अहा! ईश्वरकी हमपर कितनी दया है। ईश्वरका हमपर कितना प्रेम है। सबपर समानभावसे अपार दया है। जब इतनी दया है, तब हमको भय, चिन्ता, शोक करनेकी क्या आवश्यकता है। हम चिन्ता, भय करें यह तो हमारी मूर्खता है। भय किसका? न वहाँ भय है, न चिन्ता है, न मोह है। यह हमारी बेसमझी थी—हम जानते नहीं थे कि प्रभु इतने दयालु हैं। अब कहाँ

चिन्ता ? कहाँ भय ? कहाँ शोक ? प्रभुकी अपार दया है। यह साधन बना लें। हर समय खयाल रक्खें, मनसे इस प्रकार अनुभव करें तो उसी समय शान्ति और आनन्दका भण्डार भरा पड़ा है। इस साधनसे थोड़े ही कालमें साक्षात् प्रभुकी प्राप्ति हो जाय।

एक समृद्धिशाली पुरुष है, स्वप्नमें भिखारी बन गया—इसलिये दुखी हो रहा है। किन्तु जागनेपर दुःख कहाँ ? दुःख था ही नहीं, उसने बिना हुए ही दुःख मान लिया। इसी तरह हम भी बेसमझीके कारण ही दुखी हो रहे हैं। ईश्वरकी दया और प्रेम तो सब जगह पूर्ण हो ही रहे हैं। हम मानते नहीं, तभी हम दुखी होते हैं। पर हम नहीं मानते हैं उस समय भी ईश्वरकी दया तो है ही। बस, मान लें तो आनन्द-ही-आनन्द है। ऐसा अमृतमय आनन्द प्रत्यक्ष है, इसमें कुछ भी शङ्का नहीं है फिर उसे क्यों छोड़ते हैं ? 'प्रत्यक्षे किं प्रमाणम्' प्रत्यक्ष आनन्दका अनुभव हो रहा है, फिर उसमें प्रमाण क्या ? केवल मान लेना ही साधन है। जप या ध्यान—कुछ भी करनेकी बात नहीं कही। केवल मान लो, बस, इतना ही करना है। वह परम सुहृद् है जिसमें अपार दया हो—हेतुरहित प्रेम हो। भगवान्की अपार दया है। वह अपार दयादृष्टिसे हमें देख रहा है, फिर किस बातकी चिन्ता है। माता स्नेहसे बच्चेको पकड़कर यदि फोड़ेको चिरवा रही है तो चिन्ता क्यों करनी चाहिये ? माँ देख रही है न ! बच्चा यदि रोता है तो उसका बालकपन है। समझदार तो रोता भी नहीं। हमपर कोई भी दुःख आवे तो समझना चाहिये—हमारी माँ, भगवान् हमें सुखी करनेके लिये, पवित्र करनेके लिये गोदमें लेकर चिरवा रहे हैं।

कितनी दयाभरी दृष्टि है। अपार दयाकी छटा छायी हुई है। कोई स्थान उसकी दया और प्रेमसे खाली नहीं। उसकी दया, प्रेम सर्वत्र परिपूर्ण हो रहे हैं। वे दर्शन देनेको तैयार हैं। वे सब प्राणियोंके सुहृद् हैं। यदि पूरा विश्वास हो जाय कि भगवान् हमें दर्शन देंगे तो उसी क्षण दर्शन देना पड़ेगा—एक क्षण भी वे नहीं रुक सकेंगे।

नास्तिक पुरुषोंको तो विश्वास नहीं है! वे समझते हैं ईश्वर है या नहीं। जिनका होनेमें विश्वास है वे समझते हैं कि पता नहीं मिलते हैं या नहीं। दूसरे यह समझते हैं कि मिलते तो हैं पर बहुत भजन-ध्यान करनेसे मिलते हैं। यह भी भूल है। भगवान् बड़े ही दयालु हैं। यदि भजन-ध्यान कराकर मिलते हैं तो फिर दयालु क्या हुए? यदि हम दृढ़ विश्वास कर लें कि वे तो बड़े ही दयालु हैं, उनके न मिलनेमें हमारी बेसमझी ही कारण है। हमको मिलेंगे, जरूर मिलेंगे और आज ही मिलेंगे—ऐसा दृढ़ निश्चय कर लें तो आज ही मिल जायँगे इसमें तनिक भी शङ्का नहीं है।

जो कुछ भी ईश्वरका विधान है, उसमें हित ही भरा है। कहीं भी अहित दीखता है तो यह अपनी समझकी कमी है। अणु-अणुमें सब समय, सब देश और सब वस्तुमें अपना हित ही देखे, यह देखना ही सर्वत्र उसकी दयाको देखना है। विश्वासपूर्वक मान लें, बस, फिर काम खतम। उसके आनन्दका ठिकाना ही नहीं है। प्रत्यक्ष शान्ति और आनन्द है। इन बातोंके पढ़ने-सुननेमात्रसे ही महान् शान्ति और आनन्द होते हैं तो फिर बार-बार मनन करनेसे बड़ी भारी शान्ति और आनन्दका अनुभव क्यों नहीं होगा!

ईश्वरकी दया सर्वत्र है। सर्वत्र उसके प्रेमकी छटा छा रही है। फिर हम क्यों भय करें ? वह प्रेमका महान् समुद्र है, उसमें हम डूबे हुए हैं—प्रेम-जलसे भींगे हुए हैं—मग्न हो रहे हैं। यह भाव जब दृढ़ हो जायगा, तब शान्ति और आनन्दकी बाढ़ प्रत्यक्ष दीखने लगेगी। फिर प्रेम आनन्दके रूपमें परिणत हो जायगा, वही परमात्माका स्वरूप है। परमात्मा आनन्दमय है। परमात्मा प्रेममय है। वह प्रेम ही प्रत्यक्ष प्रकट होकर दर्शन देता है। इस समय वह प्रेम अदृश्य है। जब प्रेम हो जाता है तो भगवान् प्रत्यक्ष मूर्तिमान् होकर प्रकट हो जाते हैं। भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्णका स्वरूप प्रेमका ही पुञ्ज है। प्रेमके सिवा दूसरी वस्तु नहीं है। प्रेम ही आनन्द है और आनन्द ही प्रेम है। एक ही चीज है। भगवान् सगुण-साकारकी उपासना करनेवालोंके लिये प्रेममय बन जाते हैं और निर्गुण-निराकारकी उपासना करनेवालोंके लिये आनन्दमय बन जाते हैं।

संसारमें भी यह बात है कि जिससे जितना प्रेम बढ़ेगा उससे उतना ही अधिक आनन्द होगा। यही बात इस विषयमें है। वह सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही भक्तोंका प्रेमानन्द है और वही पूर्णब्रह्म परमात्मा मूर्तिमान् होकर प्रकट होते हैं।

तुलसीदासजी कहते हैं—

हरि ब्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥

हरि सब जगह परिपूर्ण हैं। वे प्रेममय हैं। वे प्रेमसे ही प्रकट होते हैं, क्योंकि वे स्वयं प्रेममय हैं।

यदि कहो कि बात तो सही है पर हम लोगोंमें प्रेम नहीं है,

तो यह तो आपकी ही मान्यता है न । ऐसा कोई स्थान नहीं जहां प्रेम न हो । प्रेमियोंका प्रेम और ज्ञानियोंका आनन्द सब जगह है। वेदान्तमें अस्ति, भाति, प्रिय कहा है । समझना चाहिये-प्रिय क्या वस्तु है। प्रिय और प्रेममें कोई अन्तर नहीं है। संसारमें कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है जिसमें आनन्द व्याप्त न हो। प्रेम उसका स्वरूप है । वह सब जगह है ।

भगवान्‌ने वाल्मीकि मुनिसे रहनेका स्थान पूछा । उन्होंने कहा—भगवन्! बताइये आप कहाँ नहीं हैं? वह प्रेममय परमात्मा बाहर-भीतर सब जगह परिपूर्ण है ।

हममें प्रेम नहीं है, भजन-साधनकी कमीके कारण हमें भगवान् नहीं मिलते—यह हमारी मान्यता नीतिके अनुसार ठीक है। ऐसा मानकर हम भगवान्‌का भजन करें, सत्संग करें तो आगे जाकर हमारा कल्याण हो सकता है। नीति तो यही है किन्तु इसीसे विलम्ब हो रहा है। एक बात इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। हम कानून माननेवाले हैं इसलिये भगवान्‌ने यह कानून बना दिया। पर हम यह मान लें कि कानूनकी बात तो वही है—अपनी दृष्टिसे तो वही बात है पर प्रभु असम्भवको भी सम्भव करनेवाले हैं—वे अपने दासोंके दोषोंकी ओर देखते ही नहीं। वे बिना ही कारण दासोंपर दया और प्रेम करते हैं। उनका स्वभाव ही ऐसा है। उनके स्वभावपर हम दृढ़ विश्वास कर लें तो फिर हम इस बातकी प्रतीक्षा करें कि एक क्षणका भी विलम्ब क्यों हो रहा है? हम इस बातपर अड़ जायँ कि एक क्षणका विलम्ब क्यों होना चाहिये? बस, फिर विलम्ब हो नहीं सकता ।

हमारा प्रेम, हमारी करनी तो विलम्ब ही करनेवाले हैं किन्तु इस अपनी मान्यताको छोड़कर प्रभुकी ओर खयाल करें तो फिर विलम्ब नहीं होना चाहिये। हमारी धारणा बलवती होनी चाहिये। "प्रभो! आप तो परम दयालु हैं, आप तो दासोंके दोषोंको देखते ही नहीं। आपकी दया तो प्रत्यक्ष है। आप परम प्रेमी हैं–आपका प्रेम तो बिना हेतु ही होता है। प्रभो! मैं जब ऐसा मानता था कि 'प्रभु न्यायकारी हैं, जब हम भजन करेंगे तो वे दर्शन देंगे, उस समयतक तो विलम्ब होना ठीक ही था; किन्तु प्रभो! अब तो मैं यह मानता हुँ कि आप परम दयालु हैं, आपका दया करना ही एकमात्र स्वभाव है। मेरा दृढ़ विश्वास है कि आप अब एक क्षण भी विलम्ब नहीं करेंगे।" ऐसा दृढ़ विश्वास रखें तो फिर उस कानूनसे जो विलम्ब हो रहा है वह नहीं हो।

यह एक असम्भव-सी बात लगती है कि एक क्षणमें हमारा कल्याण हो जायगा। लोगोंकी यह धारणा हो रही है कि भगवान् न्यायकारी हैं—जब हम पात्र होंगे तब भगवान् दर्शन देंगे। यह बात युक्तिसंगत होते हुए भी भगवान्पर लागू नहीं हो सकती। भगवान्के लिये कुछ भी असम्भव नहीं है। असम्भव बात भी सम्भव हो सकती है—प्रभु ऐसे ही प्रभावशाली हैं, प्रभुका प्रभाव ही ऐसा है। वहाँ सारा असम्भव भी सम्भव है। यह बात हम समझ लें तो उसी समय कल्याण हो जाय। दया, प्रेम प्रभुके गुण हैं। असम्भवको भी सम्भव कर देना यह प्रभाव है। प्रभुके गुणोंमें या प्रभावमें—किसी एकमें भी विश्वास हो जाय तो फिर बस, आप कैसे भी हों आपको एक-एक मिनट प्रभुका विलम्ब सहन नहीं हो

सकेगा। आप प्रतिक्षण व्याकुल होकर प्रतीक्षा करेंगे और प्रभु उसी क्षण प्रकट हो जायँगे। बस, केवल उसकी दयापर निर्भर होना चाहिये। फिर हम-सरीखोंकी तो बात क्या, हमसे भी गये-बीते लोगोंको एक क्षणमें दर्शन हो सकते हैं। हमें दर्शन होनेमें विलम्ब इसीलिये हो रहा है कि हम विश्वास नहीं करते हैं।

प्र०—यह निश्चय कैसे हो ?

उ०—भगवान् और भक्तोंकी दयासे यह निश्चय करानेके लिये ही यह सब बातें कही जाती हैं। जब हम यह मान लें कि भगवान् ही इस प्रकारकी श्रद्धा कराते हैं और इस तरहकी श्रद्धा करानेका वातावरण भी भगवान् ही उपस्थित करते हैं और उनकी अहैतुकी कृपासे ही यह सब सम्भव है तो फिर हम यह क्यों शङ्का करें कि प्रभु कृपा नहीं करते। प्रभु तो कृपा कर ही रहे हैं। तुम जो यह कह रहे हो कि प्रभु कृपा क्यों नहीं करते यही तो विलम्बका कारण है।

ये जो भगवद्विषयकी बातें है—ये ही रहस्यकी बातें हैं। मनुष्य यदि प्रभुके गुण और प्रभावका रहस्य समझ जाय तो उसको धारण ही कर ले। समझकी बात है। समझ लेनेपर काम बाकी नहीं रहता। 'संसारके जितने भी पदार्थ हैं, वह विष हैं।' यह बात समझ लेनेवाला फिर इनका सेवन नहीं कर सकता। जब यह पता लग जाय कि लड्डुओंमें जहर है तो भला कौन उनको खावेगा! खाता है तो समझना चाहिये कि वह समझा ही नहीं। किसी दरिद्री-को पारस मिल जाय और फिर भी वह दरिद्री ही रहे तो समझना चाहिये कि उसने पारसको जाना ही नहीं।

भगवान्‌के प्रेम और दयाका तत्त्व समझना चाहिये। उसकी दया, प्रेम और प्रभाव अपार हैं। उसका तत्त्व नहीं जानते तभी हम लाभ नहीं उठाते। भगवान्‌का प्रभाव भगवान्‌के लिये थोड़े ही है, वह तो हमलोगोंके लाभ उठानेके लिये ही है। ऐसे प्रभावशाली-का प्रभाव संसारके उद्धारके लिये ही है। हृदयसे जो उसका ऐसा प्रभाव मानता है, वही लाभ उठा लेता है।

जगत्‌में एक दयावान् पुरुष है—उसके पास धन है। उसके धनसे वही लाभ उठाता है जो उसको पैसेवाला और दयालु मानता है। पैसेवाला मानकर भी यदि दयालु नहीं मानता तो लाभ नहीं उठा सकता और दयालु मानकर भी यदि उसे धनी नहीं मानता तब भी लाभसे वञ्चित ही रहता है। प्रत्यक्ष बात है। इसी प्रकार महात्मासे लाभ वही उठा सकता है जो उसे महात्मा समझता है। दूसरे भी उठाते हैं पर थोड़ा। समझनेवाला तो पूरा और तुरंत लाभ उठा लेता है। दयालु धनीको जो दयालु नहीं मानता वह भी लाभ तो उठा सकता है किन्तु थोड़ा। इसी प्रकार भगवान्‌को दयालु न माननेवाले भी लाभ तो उठाते ही हैं। सामान्य-भावसे सभी लाभ उठाते हैं; किन्तु जो उसे दयालु और प्रभावशाली मानता है वह विशेष लाभ उठा सकता है। अग्निसे सामान्य गर्मी सभीको मिलती है; किन्तु जो जानता है कि यहाँ अग्नि पड़ी है वह अधिक लाभ उठा लेता है।

पारस घरमें पड़ा है। वह लोहेसे छुआ गया—लोहा सोना हो गया। हमने समझा काकतालीयन्यायसे हो गया। हमको पता

नहीं कि कैसे हुआ, तो थोड़ा लाभ है और जान जावें तो पूरा लाभ उठा सकते हैं।

इसी प्रकार संत-महात्माओंकी दया, प्रेम, प्रभाव अपार है। भगवान्का अवतार हुआ। अब हम पश्चात्ताप करते हैं कि उस समय हम भी तो किसी-न-किसी योनिमें थे ही—हमने लाभ नहीं उठाया। अब यदि भगवान्का अवतार हो तो हम भी लाभ उठावें। किन्तु समझनेकी बात है। भगवान् तो भक्तोंके प्रेमसे बाध्य होकर अवतार लेते हैं। भगवान्का प्रकट होना तो भक्तोंके अधीन है।

यदि हम ऐसा विश्वास कर लें तो जो लाभ हमको अवतारसे हो सकता है वह हम उन भक्तोंसे ही उठा सकते हैं। भगवान्की तो यह समझ है कि मेरे भक्त मुझसे भी श्रेष्ठ हैं; क्योंकि मैं तो कानूनमें बँधा हुआ हूँ। मैं ही कानूनको बनानेवाला हूँ, इसलिये मैं कानून तोड़ना नहीं चाहता। पर भक्त इतने बलवान् होते हैं कि उनके वशमें होकर तो मुझे कहीं कानूनको भी लाँघना पड़ता है। इसलिये भक्त मुझसे श्रेष्ठ हैं किन्तु भक्तोंकी मान्यता यह नहीं है। वे तो यही समझते हैं कि भगवान् ही सर्वोत्तम हैं। उनसे बढ़कर कोई नहीं। भक्त जब भगवान्को सर्वोत्तम मानता है तब भगवान् भी भक्तको सर्वोत्तम मानते हैं। भगवान् सत्यसंकल्प हैं, उनका मानना सत्य ही है। अतः किसको छोटा-बड़ा कहें।

हमलोगोंको तो यही मानना चाहिये कि यह उनकी प्रेमकी लड़ाई है—अपने लिये तो दोनों ही बड़े हैं, हमारी दरिद्रताको मेटनेके लिये तो दोनों ही असंख्यपति हैं, भगवान्के भक्त सदा

समयमें मिलते हैं। यह ठीक है किन्तु करोड़ोंमें कोई एक विरला ही महात्मा होता है। भगवान् कहते हैं—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

(गीता ७।३)

'हजारों मनुष्योंमें कोई एक मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले योगियोंमें भी कोई एक मेरे परायण होकर मुझको तत्त्वसे जानता है।' पर भक्त हैं तो सही न। नहींकी बात तो नहीं कहते। वे सदा ही रहते हैं। भगवान्के भक्त न हों तो फिर भगवान्की भक्तिका प्रचार ही कौन करे। भगवान् स्वयं अपनी भक्तिका प्रचार नहीं करते। उनके सहायक रहते हैं। अपनी भक्तिका तो कोई भी अच्छा मनुष्य प्रचार नहीं करता फिर भगवान् तो पुरुषोत्तम हैं। यदि संसारमें भक्त न होते तो भगवान्की भक्तिका नाम संसारमें शायद ही रहता, इसीलिये भगवान् भक्तोंके ऋणी होते हैं। आजतक हनुमान्जीके ऋणसे न भगवान् मुक्त हुए और न भरतजी। पर हनुमान्जी कभी ऐसा नहीं मानते!

जो काम भगवान् नहीं करते उसको भी भक्त कर देते हैं। इस न्यायसे भगवान्से भी बढ़कर भगवान्के भक्त हैं।



भगवान्‌की दया

भगवान् मनुष्योंके कल्याणके लिये और भक्तोंको विशेषरूपसे मजबूत बनानेके लिये परीक्षा लेते रहते हैं। यद्यपि वे हमारे हृदय-की एक-एक भावनाको अच्छी तरहसे जानते हैं; किन्तु फिर भी जैसे अध्यापक विद्यार्थियोंकी योग्यता-अयोग्यताको जानता हुआ भी उनकी परीक्षा लेता है, उसी प्रकार निरन्तर हमारी परीक्षा लेते रहते हैं। अध्यापक तो किसी अंशमें लड़कोंकी योग्यता नहीं जानता—इसलिये भी परीक्षा ले सकता है किन्तु भगवान् तो सर्वान्तर्यामी हैं, घट-घटकी जाननेवाले हैं, उनसे तो कुछ छिपा है ही नहीं।

हमलोग जिसे आपत्ति कहते हैं, वह वास्तवमें भगवान्‌की भेजी हुई ही आती है और आती है केवल हमको कसौटीपर कसने-

के लिये और हमारे उत्थानके लिये। अनिच्छा और परेच्छासे जो भी कुछ आकर प्राप्त हो जाय, उसमें भगवदिच्छा समझकर प्रसन्न होना चाहिये। यह बात केवल अनिच्छा और परेच्छासे प्राप्त हुए सुख-दुःखादि भोगोंमें ही है, नवीन कर्मके विषयमें नहीं। नवीन कर्म तो भगवान्‌का आश्रय लेकर अपनी सात्त्विक बुद्धिसे भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार सुचारुरूपसे करे। सारे कामोंमें इसी प्रकार समझना चाहिये।

अनुकूल प्रतिकूलकी प्राप्तिमें जिसका जितना राग-द्वेष, हर्ष-शोक कम हो गया उतना ही वह आगे बढ़ा है। यह पक्की परीक्षा है। जितना-जितना विकार होता है, उतना-उतना ही नीचे गिरा है। विकार दो तरहके हैं—एक मुक्ति देनेवाला और दूसरा पतन करनेवाला। मुक्तिदायक विकार—दूसरेको दुखी देखकर दुखी होना और दूसरेके सुखको देखकर सुखी होना। यह विकार होनेपर भी मुक्तिदायक होनेके कारण ग्रहण करने योग्य है। पतन करनेवाला विकार—अपने दुःखमें दुखी और अपने सुखमें यानी सुखदायक पदार्थोंकी प्राप्तिमें हर्षित होना। यह विकार त्यागने योग्य है। किन्तु जो इन दोनोंसे बढ़कर विकार है, वह बहुत लज्जाजनक है। दूसरेके दुःखसे सुखी होना—प्रफुल्लित होना और दूसरेको सुखी देखकर, उन्नत देखकर दुखी होना—जलना। यह तो अति ही नीचता है। यह आसुरी प्रकृतिवालोंका लक्षण है। और इससे भी बढ़कर नीचता क्या है? जो अपने साथ भलाई करे उसके साथ बुराई करना। इस प्रकारके अत्यन्त नीच प्रकृतिवालोंके लिये तो शास्त्रमें कोई शब्द नहीं है। 'ते के न जानीमहे।'

सबसे बढ़िया बात क्या है? अपने साथ जो बुराई करे उसके साथ भी भलाई करे।

'जो तोकों काँटा बुवै, ताहि बोउ तू फूल।'

बस, इतनेमें ही अपना कल्याण है। 'तोहि फूलको फूल है वाको है तिरसूल' इस उत्तरार्धका भाव हमको लेनेकी जरूरत नहीं। 'वाको है तिरसूल' यह बात श्रेष्ठपुरुष सुनना नहीं चाहते। यह कानून जरूर है किन्तु क्षमावान् पुरुष कानूनकी ओर खयाल नहीं करते। उनका तो क्षमा करना स्वभाव होता है। वे स्वभावतः ही सम्पूर्ण भूतोंमें द्वेषरहित और सबके मित्र होते हैं। उनके हृदयमें सबके प्रति करुणा होती है। अपने साथ बुराई करनेवालेको दण्ड मिलेगा—यह बात सुनकर तो वे साधुपुरुष रो पड़ते हैं।

एक महात्मा पुरुष नावपर बैठे हुए पार जा रहे थे। उसी नावपर दो अत्याचारी दुष्ट भी बैठे हुए थे। बिना ही हेतु किसीको कष्ट देना दुष्टोंका स्वभाव होता ही है। उन्हें उस महात्माकी सौम्य, ऋजु और शान्त आकृति खटकने लगी। दोनोंने परस्परमें संकेत करके महात्माको नदीमें डुबो देनेका विचार ठान लिया। उन्होंने धीरेसे उनको नावमें ही नीचे गिरा दिया। गिराते ही आकाशवाणी हुई—'ये दोनों दुष्ट हैं, अत्याचारी हैं जो आपको कष्ट दे रहे हैं। ये आपको नदीमें डुबो देना चाहते हैं। आप कहें तो इन्हींको इस नदीमें डुबो दिया जाय।' बस, आकाशवाणीका सुनना था कि महात्मा रो पड़े और कहने लगे—'मैं कैसा अपराधी हूँ—जो मेरे कारण इन्हें डुबो देनेकी बात मैं सुन रहा हूँ।' महात्माकी करुणाभरी वाणी

सुनकर पुनः आकाशवाणी हुई कि 'इन्हें दण्ड न दिया जाय तो क्या किया जाय ?' तब महात्मा बोले—'इन्होंने मेरा दर्शन किया है, स्पर्श किया है और सङ्ग किया है। अगर भगवान्‌की मुझपर कृपा है और मैं यदि साधु समझा जाता हूँ तो एक साधु पुरुषके सङ्गसे जो लाभ वास्तवमें होना चाहिये, वही हो। ये भी साधु-स्वभाव बन जायँ।'

उस महात्मा पुरुषकी और आकाशवाणीकी परस्परकी बातें सुनकर दुष्टोंपर बड़ा भारी असर हुआ। वे दोनों महात्माजीके चरणोंमें लोट-पोट हो गये और बस, उसी क्षणसे महात्मा बन गये।

यह उच्चश्रेणीका व्यवहार हुआ। इसमें दया, क्षमा, अहिंसा और अक्रोध—सब भरे हुए हैं। और ये सभी उच्चभाव हैं। महात्माजीको आकाशवाणीपर रोना आ गया था, यह विकार तो था किन्तु यह विकार दूसरेके हितसाधनके लिये होनेसे मुक्तिदायक था। यह महापुरुषोंका सिद्धान्त है, उनके हृदयका उद्गार है। इस व्यवहारको कोई भी काममें ला सकता है। केवल सबका हित कैसे हो, यह बुद्धि चाहिये। इतना ही पर्याप्त है। यह व्यवहार ही कर्मयोग है। कर्मयोग किसका नाम है ? जिस कार्यमें स्वार्थ न हो, किसी फलकी आकाङ्क्षा न हो और दूसरेका हित जिसमें भरा हो वही कर्मयोग है। इसके थोड़े-से साधनसे ही कल्याण हो जाता है। भगवान् कहते हैं—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥
(गीता २। ४०)

'इस कर्मयोगमें आरम्भका अर्थात् बीजका नाश नहीं है और उलटा फलरूप दोष भी नहीं है बल्कि इस कर्मयोगरूप धर्मका थोड़ा-सा भी साधन जन्म-मृत्युरूप महान् भयसे उबार लेता है।'

भाव यह कि, थोड़ा-सा भी कर्म निःस्वार्थभावसे बन जाय तो वह मुक्ति करनेवाला होता है। फिर सदा-सर्वदा जिसके सम्पूर्ण कर्म निःस्वार्थभावसे होते हैं, वे तो मुक्तरूप ही हैं। उनके तो दर्शन, स्पर्श, भाषणसे दूसरे पवित्र हो जाते हैं—मुक्त हो जाते हैं। इसलिये जो भी स्वेच्छासे काम करे—सावधानीसे करे, स्वार्थको त्याग करके करे और दूसरोंके हितकी दृष्टिसे करे, वही काम करे जिससे भगवान् प्रसन्न हों और स्वयं अपने मस्तकपर भगवान्का हाथ समझ-समझकर हर समय प्रसन्न रहे। यह बड़ा अच्छा साधन है। अपनी बुद्धिके अनुसार वही कार्य करता रहे, जिस कार्यसे भगवान् प्रसन्न हों। स्वेच्छासे तो भगवान्की प्रसन्नताके अनुसार, उनकी आज्ञाके अनुसार कार्य करता रहे और अनिच्छा तथा परेच्छासे होनेवालेको भगवान्का भेजा हुआ प्रसाद समझता रहे। परेच्छासे होनेवालेको यह समझे कि भगवान्की ही इच्छासे ऐसा हो रहा है, भगवान् ही ऐसा कराते हैं और अनिच्छासे होनेवालेको यों समझे कि स्वयं भगवान् ही ऐसा करते हैं। बस, इस प्रकार समझ-समझकर खूब मुग्ध रहे। यही भक्ति है, यही शरण है और यही कर्मयोग है।

जिस क्रियामें भगवान्की सम्मति हो, वही काम करे और वह काम केवल उनके लिये ही करे। सब कुछ परमात्माका समझकर उसके अर्पण कर दे और प्रत्येक क्रिया करते समय भगवान्‌को

याद रक्खे। भगवान्‌के दिये हुए प्रत्येक विधानमें निरन्तर उनका स्मरण करता हुआ परम सन्तोष मानकर हर समय प्रसन्न रहे। यदि कहें कि किस बातको लेकर खुश रहें तो इसका उत्तर यह है कि भगवान्‌की दयाको देख-देखकर। देखो! भगवान्‌की तुमपर कितनी दया है। अपार दया समझकर इतना आनन्द होना चाहिये कि वह हृदयमें समावे नहीं। हर समय आनन्दमें मुग्ध रहे। बार-बार प्रसन्न होवे। अहा! प्रभुकी कितनी दया है। यही सबसे बढ़कर साधन है और यही भक्ति है, एवं इसीका नाम शरण है। ईश्वरकी दया, रुचि और उसके स्वरूपका स्मरण करके प्रसन्न होता रहे। सुख-दुःख जो भी प्राप्त हो, उसमें उसकी दया देखे। अपने द्वारा की जानेवाली क्रियामें 'रुचि' देखे कि भगवान्‌की 'रुचि' क्या है। जिसकी दया और रुचिका खयाल हो उस पुरुषके स्वरूपका खयाल तो दोनोंके साथ ही है। जब आप यह समझेंगे कि अमुक महात्माकी मुझपर कितनी दया है तो उस समय उनकी स्मृति तो साथमें है ही और जिस समय आप उनकी रुचिके अनुसार काम करेंगे, उस समय भी उनकी स्मृति तो आपको बनी ही रहेगी। इसी प्रकार भगवान्‌के प्रति समझना चाहिये।

अतएव भगवान्‌की प्रसन्नता प्राप्त करनेकी इच्छावाले प्रत्येक व्यक्तिको भगवान्‌की दयापर निर्भर रहना चाहिये, उसे देख-देखकर प्रसन्न रहना चाहिये। और उनकी प्रसन्नताके अनुसार ही कार्य करते रहना चाहिये एवं निरन्तर उनका स्मरण करते रहना चाहिये।

अनन्य प्रेम और परम श्रद्धा

अनन्य और विशुद्ध प्रेम तथा परम श्रद्धा—ये दोनों ही विषय बड़े रहस्यपूर्ण हैं। इनकी महिमा कोई भी गा नहीं सकता। इनका रहस्य और तत्त्व वास्तवमें वे ही पुरुष जानते हैं जो भगवान्‌के परम भक्त हैं—जिन्हें भगवान्‌की प्राप्ति हो चुकी है। वे भी वाणीके द्वारा इनका महत्त्व बतला सकनेमें असमर्थ ही हैं। अनन्य प्रेम और परम श्रद्धाका वर्णन करना वैसा ही है जैसा किसी धनकुवेरको लखपति कहकर उसकी महिमा बतलाना। यह स्तुतिमें निन्दा है; किन्तु फिर भी भगवच्चर्चाके बहाने इस सम्बन्धमें कुछ निवेदन किया जाता है।

प्रेमके लिये महाराज दशरथजीका आदर्श सराहनीय है। उनका भगवान् राममें अलौकिक प्रेम था। प्रेमीके वियोगमें जहाँ प्राण व्याकुल हो उठें, वहाँ प्रेमकी पराकाष्ठा समझनी चाहिये। जलके वियोगमें मछली तड़प उठती है। यह तड़पन उच्च श्रेणीका प्रेम है। कैकेयी-ने दशरथजीसे दो वरदान माँगे—(१) भरतको राज्य और (२) रामको चौदह वर्षका वनवास। दूसरे वरदानकी बात सुनते ही राजा दशरथ सहम गये। उन्होंने अधीर होकर व्यग्रतापूर्ण स्वरमें कैकेयीसे कहा—'भरतके लिये राज्य तो भले ही माँग ले; किन्तु रामको वनवास देनेकी याचना मुझसे न कर। उसके वियोगमें मेरे प्राण न बच सकेंगे।' बहुत समझानेपर भी कैकेयीने किसी प्रकार भी न माना। भगवान् राम वन चले गये और उधर उनके वियोगसे अत्यन्त दुखी होकर दशरथजी भी संसारसे चल बसे।

भरतजीके ननिहालसे लौटनेपर माता कौसल्याने कहा—सराहनीय प्रेम तो राजाका है जिनके प्राण रामके वियोगमें रह न

सके।' सुमन्तके लौटनेपर महाराज दशरथजीने उनसे पूछा, 'सुमन्त! क्या रामको वनमें छोड़ आये?' इस प्रश्नके साथ ही राजा दशरथ हाय मारकर रोने लगे और सब लोगोंको सुनाते हुए करुणस्वरमें कहने लगे, 'मेरे प्राण अब बचनेके नहीं, इसलिये मेरे मरनेपर मेरे शवको कैकेयी और इसका पुत्र (भरत) छूने न पावें, भरतका दिया हुआ पिण्ड भी मुझे न मिले।' विरहवेदनाका सजीव चित्र श्रीवाल्मीकिरामायणमें बड़े ही प्रभावपूर्ण ढंगसे खींचा गया है। अनन्य प्रेमकी सचमुच यह पराकाष्ठा है। भगवान्के साथ किसी भी भावको लेकर प्रेम किया जाय वह आदर्श ही है।

द्वापरमें भगवान् श्रीकृष्णके प्रति गोपियोंका जो प्रेम भागवत आदि ग्रन्थरत्नोंमें पढ़नेको मिलता है वह निःसन्देह सर्वथा स्तुत्य और अनुकरणीय है। वे जब उनके प्रेममें व्याकुल होती थीं तब भगवान्को विवश होकर प्रकट होना ही पड़ता था। कलियुगमें गौराङ्ग महाप्रभुका प्रेम सराहनीय है।

श्रद्धाके आदर्श स्वयं भगवान् राम हैं। कैकेयीने दशरथजीसे ऐसे वर माँगे जिनकी कभी सम्भावना ही नहीं थी। रंगमें भंग हो गया। सुमन्तके बुलानेपर भगवान् श्रीरामचन्द्रजी जैसे थे वैसे ही राजमहलमें जा पहुँचे। वहाँ कैकेयीके वरदानकी सारी बातें जानकर वे बोले—'यह तो मामूली बात है। वनमें मुनियोंके दर्शन, आपकी सम्मति तथा पिताकी आज्ञाका पालन और प्रिय भाई भरतको राज-गद्दी ऐसे स्वर्णसंयोगोंपर भी यदि मैं वन न जाऊँ तो भला मेरे समान और मूढ़ कौन होगा? उसके बाद वे माता कौसल्याके महलमें जाते हैं। माता कहती हैं, 'मेरी आज्ञा है कि तुम वनमें न जाओ।

पिताकी अपेक्षा माताकी आज्ञा बलवती होती है।' भगवान्ने नम्रतापूर्वक कहा, 'पिताकी आज्ञाका त्याग कर देनेकी मुझमें सामर्थ्य नहीं है। मैं सीताको सहर्ष त्याग सकता हूँ, हँसते-हँसते प्राणोंका भी विसर्जन कर सकता हूँ किन्तु पिताकी आज्ञा मेरे लिये सर्वथा अलङ्घ्य है, वह किसी भी तरह टाली नहीं जा सकती।' माताने फिर जोर देते हुए कहा, 'राम! पिताकी अपेक्षा माताकी आज्ञा सौगुनी बलवती होती है फिर तुम मेरी आज्ञाके पालनमें आनाकानी क्यों कर रहे हो?' राम बोले, 'आपका आदेश सर्वथा मान्य है किन्तु मेरे वनवासके लिये माता कैकेयीकी भी तो आज्ञा है।' इस बातको सुनकर माता कौसल्या निरुत्तर हो गयीं।

भगवान् रामने श्रद्धाकी पराकाष्ठा दिखला दी। वे प्राणोंका त्याग कर देनेके लिये तैयार हो गये, किन्तु पिताकी आज्ञाका परित्याग उनसे सहन न हो सका। श्रद्धेयकी आज्ञाकी अवहेलना होनेपर प्राणोंके त्यागका प्रसङ्ग उपस्थित हो जाना सचमुच श्रद्धाका सर्वोत्तम आदर्श है।

भरतके जीवनमें हमें श्रद्धा और प्रेम दोनोंका ही ज्वलन्त उदाहरण मिलता है। वे ननिहालसे लौटे। राजमहलकी दशा देखकर सहम गये। कैकेयीसे पूछने लगे, 'पिताजी कहाँ हैं?' उनकी मृत्युके दुःखद संवादको सुनते ही वे हाय मारकर रोने लगे। 'हा पिताजी, इस मन्द-भाग्य भरतको पूज्यचरण भाई रामको सँभलाये बिना ही आप कहाँ चल बसे?' घिग्घी बँधे हुए स्वरमें ही उन्होंने मातासे पूछा, 'मरते समय पिताजी क्या कहते थे।' वह बोली 'हा राम, हा लक्ष्मण, हा सीते!' ये ही उनके अन्तिम शब्द थे।

श्रीभरतने पूछा, 'तो क्या राम, लक्ष्मण और सीता उनके

पास नहीं थे ?' माताने सारी घटना कह सुनायी। सुनते ही भरत-का हृदय मानो विदीर्ण होने लगा। वे फूट-फूटकर रोने लगे। उस प्रसङ्गपर वाल्मीकिरामायणमें भरतको हम इस प्रकार कहते हुए पाते हैं—

न मे विकाङ्क्षा जायेत त्यक्तुं त्वां पापनिश्चयाम्।
यदि रामस्य नावेक्षा त्वयि स्यान्मातृवत् सदा॥
(अयो० ७४। १८)

अर्थात् 'यदि राम तुझे सदा माताके समान न देखते होते तो तुझ पापनिश्चयवालीको त्यागनेमें मुझे कुछ भी संकोच नहीं होता।'

गोस्वामी तुलसीदासजीके मानसमें भी भरतने जलते हुए हृदय-से कैकेयीको बहुत-सी कड़ी बातें सुनायी हैं—

बर मागत मन भइ नहिं पीरा। गरि न जीह मुहँ परेउ न कीरा॥

इसके बाद भरतजी कौसल्याके महलमें गये। वहाँ जाकर भरतजीने अनेकों प्रकारकी शपथें खायीं और बहुत-से पाप गिनाते हुए कहा कि 'यदि रामके वन जानेमें मेरी जरा भी सम्मति रही हो तो ये सब पाप मुझे लगें।' माता कौसल्याने कहा, 'बेटा! तुम्हारी निर्दोषताको मैं खूब जानती हूँ। रामने भी वन जाते समय तुम्हारी बहुत प्रशंसा की थी और यह भी कहा था कि मुझसे कहीं अधिक भरत तुम्हारी सेवा करेगा। इसलिये तुम संकोचको छोड़कर मनमें किसी प्रकारकी ग्लानि न करो।'

दशरथजीका क्रिया-कर्म विधिपूर्वक कर देनेके बाद सभामें सब लोग भरतको राज्य करनेके लिये समझाने लगे। भरतजीने रोकर कहा—'मैं किसी प्रकार भी राज्यके योग्य नहीं हूँ।' भरतजीके इस

सुन्दर भावको सभी लोग एक स्वरसे 'साधु ! साधु !' कहकर उनकी सराहना करने लगे। अन्तमें भरतजीने वन जानेकी बात सबके सामने रक्खी। सब लोग तैयार हो गये। भरत पैदल चलने लगे। लोगोंने माताजीसे प्रार्थना की। माताने समझाते हुए कहा कि 'तुम्हारे पैदल चलनेसे सभीको पैदल चलना पड़ेगा।' भरतजी बोले—'जब राम पैरोंके बल गये हैं तब मेरा कर्तव्य है कि मैं सिरके बल जाऊँ। क्या करूँ, आपकी आज्ञा भी माननी पड़ेगी।' इच्छा न रहते हुए भी वे रथपर सवार हो गये।

सब लोग शृङ्गवेरपुर पहुँचे। गुहको भरतके इस आकस्मिक आगमनपर सन्देह हुआ। उसने सारी सेनाको राम-कार्यके लिये तैयार किया। निषादपति गुहसे मिलते ही भरतके हृदयमें प्रेमका समुद्र उमड़ पड़ा। वे अपने श्रद्धास्पदके अनन्य भक्तको पाकर भावावेशमें अपनेको भूल गये। उनके नेत्रोंसे प्रेमाश्रुओंकी झड़ी लग गयी। वास्तवमें प्रेमका तत्त्व सच्चे प्रेमी ही जान सकते हैं।

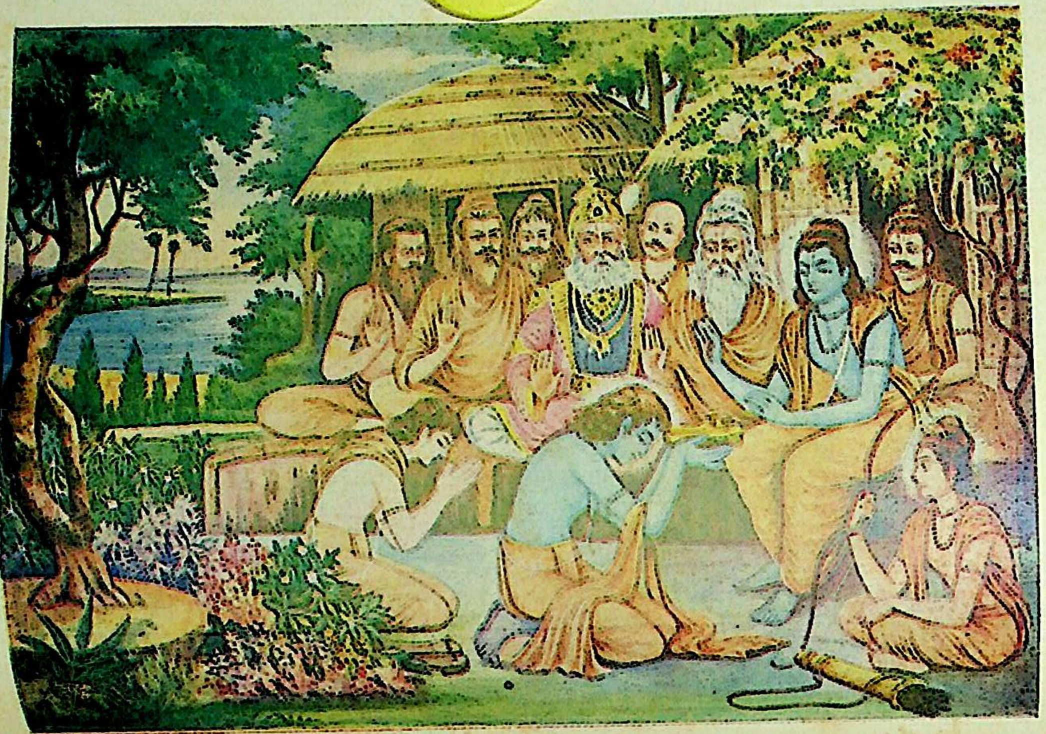
जिस वृक्षके नीचे श्रीरामने एक रात निवास किया था, वहाँ जाकर उन्होंने सीताके वस्त्रके तारोंको पृथ्वीपर बिखरे देखा। वियोगसे व्यथितहृदय भरत रोने लगे। दुःखभरे स्वरमें उन्होंने कहा—'जिस सीताको सूर्य, चन्द्र, वायु आदि देवगण भी नहीं देख पाते थे उसने मेरे कारण इस शिशपा वृक्षके नीचे कुशाकी साथरीपर रात्रि बितायी। मैं भी कैसा अभागा हूँ कि अपने पूज्योंके दुःखका इस प्रकार कारण बना।' भरतके इस प्रेम और श्रद्धाको देखकर निषादराज सकुचा गये। अपने मनमें भरतके प्रति सन्देह होनेके कारण उन्हें बड़ा पश्चात्ताप हुआ।

जब वहाँसे आगे बढ़े तो भरद्वाजके आश्रममें पहुँचे। मुनिराज-ने पूछा—'भरत! तुम वनमें किसलिये आये हो?' इस प्रश्नको सुनकर भरतजी रोने लगे और बोले—'महाराज! आपका पूछना ठीक ही है, मैं पामर सचमुच इसी योग्य हूँ।' भरद्वाजजी बोले—'मैं तपके बलसे तुम्हारे इधर आनेका कारण जानता हूँ। तुम रामको लौटाने जा रहे हो। हमलोग धन्य हैं जो आज तुम्हारे दर्शनका सौभाग्य प्राप्त कर रहे हैं। हमारे तपका, हमारी साधनाका फल था रामके दर्शन, और राम-दर्शनका फल है तुम्हारे दर्शन। भरत! तुम जिन रामके वियोगमें कृश हो रहे हो वे ही राम एक रातके लिये यहाँ ठहरे थे। रातभर तुम्हारी प्रशंसाका गायन करके उन्होंने हमारे कानोंको पवित्र किया। सारा संसार तो रामके गुणोंका गान करता है और राम तुम्हारे ही गुणोंके गायनसे अपनेको आनन्दित मानते हैं।' भरद्वाजजीके मुखसे श्रीरामजीकी प्रेम-कथाएँ सुनकर भरतजीका हृदय गद्गद, शरीर रोमाञ्चित और वाणी कुण्ठित हो गयी।

रातभर आश्रममें रहकर वे प्रातःकाल आगे बढ़े। मार्गमें चलते समय उनकी दशा बड़ी विचित्र थी। वे भगवान्‌के दयालु स्वभावकी ओर देखते तब तो उनके पैर आगे बढ़ते, माताकी करनीकी याद आनेपर पैर पीछे पड़ते और अपनी ओर देखकर वहीं रुक जाते थे। इतनेमें ही उन्हें भगवान् रामके चरण-चिह्न दीख पड़े। बस, फिर क्या था—वे प्रेममें निमग्न हो गये। उस मुग्धताको देखकर गुहको भी शरीर और मार्ग आदिका कुछ भी ज्ञान न रहा। जड चेतन और चेतन जड हो गये। सर्वत्र एकमात्र प्रेमका ही साम्राज्य छा गया। अन्तमें भगवान् रामका आश्रम दीख पड़ा। भरतजी आगे बढ़े।

अपने श्रद्धास्पदके चरणोंके दर्शन पाकर दण्डवत् भूमिपर गिर पड़े। लक्ष्मणजी आवाज पहचानकर बोले, 'महाराज! भरतजी प्रणाम कर रहे हैं।' भरतजीका शरीर भगवान्‌के वियोगमें इतना कृश हो गया था कि लक्ष्मणजी केवल उनकी आकृतिसे उन्हें पहचान न सके। महाराज श्रीरामचन्द्रजीने लक्ष्मणकी बात सुनते ही भरतको उठाकर छातीसे लगा लिया। दोनों एक दूसरेके प्रेमाश्रुओंसे भीग गये। आश्रम मानो करुणा और प्रेमका विचित्र रङ्गमञ्च बन गया।

अपने वियोगमें पिताकी मृत्युकी बात सुनकर प्रभु बड़े दुखी हुए। अन्तमें पिण्डोदक आदिकी सारी क्रियाके समाप्त हो चुकनेपर सब लोगोंने भगवान्‌से वापस लौटनेकी प्रार्थना की। भरतजीने कहा— 'स्त्रीके वशीभूत होकर पिताजीने आपको जो आज्ञा दी है वह पालनीय नहीं है।' भगवान् राम बोले—'नहीं, पिताजीने कामवश होकर यह आज्ञा नहीं दी है; प्रत्युत अपने प्राणोंका त्याग करके उन्होंने अपने प्रणका पालन किया है। पिताजी पूजनीय और राजा थे इसलिये उनकी आज्ञा प्रत्येक प्रकारसे पालनीय है।' इसपर भरतजीने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया कि 'यदि यही बात है तो हमलोग भाई होनेके नाते प्रेमपूर्वक आपसमें बदला कर लें। पिताजीने जो कुछ आपको दिया है उसे आप मुझे दे दीजिये और जो मुझे दिया है उसे आप ले लीजिये।' भगवान् रामने कहा, 'नहीं, ऐसा नहीं हो सकता; क्योंकि इन वरदानोंकी याचना विशेषरूपसे की गयी है। उसमें मेरे वनवास और तुम्हारे राज्यग्रहणकी स्पष्ट आज्ञा है इसलिये आपसमें बदला नहीं हो सकता। वाल्मीकिरामायणमें आया है कि भरतजीने भगवान्‌से बहुत प्रार्थना की कि 'मुझे भी आप साथ ले चलिये' किन्तु



प्रजा और प्रेमके आदर्श—भरत

उन्होंने साथ ले जाना भी स्वीकार नहीं किया। तब भरतजीने दृढ़तापूर्वक यह प्रतिज्ञा की कि 'यदि आप नहीं लौट चलेंगे तो मैं अपने प्राणोंका त्याग कर दूँगा।' वे दर्भका आसन बिछाकर वहीं जम गये। भगवान्ने बहुत समझाया कि ऐसा आग्रह न करो। अन्तमें वशिष्ठजीने प्रभुके संकेतके अनुसार भरतजीको समझा-बुझाकर इस बातपर राजी किया कि वे भगवान्की चरणपादुका प्राप्त करके उनकी आज्ञाके अनुसार किसी तरह अयोध्यामें चौदह वर्ष बितानेका यत्न करें। भरतने उनकी आज्ञाको शिरोधार्य किया और प्रभुकी चरणपादुका ग्रहण करके उनसे स्पष्ट कह दिया कि यदि चौदह वर्षकी अवधिके पूर्ण हो जानेपर पंद्रहवें वर्षके पहले दिन आप अयोध्यामें न पहुँच पायँगे तो मैं अग्निमें अपने शरीरको होम दूँगा।

भरतजीने नन्दिग्राममें आकर मुनिव्रतसे चौदह वर्ष भगवान्का नाम जपते-जपते बिताये। जब एक ही दिन शेष रह गया तब वे इस प्रकार विलाप करने लगे—

रहेउ एक दिन अवधि अधारा।
समुझत मन दुख भयउ अपारा॥
कारन कवन नाथ नहिं आयउ।
जानि कुटिल किधौं मोहि बिसरायउ॥
अहह धन्य लछिमन बड़भागी।
राम पदारबिंदु अनुरागी॥
कपटी कुटिल मोहि प्रभु चीन्हा।
ताते नाथ संग नहिं लीन्हा॥
जौं करनी समुझै प्रभु मोरी।
नहिं निस्तार कलप सत कोरी॥

बीते अवधि रहहिं जौं प्राना ।
अधम कवन जग मोहि समाना ॥

अन्तिम पदोंमें भरतके विरह और प्रेमका कितना मार्मिक वर्णन है। 'अधम कवन जग मोहि समाना' में दैन्यकी पराकाष्ठा हो गयी है। महाराजके दयालु स्वभावके आधारपर उन्हें इस बातका सन्देह नहीं कि भगवान् ठीक समयपर यहाँ नहीं पहुँच पायेंगे, किन्तु फिर भी वे मन-ही-मन इस प्रकार कल्पना कर रहे थे कि यदि भगवान् न आ पाये तो मेरे प्राण चले जायँगे और यदि नहीं गये एवं मुझे आत्महत्या करनी पड़ी तो मेरे समान संसारमें कोई पापी नहीं। मेरा वह प्रेम दम्भमात्र ही था, क्योंकि यदि उसमें वास्तविकता होती तो दशरथजीकी तरह क्या ये प्राण-पखेरू भी न उड़ जाते। इस प्रकार विलाप करते हुए भरतजीके नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बह रही थी। 'राम राम रघुपति जपत स्रवत नयन जलजात ॥' श्रीभरतजी राम-विरहके अथाह समुद्रमें डूब रहे थे, इतनेमें ही श्रीहनुमान्जी आ पहुँचे, मानो उन्हें डूबनेसे बचानेके लिये नौका आ गयी हो।

राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत ।
बिप्र रूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत ॥

श्रीरामके आगमनके शुभ सन्देशको पवनकुमारके मुखसे सुनकर भरतजीके हृदयमें जो उल्लास उत्पन्न हुआ उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। भरतजी इस सन्देशके उपकार-भारसे दब गये और अपने भावको उन्होंने कृतज्ञताभरे स्वरमें इस प्रकार प्रकट किया—

एहि संदेस सरिस जग माहीं ।
करि बिचार देखेउँ कछु नाहीं ॥

नाहिन तात उरिन मैं तोही ।
अब प्रभु चरित सुनावहु मोही ॥

प्रेमका कैसा ऊँचा आदर्श है । श्रीहनुमान्‌जी भरतजीके इस प्रेम और श्रद्धासे सने सुन्दर भावको देखकर मन-ही-मन कहने लगे कि जिनकी प्रशंसा स्वयं भगवान् करते थे, वे भरत ऐसे क्यों न हों ।

सन्देशके रूपमें भरतजीको प्राण-दान देकर हनुमानजी भगवान् रामके पास लौटे । इधर अयोध्याका सारा जनसमूह भी प्रभुके दर्शनोंके लिये अधीर हो रहा था । विभीषण आदिके साथ प्रभु अयोध्यामें आ पहुँचे ।

अपने गुरु श्रीवशिष्ठजी और सभी ब्राह्मणोंके चरणोंमें मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजीने प्रणाम किया । तदनन्तर श्रीभरतजीने पृथ्वीपर गिरकर बड़े प्रेमसे प्रभुके चरणकमल पकड़ लिये । तब कृपाके समुद्र भगवान् रामने उन्हें बलपूर्वक उठाकर अत्यन्त प्रेमपूर्वक हृदयसे लगा लिया । प्रभुके शरीरमें रोमाञ्च हो आया और प्रेमातिरेकके कारण उनके नेत्रोंमें आँसुओंकी बाढ़ आ गयी ।

परे भूमि नहिं उठत उठाए ।
बर करि कृपासिंधु उर लाए ॥
स्यामल गात रोम भए ठाढ़े ।
नव राजीव नयन जल बाढ़े ॥
प्रभु मिलत अनुजहि सोह मो पहिं जाति नहिं उपमा कही ।
जनु प्रेम अरु सिंगार तनु धरि मिले बर सुषमा लही ॥

वास्तवमें भरतजी प्रेमके अवतार ही थे । श्रद्धाकी भी मानो वे मूर्ति ही थे । उनके प्राणोंकी रक्षा भी उनकी अटूट श्रद्धासे ही

हुई। उन्हें स्वामीकी आज्ञाका पालन करना था। इसलिये विवश होकर भगवान्के वियोगमें उन्हें चौदह वर्षकी लंबी अवधि बितानी पड़ी। किन्तु अवधिके समाप्ति-कालमें उनकी कैसी विलक्षण दशा हुई—यह ऊपर बतलाया ही जा चुका है।

उधर प्रेमके सच्चे मर्मज्ञ—श्रद्धाके एकमात्र आधार भगवान् राम भी भरतको देखनेके लिये अधीर हो उठे थे। रावणकी मृत्युके उपरान्त विभीषणने भगवान्से प्रार्थना की कि वे कुछ दिन और लंकामें विराजें। प्रभुने कहा—

तोर कोस गृह मोर सब सत्य बचन सुनु भ्रात।
भरत दसा सुमिरत मोहि निमिष कल्प सम जात॥

भरतकी दशाका स्मरण करके भगवान्का एक-एक निमिष कल्पके समान बीतना स्वाभाविक ही है। क्योंकि 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'के अनुसार जब भरत उनके विरहके सन्ताप-को नहीं सह सकते तो भगवान्को भी उनसे मिले बिना चैन कैसे मिल सकता है? उन्होंने अपने ही श्रीमुखसे भरतकी दशाका फिर इस प्रकार वर्णन किया—

बीतें अवधि जाउँ जौं जिअत न पावउँ बीर।
सुमिरत अनुज प्रीति प्रभु पुनि पुनि पुलक सरीर॥

'जिअत न पावउं बीर' में भरतके प्रेमकी पराकाष्ठा हो जाती है। हमें भी श्रीभरतजीकी तरह भगवान्के अनन्य प्रेमी और परम श्रद्धालु बननेका प्रयत्न करना चाहिये।

नामकी अनन्त महिमा

श्रीभगवान्के नामकी महिमा अनन्त है और वह बड़ी ही रहस्यमयी है। शेष, महेश, गणेशकी तो बात ही क्या, जब स्वयं भगवान् भी अपने नामकी महिमा नहीं गा सकते—'राम न सकहिं नाम गुन गाईं' तब मुझ-सरीखा साधारण मनुष्य नाम-महिमापर क्या कह सकता है? परन्तु महापुरुषोंने किसी भी निमित्तसे भगवान्के गुण गाकर काल बितानेकी बड़ी प्रशंसा की है, इसी हेतुसे नाम-महिमापर यत्किञ्चित् लिखनेकी चेष्टा की जाती है।

भगवन्नामकी महिमा सभी युगोंमें सदा ही सभी साधनोंसे अधिक है; परन्तु कलियुगमें तो नामकी महिमा सर्वोपरि है—

ध्यायन्कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ सङ्कीर्त्य केशवम्॥

(विष्णुपु० ६।२।१७)

'सत्ययुगमें ध्यान करनेसे, त्रेतामें यज्ञ करनेसे, द्वापरमें पूजा करनेसे जो फल प्राप्त होता है वही फल कलियुगमें केवल श्रीकेशवके कीर्तनसे मनुष्य प्राप्त कर लेता है।'

श्रीनारदपुराणमें तो यहाँतक कहा गया है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम् ।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥
(१ । ४१ । ११५)

'कलियुगमें केवल श्रीहरिका नाम ही—हरिका नाम ही—हरिका नाम ही परम कल्याण करनेवाला है, इसको छोड़कर अन्य कोई उपाय नहीं है।'

इसका यही अभिप्राय है कि कर्म, योग, ज्ञान आदि साधनोंका साङ्गोपाङ्ग सम्पन्न होना इस युगमें अत्यन्त ही कठिन है। फिर, भगवन्नाम बड़ा ही सुगम साधन है; इसके सभी अधिकारी हैं, सभी इसको समझ सकते हैं, यह सबको सुलभ है, मूर्ख-से-मूर्ख मनुष्य भी नामका जप-कीर्तन कर सकते हैं। इसमें न कोई खर्च है, न परिश्रम है। किसी प्रकारकी बाधा भी अभीतक नहीं है। इतनी सुगमता होनेके साथ ही सबसे बड़ी बात यह है कि इसमें कोई भी शर्त नहीं है—

साङ्केत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा ।
वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः ॥
पतितः स्खलितो भग्नः सन्दष्टस्तप्त आहतः ।
हरिरित्यवशेनाह पुमान्नार्हति यातनाम् ॥
(श्रीमद्भा० ६ । २ । १४-१५)

महात्मा पुरुष यह बात जानते हैं कि 'पुत्रादिके सङ्केतसे हो, हँसीसे हो, स्तोभसे (गीतका आलाप पूर्ण करनेके लिये) हो और अवहेलना या अवज्ञासे हो, वैकुण्ठ भगवान्‌का नामोच्चारण सम्पूर्ण पापोंका नाश कर देता है। जो मनुष्य ऊँचे स्थानसे गिरते समय,

मार्गमें पैर फिसल जानेपर, अङ्ग-भङ्ग हो जानेपर, सर्पादिद्वारा डसे जानेपर, ज्वरादिसे तप्त होनेपर अथवा युद्धादिमें घायल होनेपर विवश होकर भी 'हरि' (इतना ही) कहता है वह नरकादि किसी भी यातनाको नहीं प्राप्त होता ।'

अवशेनापि यन्नाम्नि कीर्तिते सर्वपातकैः ।
पुमान् विमुच्यते सद्यः सिंहत्रस्तैर्मृगैरिव ॥

(विष्णुपु० ६ । ८ । १९)

'विवश होकर भी जिस हरिके नामका कीर्तन करनेपर मनुष्य सम्पूर्ण पापोंसे वैसे ही छूट जाता है यानी उसके सम्पूर्ण पाप उसी तरह भाग जाते हैं जैसे सिंहसे डरकर हरिन भाग जाते हैं ।'

गोसाईंजी महाराजने रामचरितमानसमें कहा है—

भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ । नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ ॥

प्रश्न—यदि ऐसी ही बात है, किसी प्रकारसे भी नाम लेनेपर पापोंका नाश होकर भगवत्प्राप्ति हो जाती है तो फिर श्रद्धा, प्रेम और निष्कामभाव आदिकी शर्तें क्यों लगायी जाती हैं ?

उत्तर—श्रद्धा आदिकी शर्तें शीघ्र प्राप्तिके लिये हैं । प्राप्ति तो नाम लेनेवाले सभीको होगी, परन्तु जो श्रद्धा, प्रेम तथा निष्काम भावसे नाम जपेगा उसको बहुत शीघ्र प्राप्ति होगी ।

मनुमहाराजने कहा है—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः ।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः ॥

(२ । ८५)

'दर्शपौर्णमासादि विधियज्ञोंसे साधारण (जोर-जोरसे किया जानेवाला) जपयज्ञ दसगुना श्रेष्ठ है, उपांशु सौगुना श्रेष्ठ है और मानस जप हजारगुना श्रेष्ठ है।' और जो जप केवल भगवत्-प्राप्तिके उद्देश्यसे प्रेम और श्रद्धापूर्वक किया जाता है उसका फल तो अनन्तगुना श्रेष्ठ है। उसकी तो कोई सीमा ही नहीं है। यहाँतक कि यदि मनुष्य भगवान्‌के अनन्य प्रेममें विह्वल होकर एक बार भी भगवान्‌का नामोच्चारण कर लेता है, तो श्रीभगवान् तुरंत ही वहाँ प्रकट होकर उसे दर्शन दे सकते हैं।

प्र०—अपनी समझसे तो लोग प्रेमपूर्वक ही भगवान्‌के नामका जप करते हैं, फिर भी भगवान्‌के दर्शन नहीं होते इसमें क्या कारण है? यदि प्रेमकी कमी ही इसका कारण माना जाय तो फिर उस कमीकी पूर्ति कैसे होगी?

उ०—प्रेमभावसे जप करते-करते ही उस प्रेमकी प्राप्ति हो सकती है जिसमें विह्वल होकर एक बार भी नामोच्चारण करनेसे भगवान् दर्शन दे सकते हैं।

प्र०—ऐसे सकाम प्रेमसे भगवान् प्रकट हो सकते हैं या निष्कामसे?

उ०—प्रेमका बाहुल्य हो तो सकामसे भी भगवान् प्रकट हो सकते हैं। परन्तु वह सकाम प्रेम भी द्रौपदी या गजेन्द्रका-सा अनन्य होना चाहिये। और जब सकामसे भगवान् प्रकट हो सकते हैं तब निष्कामके लिये तो कहना ही क्या है?

प्र०—नामके सम्बन्धमें ऐसा श्लोक मिलता है—

नाम्नोऽस्ति यावती शक्तिः पापनिर्हरणे हरेः ।
श्वपचोऽपि नरः कर्तुं क्षमस्तावन्न किल्बिषम् ॥
(अनुस्मृति ९९)

'श्रीहरिके नाममें पाप नाश करनेकी जितनी शक्ति है, उतने पाप करनेमें चाण्डाल भी समर्थ नहीं है ।'

और इसमें मानस नामजपकी या प्रेमपूर्वक जपकी कोई शर्त भी नहीं है । फिर पापोंका नाश होता क्यों नहीं दीखता ?

उ०—नाम-महिमामें विश्वास नहीं है, और नामापराधयुक्त नाम-जप होता है । नामके दस अपराध हैं, उन अपराधोंसे युक्त जप होनेसे जपका बहुत-सा अंश उन अपराधोंके नाशमें ही लग जाता है। तथापि यदि मनुष्य विश्वासपूर्वक नाम-जप करता रहे तो जप करते-करते नामापराधोंका भी नाश हो सकता है, और सारे पाप नष्ट होकर भगवत्प्राप्ति भी हो सकती है ।

प्र०—एक मनुष्य मृत्युकालमें भगवान्‌के नामका उच्चारण तो करता है; परन्तु भगवान्‌के स्वरूपका ध्यान नहीं करता । ऐसी अवस्थामें उसे दूसरे जन्ममें नामकी प्राप्ति होगी—स्वरूपकी तो होगी नहीं । फिर अन्तकालके नामोच्चारणसे मुक्तिका होना कैसे माना जाता है ?

उ०—भगवान् नामके अधीन हैं, नाममें यह शक्ति है कि वह नामी भगवान्‌का साक्षात्कार करा देता है इसलिये मुक्ति प्राप्त होनेमें कोई भी अड़चन नहीं है । श्रीचैतन्य महाप्रभुने कहा है—

नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्ति-
स्तत्रार्पिता नियमितः स्मरणे न कालः ।
एतादृशी तव कृपा भगवन्ममापि
दुर्दैवमीदृशमिहाजनि नानुरागः ॥

'हे भगवन् ! आपने अपने अनेकों नाम प्रकाशित किये और उनमें अपनी सम्पूर्ण शक्ति अर्पित कर दी । नाम-स्मरणमें कालका भी कोई नियम नहीं रक्खा । आपकी तो ऐसी असीम कृपा और मेरा ऐसा दुर्भाग्य कि नाममें मेरा अनुराग ही नहीं हुआ ।'

प्र०—शास्त्र तो कहते हैं कि—'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' ज्ञानके बिना मुक्ति नहीं होती, फिर नाम-जपसे मुक्तिका होना कैसे माना जाय ?

उ०—नामी भगवान्‌को यथार्थ तत्त्वसे जान लेना यानी भगवान् जैसे हैं वैसे ही उनको जान लेना ज्ञान है । और नामीको यथार्थ तत्त्वसे जना देनेकी नाममें शक्ति है । फिर मुक्ति होनेमें क्या सन्देह रहा ?

प्र०—स्नानादि करके अच्छी तरह पवित्र होकर विधिपूर्वक नाम-जप करना चाहिये या विधि-अविधिकी कुछ भी परवा न करके ? और इसी प्रकार नाम-जप नियत संख्यामें करना चाहिये या जितना मन हो उतना ही ?

उ०—भगवान्‌के नामकी यह महिमा है कि उसे कोई किसी प्रकार भी क्यों न ले, उसका फल होता ही है। खेतमें चाहे जैसे भी बीज डाल दिये जायँ वे उगते ही हैं, परन्तु विधिपूर्वक जप करनेका विशेष महत्त्व है । यही बात

संख्याके सम्बन्धमें जाननी चाहिये। विधिपूर्वक और संख्या-युक्त जप करनेसे जपका यथार्थ आदर-सत्कार होता है। और सत्कारपूर्वक किया हुआ साधन विशेष फलदायक होता ही है। विधि और संख्याका नियम होनेसे ठीक समयपर उतना जप हो ही जाता है। जो विधि या संख्याका बन्धन नहीं मानते, वे भूलसे जप छोड़ भी देते हैं। अवश्य ही स्वाभाविक ही जिनके द्वारा आठों पहर नाम-जप होता है, उनके लिये कोई विधि नहीं है।

प्र०—महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

तस्य वाचकः प्रणवः। (१।२७)
तज्जपस्तदर्थभावनम्। (१।२८)
ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च। (१।२९)

'उस परमात्माका वाचक (नाम) ओंकार है। उसके नामका जप और उसके अर्थकी भावना यानी स्वरूपका चिन्तन करना। ऐसा करनेसे सम्पूर्ण विघ्नोंका नाश और परमात्माकी प्राप्ति भी होती है।'

परन्तु जब केवल नाम-जपसे ही भगवत्प्राप्ति हो सकती है तब अर्थसहित जपकी क्या आवश्यकता है?

उ०—जप अर्थसहित करनेसे बहुत शीघ्र लाभ होता है। जैसे किसी हौजमें दो नालोंसे जल आ सकता है। परन्तु उनमें एक खुला है, दूसरा बंद है। एक नालेसे आनेवाले जलसे हौज दो घंटे-में भरता है, पर यदि दूसरा नाला खोल दिया जाय तो हौज दो घंटेके बदले एक ही घंटेमें भर सकता है। इसी प्रकार अर्थसहित जप करनेसे शीघ्र लाभ हो जाता है।

प्र०—वेद, उपनिषद् और गीतामें प्रणव (ॐ) की महिमा बहुत मिलती है। क्या भगवान्‌के अन्य नामोंकी भी ऐसी ही महिमा है ?

उ०—भगवान्‌के सभी नाम परम कल्याणकारक हैं। राम, कृष्ण, हरि, नारायण, दामोदर, शिव, शङ्कर आदि नामोंकी तो बात ही क्या है, अन्यधर्मीय लोगोंके अल्लाह, खुदा आदि नामोंकी भी बड़ी महिमा है। भगवान्‌को कोई किसी भी नामसे पुकारे, वे सबकी भाषा समझते हैं। पुकारनेवालेके ध्यानमें यह बात होनी चाहिये कि मैं भगवान्‌को पुकार रहा हूँ। फिर नाम चाहे कोई भी हो। अप्, जल, पानी, नीर, वाटर आदि किसी भी नामसे पुकारे, उसे जल ही मिलता है, इसी प्रकार भगवान्‌के नामोंको समझना चाहिये। इतना होनेपर भी जप करनेवाले साधकको जिस नाममें विशेष रुचि, प्रेम और विश्वास होता है उसके लिये वही विशेष लाभप्रद होता है। राम और कृष्ण नाममें कोई अन्तर नहीं; परन्तु तुलसीदास-जीको 'राम' नाम प्यारा था और सूरदासजीको 'कृष्ण' नाम। श्रद्धा और प्रेमके तारतम्यके अनुसार ही नामका फल भी न्यूनाधिक हो जाता है।

नामकी महिमा सभी शास्त्रोंमें गायी गयी है। जिसको जिस नाममें प्रेम हो वह उसी नामका जप-कीर्तन कर सकता है। न जपनेवालेकी अपेक्षा तो वह भी बहुत श्रेष्ठ है जो दुःखनाश, भोगोंकी प्राप्ति और मान-बड़ाई आदिके लिये नाम-जप करता है। परन्तु नामके बदलेमें जो उपर्युक्त लौकिक फल चाहता है वह है बड़ी ही गलतीमें। वास्तवमें वह ठगा ही जाता है। भगवान्‌के जिस एक नामके सामने

तीनों लोकोंका सम्पूर्ण ऐश्वर्य भी कुछ नहीं, उस नामको तुच्छ विषयोंके बदले गवाँ देना बुद्धिमानी नहीं है। तीनों लोकोंका राज्य अनित्य है, भगवान्‌के नामका फल नित्य है। नाम-जपका फल तो भगवत्-प्राप्ति ही है। कुछ प्रेमी महात्मा तो ऐसे होते हैं जो नाम-जप केवल नाम-जपके लिये ही करते हैं। वे भगवत्प्राप्तिरूप फल भी नहीं चाहते। अतएव भगवान्‌के किसी भी नामका जप किया जाय सभी नाम मङ्गलमय हैं; पर निष्काम तथा प्रेमभावसे जपनेका विशेष महत्त्व है। श्रीभगवान्‌ने गीतामें सब यज्ञोंसे ज्ञानयज्ञको श्रेष्ठ बतलाया है।

> श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
> सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥
> (४। ३३)

'हे अर्जुन! सांसारिक वस्तुओंसे सिद्ध होनेवाले द्रव्यमय यज्ञसे ज्ञानरूप यज्ञ सब प्रकारसे श्रेष्ठ है; क्योंकि हे पार्थ! सम्पूर्ण यावन्मात्र कर्म ज्ञानमें ही शेष होते हैं अर्थात् ज्ञान ही उनकी पराकाष्ठा है।'

इस प्रकार ज्ञानयज्ञको सबमें श्रेष्ठ बतलाया; परन्तु उसे अपना स्वरूप नहीं बतलाया। लेकिन जपयज्ञको तो 'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि' (गीता १०। २५) कहकर यही कह दिया है कि 'सब प्रकारके यज्ञोंमें जपयज्ञ तो मैं ही हूँ।'

अतएव भगवान्‌के किसी भी नामका जप किसी भी कालमें किसी भी निमित्तसे किसीके भी द्वारा कैसे भी किया जाय, वह परम कल्याण करनेवाला ही है। फिर जो श्रद्धा-प्रेमपूर्वक अर्थ-सहित निष्कामभावसे और गुप्तरूपसे नाम-जप किया जाता है,

वह तो उसी क्षण परम कल्याणरूप फल देनेवाला होता है। भगवत्प्राप्ति तो किसी प्रकार भी नाम-जप करनेसे हो जाती है, परन्तु वह कालान्तरमें होती है। हाँ, अन्त समयके लिये कोई शर्त नहीं है। भगवान् परम दयालु हैं, उन्होंने दया करके ही जीवको यह मोक्षोपयोगी मनुष्य-शरीर दिया है और उन्हीं दयामयने यह विधान भी कर दिया है कि अन्तकालमें किसी प्रकार भी जो मेरा नाम-स्मरण कर लेगा उसे मेरी प्राप्ति हो जायगी। किसीको फांसीकी आज्ञा होनेपर जब साधारण राजनियमके अनुसार भी मृत्युसे पहले उस मनुष्यकी इच्छा पूर्ण करनेका सुभीता कर दिया जाता है तब परम दयालु परम सुहृद् सर्वसमर्थ प्रभु मनुष्य-जीवनके अन्त-कालमें जीवके साथ ऐसा दयाका बर्ताव करें, यह उचित ही है।

ऐसे परम कारुणिक परम प्रेमी सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापी पर-मात्माको बिसारकर एक क्षणके लिये भी दूसरी वस्तुका भजन या सेवन करना महान् मूर्खताके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। भगवान्‌ने स्वयं चेतावनी देते हुए कहा है—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।

(गीता ९।३३)

'तू सुखरहित और क्षणभङ्गुर इस मनुष्यशरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन कर।'

इस कथनसे यह ध्वनि निकलती है कि यह शरीर बहुत ही दुर्लभ है, परन्तु है नाशवान् और सुखरहित। दुर्लभता इसीलिये है कि इस शरीरसे ही परम कल्याण हो सकता है। ऐसे शरीरको पाकर तो सब समय भगवानका भजन ही करना चाहिये। भजन नहीं किया जायगा, और अज्ञानसे सुखरूप भासनेवाले विषयभोगोंमें

मन फँस जायगा तो सुख तो मिलेगा ही नहीं (क्योंकि भगवान्‌को छोड़कर जगत्‌में कहीं सुख है ही नहीं, यह तो सुखरहित ही है) और शीघ्र ही शरीरका नाश हो जानेसे मनुष्यशरीरमें मुक्तिका अधिकाररूप हाथमें आया हुआ सुअवसर भी निकल जायगा।

यह स्मरण रखना चाहिये कि संसारमें भगवान्‌के भजनके समान और कोई वस्तु है ही नहीं। इस तत्त्वको जो जान लेते हैं वे तो एक क्षणके लिये भी भगवान्‌को नहीं भूल सकते। भगवान्‌ने कहा है—

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥

(गीता १५। १९)

'हे भारत! इस प्रकार तत्त्वसे जो ज्ञानी पुरुष मुझको पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वरको ही भजता है।' क्योंकि अनन्त ब्रह्माण्डोंके समस्त ऐश्वर्यसुखको एक ओर रक्खा जाय और भगवान्‌का क्षणकालका जप या स्मरण एक ओर रक्खा जाय तो भी वह उस जप-कीर्तन-की बराबरी नहीं कर सकता। असंख्य ब्रह्माण्ड तो भगवान्‌के एक अंशमें ही स्थित हैं। भगवान्‌के समान तो भगवान् ही हैं। और भगवान्‌का नाम भगवान्‌से अभिन्न है। इसलिये नाम-जपके साथ किसीकी तुलना नहीं हो सकती। अतएव हम सब लोगोंको श्रद्धा-पूर्वक निष्काम प्रेमभावसे नित्य-निरन्तर भगवान्‌के नामका ही जप-कीर्तन और स्मरण करना चाहिये।

ध्यान-साधन

भेद और अभेद दोनों ही निष्ठाओंमें ध्यान सबसे आवश्यक और महत्त्वपूर्ण साधन है। श्रीभगवान्ने गीतामें ध्यानकी बड़ी महिमा गायी है। जहाँ कहीं उनका उच्चतम उपदेश है, वहीं उन्होंने मनको अपनेमें (भगवान्में) प्रवेश करा देनेके लिये अर्जुनके प्रति आज्ञा की है। योगशास्त्रमें तो ध्यानका स्थान बहुत ऊँचा है ही। ध्यानके प्रकार बहुत-से हैं। साधकको अपनी रुचि, भावना और अधिकारके अनुसार तथा अभ्यासकी सुगमता देखकर किसी भी एक प्रकारसे ध्यान करना चाहिये। यह स्मरण रखना चाहिये कि निर्गुण-निराकार और सगुण-साकार भगवान् वास्तवमें एक ही हैं। एक ही परमात्माके अनेक दिव्य प्रकाशमय स्वरूप हैं। हम उनमेंसे किसी भी एक स्वरूपको पकड़कर परमात्माको पा सकते हैं, क्योंकि वास्तवमें परमात्मा उससे अभिन्न ही है। भगवान्के परम भावको समझकर किसी भी प्रकारसे उनका ध्यान किया जाय, अन्तमें प्राप्ति उस एक ही भगवान्की होगी जो सर्वथा अचिन्त्यशक्ति, अचिन्त्यानन्तगुणसम्पन्न, अनन्त दयामय, अनन्तमहिम, सर्वव्यापी, सृष्टिकर्ता, सर्वरूप, स्वप्रकाश, सर्वात्मा, सर्वद्रष्टा, सर्वोपरि, सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, सर्वसुहृद, अज, अविनाशी, अकर्ता, देशकालातीत, सर्वातीत, गुणातीत, रूपातीत, अचिन्त्यस्वरूप और नित्य स्वमहिमामें ही प्रतिष्ठित, सदसद्विलक्षण एकमात्र परम और चरम सत्य हैं। अतएव साधकको इधर-उधर मन न भटकाकर अपने इष्टरूपमें महान् आदर-बुद्धि रखते हुए परम भावसे उसीके ध्यानका अभ्यास करना चाहिये।

श्रीमद्भगवद्गीताके छठे अध्यायके ग्यारहवेंसे तेरहवें श्लोक-तकके वर्णनके अनुसार एकान्त, पवित्र और सात्त्विक स्थानमें सिद्ध, स्वस्तिक, पद्मासन या अन्य किसी सुखसाध्य आसनसे बैठकर, नींदका डर न हो तो आँखें मूँदकर, नहीं तो आँखोंको भगवान्की मूर्तिपर लगाकर अथवा आँखोंकी दृष्टिको नासिकाके अग्रभागपर जमाकर प्रतिदिन कम-से-कम तीन घंटे, दो घंटे या एक घंटे—जितना भी समय मिल सके—सावधानीके साथ लय, विक्षेप, कषाय, रसास्वाद, आलस्य, प्रमाद, दम्भ आदि दोषोंसे बचकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक तत्परताके साथ ध्यानका अभ्यास करना चाहिये। ध्यानके समय शरीर, मस्तक और गला सीधा रहे और रीढ़की हड्डी भी सीधी रहनी चाहिये। ध्यानके लिये समय और स्थान भी सुनिश्चित ही होना चाहिये।

(१)

ऊपर लिखे अनुसार एकान्तमें आसनपर बैठकर साधकको दृढ़ निश्चयके साथ नीचे लिखी धारणा करनी चाहिये—

'एक सत्य सनातन असीम अनन्त विज्ञानानन्दघन पूर्ण ब्रह्म परमात्मा ही परिपूर्ण हैं। उनके सिवा न तो कुछ है, न हुआ और न होगा। उन परब्रह्मका ज्ञान भी उन परब्रह्मको ही है, क्योंकि वे ज्ञानस्वरूप ही हैं। उनके अतिरिक्त और जो कुछ भी प्रतीत होता है सब कल्पनामात्र है। वस्तुतः वे ही वे हैं।'

इसके अनन्तर चित्तमें जिस वस्तुका भी स्फुरण हो, उसीको कल्पनारूप समझकर उसका त्याग (अभाव) कर दे। एक परमात्माके सिवा और किसीकी भी सत्ता न रहने दे। ऐसा निश्चय करे कि जो कुछ प्रतीत होता है, वह वस्तुतः है नहीं। स्थूल शरीर, ज्ञानेन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि कुछ भी नहीं है। यों अभाव

करते-करते सबका अभाव हो जानेपर अन्तमें सर्वको अभाव करनेवाली एक शुद्धा वृत्ति रह जाती है। परन्तु अभ्यासकी दृढ़तासे दृश्य प्रपञ्चका सुनिश्चित अभाव होनेपर आगे चलकर वह भी अपने-आप ही शान्त हो जाती है। उस शुद्धा वृत्तिका त्याग करना नहीं पड़ता, अपने-आप ही हो जाता है। यहाँ त्याग, त्यागी और त्याज्यकी कल्पना सर्वथा नहीं रह जाती। इसीलिये वृत्तिका त्याग किया नहीं जाता, वह वैसे ही हो जाता है; जैसे इंधनके अभावमें आगका। इसके अनन्तर जो कुछ बच रहता है वही विज्ञानानन्दघन परमात्मा है। वह असीम, अनन्त नित्य बोधस्वरूप, सत्य और केवल है। वही 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' है। वह परम आनन्दमय है। परिपूर्ण ज्ञानानन्दमय है; परन्तु वह आनन्दस्वरूप बुद्धिगम्य नहीं है, अचिन्त्य है—केवल अचिन्त्य है।

इस प्रकार विचारपूर्वक दृश्यप्रपञ्चका पूर्णतया अभाव करके अभाव करनेवाली वृत्तिको भी ब्रह्ममें लीन कर देना चाहिये।

(२)

सम्पूर्ण जगत् मायामय है। एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा ब्रह्म ही सत्य तत्त्व हैं; उनके सिवा जो कुछ प्रतीत होता है, सब अनात्म है, अवस्तु है। उनके सिवा कोई वस्तु है ही नहीं। काल और देश भी उनके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। एकमात्र वही है और उनका वह ज्ञान भी उन्हींको है। वे नित्य ज्ञानस्वरूप, सनातन, निर्विकार, असीम, अपार, अनन्त, अकल और अनवद्य परमानन्दमय हैं। वे सदसद्विलक्षण अचिन्त्यानन्दस्वरूप हैं।

इस प्रकार सम्पूर्ण अनात्मवस्तुओंका अभाव करके उनके आनन्दमय स्वरूपमें वृत्तिको जमा दे। बार-बार आनन्दकी आवृत्ति

करता हुआ साधक ऐसा दृढ़ निश्चय करे कि वह असीम आनन्द है, घनानन्द है, अचलानन्द है, शान्तानन्द है, कूटस्थ आनन्द है, ध्रुवानन्द है, नित्यानन्द है, बोधस्वरूपानन्द है, ज्ञानस्वरूपानन्द है, परमानन्द है, महान् आनन्द है, अनन्त आनन्द है, अव्ययानन्द है, अनामयानन्द है, अकलानन्द है, अमलानन्द है, अजानन्द है, चिन्मयानन्द है, केवलानन्द है, एकमात्र आनन्द-ही-आनन्द—परिपूर्णानन्द है। आनन्दके सिवा और कुछ भी नहीं है।

इस प्रकार आनन्दमय ब्रह्मका चिन्तन करता हुआ साधक अपने मन-बुद्धिको नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्मामें विलीन कर दे।

(३)

जैसे कमरेमें रक्खे हुए घड़ेका आकाश (घड़ेके अंदरकी पोल) कमरेके आकाशसे भिन्न नहीं है और कमरेका आकाश उस महान् सुविस्तृत आकाशसे भिन्न नहीं है। कमरे और घड़ेकी उपाधिसे ही घटाकाश-मठाकाशभेदसे छोटे-बड़े बहुत-से आकाश प्रतीत होते हैं, वस्तुतः सभीको अपने ही अंदर अवकाश देनेवाला, एक ही महान् आकाश सर्वत्र परिपूर्ण है। घड़ेका क्षुद्र-सा दिखलायी देनेवाला आकाश यदि अपनी घटाकार उपाधिरूप अल्प सीमाको त्यागकर एक महान् आकाशमें स्थित होकर—जो उसका वास्तविक स्वरूप है—उसको महान् दृष्टिसे देखे तो उसको पता लगेगा कि सब कुछ उसीमें कल्पित है; सबके अंदर-बाहर केवल वही भरा है। अंदर-बाहर ही नहीं, घड़ेका निर्माण जिस उपादान-कारणसे हुआ है, वह उपादानकारण भी मूलमें वस्तुतः वही है। उसके सिवा और कुछ है ही नहीं। वैसे ही एक ही चेतन आत्मा सर्वत्र परिपूर्ण है। उपाधिभेदसे ही यह विभिन्नता प्रतीत होती

है। साधकको चाहिये कि इस प्रकार विचार करके वह व्यष्टि-शरीरमेंसे आत्मरूप 'मैं' को निकालकर चिन्मय समष्टिरूप परमात्मामें स्थित हो जाय और फिर उसके समष्टिबुद्धिरूप नेत्रोंसे समस्त विश्वको अपने शरीरसहित उसीमें कल्पित देखे। और यह भी देखे कि इसमें जो कुछ भी क्रिया हो रही है, सब परमात्माके ही अंदर परमात्माके ही संकल्पसे हो रही है। सबका निमित्त और उपादानकारण केवल परमात्मा ही है। वही सर्वरूप है। और मैं उससे अभिन्न हूँ।

असलमें जड, परिणामी, शून्य, विकारी और सीमित, अनित्य आकाशके साथ चेतन, सदा एकरस, सच्चिदानन्दघन, निर्विकार और असीम तथा नित्य परमात्माकी तुलना ही नहीं हो सकती। यह दृष्टान्त तो केवल आंशिकरूपसे समझनेके लिये ही है। उपर्युक्त ध्यान व्यवहारकालमें भी किया जा सकता है।

(४)

साधक मानस मूर्ति बनाकर इस प्रकार ध्यान करे—

अपने सामने जमीनसे कुछ ऊँचेपर सुन्दर तेजपूर्ण दिव्य आसनपर भगवान् विष्णु विराजमान हैं। नील मेघके समान नील श्याम और नील मणिके समान चमकदार मनोहर नील वर्ण है। भगवान्के सभी अङ्ग परम सुन्दर हैं और प्रत्येक अङ्ग अपनी मनोहरतासे चित्तको अपनी ओर खींच रहा है। भगवान्के चरणारविन्द बड़े ही मनोहर हैं, चरणनखोंकी सहस्रों चन्द्रमाओंकी-सी मधुर ज्योति नील चरणोंपर पड़कर अनन्त शोभा पा रही है। चरणोंमें रत्नजटित बजनेवाले नूपुर हैं। सुन्दर जानु और कदलीखम्भ-

सी चिकनी-चमकीली जंघाएँ हैं। मेघश्याम नीलपद्मवर्ण शरीरपर सुवर्णवर्ण पीताम्बर सुशोभित है। कमरमें रत्नमण्डित करधनी है। सुन्दर चार लंबी भुजाएँ हैं। दाहिने ऊपरके हाथमें अत्यन्त उज्ज्वल तीक्ष्ण किरणधारोंसे युक्त चक्र है और नीचेके हाथमें कौमोदकी गदा है। बायें ऊपरके हाथमें सुन्दर श्वेत, विशाल और विजयी पाञ्चजन्य शङ्ख और नीचेके हाथमें सुन्दर रक्तवर्ण कमल सुशोभित है। भुजाओंमें यथास्थान रत्नोंके कड़े, बाजूबंद शोभा पा रहे हैं। हाथोंकी अँगुलियोंमें विविध रत्नोंकी अँगूठियाँ हैं। भगवान्‌का वक्षःस्थल विशाल और परम सुन्दर है। उसमें श्रीवत्स और भृगुलताका चिह्न सुशोभित है। गलेमें रत्नोंका हार, मुक्ताओं-की माला, हृदयपर कौस्तुभमणि, तुलसीयुक्त मनोहर सुगन्धपूर्ण पुष्पमाला और वैजयन्तीमाला विभूषित हैं। भगवान्‌के ऊँचे विशाल कंधे हैं। नील कमलके समान सुन्दर भगवान्‌का गला अत्यन्त मनोहर है। मनोहर चिबुक है। लाल-लाल अधर—ओष्ठ हैं। अति सुन्दर चमकीली दन्त-पंक्ति है। भगवान् मन्द-मन्द मुसकरा रहे हैं। भगवान्‌की सुन्दर नुकीली नासिका है। रमणीय मनोहर सुन्दर चमकीले कपोल हैं। दोनों कानोंमें अत्यन्त सुन्दर रत्नजटित मकरा-कृति कुण्डल झलमला रहे हैं। कमलके समान विशाल और प्रफुल्लित नेत्र हैं। उनसे स्वाभाविक ही दया, प्रेम, शान्ति, ज्ञान, आनन्द और समत्वकी ज्योतिधारा बह रही है। विशाल, उन्नत और प्रकाशमान ललाटपर ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक सुशोभित है। काले घुँघराले मुनिमनहारी केश हैं। मस्तकपर देदीप्यमान रत्नजटित दिव्य किरीट शोभा पा रहा है। भगवान्‌के चारों ओर अनन्त सूर्योंका-सा परन्तु शीतल प्रकाश छा रहा है और उसमेंसे आनन्द-का समुद्र उमड़ रहा है।

(५)

अनन्त क्षीरसमुद्रके अंदर अनन्तदेव श्रीशेषनागजी हैं, उनके एक हजार मस्तक हैं और उन सभीपर वे मुकुट धारण किये हुए हैं। उनके कमलनालके समान सफेद शरीरपर नीलवर्णका सुन्दर वस्त्र है। उनका कमनीय कलेवर हजार शिखरोंवाले कैलासपर्वतके समान है। उन शेषजीकी शय्या बनाकर भगवान् श्रीविष्णु सुख-पूर्वक शयन कर रहे हैं। मेघके समान मनोहर नीलवर्ण है। रेशमी पीताम्बर धारण किये हुए हैं। उनके बड़े ही सुन्दर चरणकमल हैं, जो कोमल अँगुलियों और अँगूठोंसे शोभायमान हैं। चरणकमल मनोहर सुन्दर गुल्फोंसे युक्त हैं और अरुणवर्ण नखोंकी ज्योतिसे झलमला रहे हैं। चरणोंमें मनोहर नूपुर हैं। उनका सुन्दर कटि-प्रदेश है। कटिमें मनोहर करधनी है। दो सुन्दर जानु हैं और मनोहर जंघाएँ हैं। त्रिवलीयुक्त उदर अत्यन्त शोभायमान है। गम्भीर नाभि है। वक्षःस्थलमें श्रीलक्ष्मीजी विराजमान हैं। चार विशाल, लंबी और स्थूल भुजाएँ हैं। भुजाओंमें कड़े और बाजूबंद, हृदयपर हार सुशोभित हैं। सुन्दर गला है, मनोहर चिबुक है। मुख अति मनोहर और सुप्रसन्न है। मुसकानमयी चितवन चित्त हर लेती है। भृकुटी और नासिका ऊँची और सुहावनी हैं। मनोहर कान, कपोल, ललाट और अरुण अधर सुशोभित हैं। कानोंमें रत्नजटित मकराकृति कुण्डल हैं। नेत्र कमलदलके समान विशाल और मधुर अरुणवर्ण हैं। मस्तकपर सुन्दर सुवर्णमुकुट शोभित है। अत्यन्त शान्तमूर्ति हैं। उनके अङ्ग-अङ्गसे आनन्दकी ज्योति विकसित हो रही है।

(६)

मिथिलापुरीमें महाराज जनकके दरबारमें भगवान् श्रीरामजी

अपने छोटे भाई श्रीलक्ष्मणजीके साथ पधारते हैं। भगवान् श्रीराम नवनीलनीरद दूर्वाके अग्रभागके समान हरित आभायुक्त सुन्दर श्याम-वर्ण और श्रीलक्ष्मणजी स्वर्णाभ गौरवर्ण हैं। दोनों इतने सुन्दर हैं कि जगत्की सारी शोभा और सारा सौन्दर्य इनके सौन्दर्यसमुद्रके सामने एक जलकण भी नहीं है। किशोर-अवस्था है। धनुष-बाण और तरकस धारण किये हुए हैं। कमरमें सुन्दर दिव्य पीताम्बर है। गलेमें मोतियोंकी, मणियोंकी और सुन्दर सुगन्धित तुलसी-मिश्रित पुष्पोंकी मालाएँ हैं। विशाल और बलकी भण्डार सुन्दर भुजाएँ हैं, जो रत्नजटित कड़े और बाजूबंदसे सुशोभित हैं। ऊँचे और पुष्ट कंधे हैं, अति सुन्दर चिबुक है, नुकीली नासिका है। कानोंमें झूमते हुए मकराकृति सुवर्णकुण्डल हैं। सुन्दर अरुणिमायुक्त कपोल हैं। लाल-लाल अधर हैं। उनके सुन्दर मुख शरत्पूर्णिमाके चन्द्रमाको भी नीचा दिखानेवाले हैं। कमलके समान बहुत ही प्यारे उनके विशाल नेत्र हैं। उनकी सुन्दर चितवन कामदेवके भी मन-को हरनेवाली है। उनकी मधुर मुसकान चन्द्रमाकी किरणोंका तिरस्कार करती है। तिरछी भौंहें हैं। चौड़े और उन्नत ललाट-पर ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक सुशोभित हैं। काले, घुँघराले मनोहर बालों-को देखकर भौंरोंकी पंक्तियाँ भी लजा जाती हैं। मस्तकपर सुन्दर सुवर्णमुकुट सुशोभित हैं। कंधेपर यज्ञोपवीत शोभा पा रहे हैं। मत्त गजराजकी चालसे चल रहे हैं। इतनी सुन्दरता है कि करोड़ों कामदेवोंकी उपमा भी उनके लिये तुच्छ है।

(७)

महामनोहर चित्रकूट पर्वतपर वटवृक्षके नीचे भगवान् श्रीराम, भगवती श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी बड़ी सुन्दर रीतिसे विराज-

मान हैं। नीले और पीले कमलके समान कोमल और अत्यन्त तेजोमय उनके श्याम और गौर शरीर ऐसे लगते हैं, मानो चित्रकूट-रूपी काम-सरोवरमें प्रेम, रूप और शोभामय कमल खिले हों। ये नखसे शिखतक परम सुन्दर, सर्वथा अनुपम और नित्य दर्शनीय हैं। भगवान् राम और लक्ष्मणके कमरमें मनोहर मुनिवस्त्र और सुन्दर तरकस बँधे हैं। श्रीसीताजी लाल वसनसे और नानाविध आभूषणोंसे सुशोभित हैं। दोनों भाइयोंके वक्षःस्थल और कंधे विशाल हैं। कंधोंपर यज्ञोपवीत और वल्कलवस्त्र धारण किये हुए हैं। गलेमें सुन्दर पुष्पोंकी मालाएँ हैं। अति सुन्दर भुजाएँ हैं। करकमलोंमें सुन्दर-सुन्दर धनुष-बाण सुशोभित हैं। परम शान्त, परम प्रसन्न मनोहर मुखमण्डलकी शोभाने करोड़ों कामदेवोंको जीत लिया है। मनोहर मधुर मुसकान है। कानोंमें पुष्प-कुण्डल शोभित हो रहे हैं। सुन्दर अरुण कपोल हैं। विशाल कमल-जैसे कमनीय और मधुर आनन्दकी ज्योतिधारा बहानेवाले अरुण नेत्र हैं। उन्नत ललाटपर ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक हैं। और सिरपर जटाओंके मुकुट बड़े मनोहर लगते हैं। प्रभुकी यह वैराग्यपूर्ण मूर्ति अत्यन्त सुन्दर है।

(८)

नन्दबाबाके आँगनमें नन्हे-से गोपाल थिरक-थिरककर नाच रहे हैं।। नवीन मेघके समान श्याम आभासे युक्त नयन-मनहारी सुन्दर वर्ण है। श्याम शरीरपर माताके द्वारा पहनाया हुआ बहुत पतला रेशमी चमकदार पीला कुरता ऐसा जान पड़ता है, मानो श्याम घनघटामें इन्द्रधनुष सुशोभित हो। सुन्दर नन्हे-नन्हे लाल आभायुक्त मनोहर चरणकमल हैं। चरणनखोंकी ज्योति चरणकमलोंपर पड़कर अत्यन्त सुशोभित हो रही है। चरणोंमें नूपुरोंकी और कमरमें करधनीकी

ध्वनि हो रही है, जो सुननेवालोंके हृदयमें आनन्द भर रही है। सुन्दर त्रिवलीयुक्त उदर है। गम्भीर नाभि है; हृदयपर गजमुक्ताओं-की, रत्नोंकी और सुन्दर सुगन्धित पुष्पोंकी तथा तुलसीजीकी मालाएँ सुशोभित हैं। गलेमें गुञ्जाहार हैं; कौस्तुभमणि है और चौड़े वक्षः-स्थलपर श्रीवत्सका चिह्न है। अत्यन्त रमणीय और ज्ञानिजन-मनमोहन मनोहर मुखकमल है। बड़ी मीठी मुसकान है। कानोंमें कुण्डल झलमला रहे हैं। गुलाबी रंगके गोल कपोल कुण्डलोंके प्रकाशसे चमक रहे हैं। लाल-लाल होठ बड़े ही कोमल और मनोहर हैं। बाँके और विशाल कमल-सरीखे नेत्र हैं। उनमेंसे आनन्द, प्रेम, और रसकी विद्युत्-धारा निकल-निकलकर सबको अपनी ओर खींच रही है। नेत्रोंकी मनोहरताने सबके हृदयोंको आनन्द और प्रेमसे भर दिया है। उन्नत ललाट है। मस्तकपर मोरकी पाँखोंका मुकुट पहने हैं। विचित्र आभूषणोंसे और नवीन-नवीन कोमल पल्लवोंसे सारे शरीरको सजा रक्खा है। अङ्ग-अङ्गसे करोड़ों कामदेवोंपर विजय प्राप्त करनेवाली सुन्दरता प्रवाहित हो रही है। उछलते, कूदते, हँसते, जोरसे मधुर आवाज लगाते हुए बीच-बीचमें मैया यशोदाकी ओर ताक रहे हैं। माता अतृप्त और निर्निमेष नेत्रोंसे भुवनमोहनलालकी मनोहर माधुरी छबिको निरख-निरखकर मुग्ध हो रही हैं।

(९)

कुरुक्षेत्रमें दोनों सेनाओंके बीच अर्जुनका दिव्य रथ खड़ा है। सब ओर शान्ति-सी छायी हुई है। रथके अगले भागपर वीर-वेषमें कवच-कुण्डलधारी भगवान् श्रीकृष्ण विराजित हैं। श्याम वर्ण है। शरीरपर पीताम्बर सुशोभित है। जगत्की सारी सुन्दरता उनकी सुन्दरतापर न्योछावर हो रही है। परम सुन्दर मुखकमल प्रफुल्लित

है, शान्त है और अपने तेजसे सबको प्रकाशित कर रहा है। कानोंमें मकराकृति कुण्डल हैं। रक्त कमलके समान विशाल नेत्रोंसे ज्ञानकी दिव्य ज्योति प्रस्फुटित हो रही है। उन्नत ललाटपर ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक सुशोभित हैं। काले घुँघराले मनोहर केश हैं। सिरपर रत्न-मण्डित स्वर्णमुकुट शोभा पा रहा है। एक हाथमें घोड़ोंकी लगाम है। चाबुक पास रक्खी है और दूसरा हाथ ज्ञानमुद्रासे सुशोभित है। अर्जुन रथके पिछले भागमें बैठे हुए अत्यन्त करुणभावसे शरणापन्न हुए भगवान्की ओर देख रहे हैं और श्रीभगवान् बड़ी ही शान्ति और धीरताके साथ आश्वासन देते हुए और अपनी मधुर मुसकानसे अर्जुनके विषादको नष्ट करते हुए उन्हें गीताका महान् उपदेश दे रहे हैं।

(१०)

सुन्दर कैलास पर्वतपर भगवान् श्रीशङ्कर विराजमान हैं। रक्ताभ सुन्दर गौर वर्ण है। रत्नसिंहासनपर मृगछाला बिछी है, उसीपर आप आसीन हैं। चार भुजाएँ हैं, दाहिने ऊपरका हाथ ज्ञानमुद्राका है, नीचेके हाथमें फरसा है, बायाँ ऊपरका हाथ मृग-मुद्रासे सुशोभित है, नीचेका हाथ जानुपर रक्खे हुए हैं। गलेमें रुद्राक्षोंकी माला है, साँप लिपटे हुए हैं, कानोंमें कुण्डल सुशोभित हैं। ललाटपर त्रिपुण्ड्र शोभा पा रहा है, सुन्दर तीन नेत्र हैं, नेत्रोंकी दृष्टि नासिकापर लगी है, मस्तकपर अर्द्धचन्द्र है, सिरपर जटाजूट सुशोभित है। अत्यन्त प्रसन्न मुख है। देवता और ऋषि भगवान्की स्तुति कर रहे हैं। बड़ा ही सुन्दर विज्ञानानन्दमय स्वरूप है।

इसी प्रकार भगवान् नृसिंह, शक्ति, सूर्य आदि अपने-अपने इष्टदेवोंका ध्यान करना चाहिये।

प्रेम और समता

जिससे प्रेम बढ़ाना हो, स्वार्थ और अहङ्कारको त्याग कर उसके हितके कार्योंमें लग जाना ही प्रेम-वृद्धिका सर्वोत्तम उपाय है। जैसे मनुष्य अपने हितके लिये सदा सोचता रहता है, वैसे ही जिससे प्रेम करनेकी इच्छा हो उसके हितका विचार भी सदा करते रहना चाहिये।

प्रेममें स्वार्थकी गन्ध भी नहीं होनी चाहिये। जहाँ स्वार्थका भाव आया, वहीं प्रेमका टूटना प्रारम्भ हुआ। वास्तवमें स्वार्थ और अहङ्कार—ये दोनों ही प्रेम-मार्गमें बड़े बाधक हैं। मान लीजिये, हमने किसीके हितका काम किया और फिर यह कह दिया कि 'इसके हितसाधनमें मेरा कोई भी स्वार्थ नहीं है।' बस, इस अहङ्कारके उत्पन्न होते ही प्रेमकी वीणाके तार छिन्न-भिन्न होने लगते हैं। आप सेवा करके किसीको रोगादि सङ्कटोंसे बचाते हैं—द्रव्यादिके द्वारा किसीकी विपत्ति निवारण करते हैं। ये सभी हितपूर्ण कार्य प्रेमकी वृद्धिमें परम सहायक हैं, किन्तु आप इन सेवाओंको यदि किसीके सामने प्रकट कर देते हैं तो सब किया-कराया मिट्टी हो जाता है। इसलिये किसीकी सेवा या उपकार करके उसे कहना नहीं चाहिये; क्योंकि अपने उपकारोंको प्रकट करनेसे अभिमानकी वृद्धि होती है और अभिमानको कोई भी सहन नहीं कर सकता। मनुष्य स्वयं चाहे अहङ्कारका कितना ही शिकार बना रहे, किन्तु वह दूसरेके अहङ्कारको नहीं सह सकता।

जरा-सी खटाई पड़ जानेपर जिस प्रकार दूध एकदम फट जाता है, उसी प्रकार उत्तम सेवारूप दूधमें अहङ्कारपूर्ण वचनकी

खटाईके पड़ जानेपर वह सारी सेवा व्यर्थ हो जाती है। जब कि सेवा और हितसाधनके कार्य ही प्रेमके आधार हैं तो उनके व्यर्थ हो जानेपर प्रेम टिक ही कैसे सकता है ? इसलिये प्रेमको बढ़ाने और उसे स्थिर बनाये रखनेके लिये निःस्वार्थ और निरभिमान होकर सबके हितमें रत रहना चाहिये।

हमलोगोंमें स्वार्थ और अहङ्कारकी भावनाएँ बद्धमूल हो रही हैं। वास्तवमें ये स्वार्थ और परमार्थ दोनोंहीके लिये बाधक हैं। मान लीजिये, हमने अपने किसी कष्टमें पड़े हुए मित्रको आर्थिक सहायता देकर कष्टसे बचाया और अब फिर किसी दूसरे अवसर-पर किसी सज्जनके सामने अपनी इस सेवाका बखान कर दिया। संयोगवश इन सज्जनके द्वारा यह बात उस दुःखित मित्रके पास पहुँचा दी गयी। इसका परिणाम क्या होगा ? यही कि सेवा करनेवाले मित्रके प्रति दुःखित मित्रका प्रेम घट जायगा और उसे इस बातका पश्चात्ताप होगा कि 'मैंने उस मौकेपर इसकी सहायता लेकर बड़ा ही बुरा काम किया।' वह अपने मनमें बार-बार यही सङ्कल्प करके दुःखित होता रहेगा कि 'मुझे यदि यह पता होता कि वह मेरी सहायताकी चर्चा दूसरोंके सामने करके मेरे आत्म-सम्मानपर इस प्रकार आघात पहुँचायेगा तो मैं उसकी सहायताको कभी स्वीकार ही न करता।'

इस तरह हम अपने एक प्रेमी मित्रकी सद्भावानाओंसे हाथ धोकर स्वार्थदृष्टिसे अपना बड़ा भारी अहित कर बैठते हैं। इसी प्रकार अपनी सेवाओं और सत्कार्योंको अपने मुखसे गिना देनेपर हम पारमार्थिक लाभसे भी वञ्चित हो जाते हैं। शास्त्रकारोंका तो यहाँतक कहना है कि अपने उत्तम कर्मोंको गिना देनेसे वे कर्म सर्वथा व्यर्थ

हो जाते हैं। राजा ययातिने अपने मुँहसे अपने कर्मोंकी प्रशंसा की थी, इससे वे स्वर्गसे च्युत हो गये थे। इसलिये हमलोग जो भी भजन, ध्यान, सेवा, पूजा और परोपकारादि उत्तम कर्म करें, उनका बखान अपने मुँहसे हमें कभी नहीं करना चाहिये। पूछे जानेपर भी इस सम्बन्धमें मौन रहना अथवा उस प्रसङ्गको टाल देना ही श्रेयस्कर है। स्त्रियोंमें प्रायः यह दोष अधिक रूपसे देखा जाता है। वे सेवा आदि उत्तम कर्मोंको अधिकतर गुप्त नहीं रख सकतीं। पुरुष भी प्रेमको तोड़नेवाली इस बुरी आदतके कम शिकार नहीं हैं। इसलिये हम सभीको इस बातका विशेष प्रयत्न करना चाहिये कि किसीके प्रति किया हुआ उपकार किसीके भी सामने प्रकट न किया जाय। जिसका उपकार किया जाता है वह तो उस उपकारको जानता ही है, फिर दूसरोंके सामने यदि उसे प्रकट किया जाता है तो उसमें मान-बड़ाईकी प्राप्तिका भाव ही छिपा हुआ समझना चाहिये। अन्यथा डिंडिम-घोष करनेसे लाभ ही क्या है? किन्तु हाँ, यदि किसीके प्रति किये हुए हितको जनाने और कहनेसे उस उपकृत व्यक्तिका लाभ होता हो तो उसे प्रकट करना दोष नहीं है, किन्तु ऐसे स्थल बहुत ही कम प्राप्त होते हैं। मान लीजिये, किसी सज्जनको दो सौ रुपयोंकी जरूरत है। उन्होंने हमसे यह बात कही। हम उन्हें दो सौ न देकर केवल पचास ही दे सके, अब उनके शेष डेढ़ सौकी पूर्तिके उद्देश्यसे अपने द्वारा दिये हुए पचास रुपयों-का प्रसङ्ग किसीके सामने चलानेको हम यदि विवश होते हैं और इससे उन सज्जनको और रुपये मिल जाते हैं तो निश्चय ही हमारा इस बातको प्रकट करना हानिकारक न होकर लाभदायक ही है;

क्योंकि ऐसा करनेसे उनको दुःख न होकर उलटा सुख ही प्राप्त होता है और हमारा उद्देश्य भी मान-बड़ाईका न होकर केवल हितसाधनका ही है, किन्तु ऐसा करते समय भी हमें बहुत सावधान रहनेकी आवश्यकता है, स्वार्थका भाव किसी-न-किसी रूपमें आ ही जाता है। इसलिये उस समय भी अपने हृदयको अच्छी तरह टटोल लेना चाहिये कि अपने द्वारा की हुई उस सेवाके प्रकट करनेमें कहीं मान-बड़ाईकी सूक्ष्म भावना तो अंदर नहीं छिपी है!

आजकल निष्कामभावका तो प्रायः अभाव-सा ही हो गया! जिधर देखिये उधर ही स्वार्थका बोलबाला है। वास्तवमें स्वार्थकी भावना निष्काम प्रेमके लिये कलङ्कस्वरूप है। निष्कामभावसे किया हुआ आचरण अमृतस्वरूप माना गया है। भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे यदि किसीसे भी प्रेम किया जाता है तो वह भगवान्‌के ही लिये समझा जाता है; किन्तु यदि धन अथवा मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा आदि सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्तिके लिये किया जाता है तो वह उनके लिये ही है, ईश्वरके लिये नहीं।

प्रेमकी उत्पत्ति सेवासे होती है। भगवत्-प्रेमकी प्राप्ति भी सेवा और भक्तिसे ही होती है। सेवासे भी भक्तिका दर्जा ऊँचा है। सेवा तो हर किसीकी हो सकती है, किन्तु भक्ति हर किसीकी नहीं होती। भक्तिमें सेवा तो रहती ही है, पर साथमें श्रद्धा और प्रेमका भी समावेश रहता है, प्रेमका महत्त्व तो भक्तिसे भी अधिक है। प्रेम भक्तिका फल है और वह व्यापक भी है। सेवाका फल भी प्रेम ही है।

प्रेमकी प्राप्ति भक्ति और उपकारसे हो सकती है। इसलिये प्रेमके इच्छुकोंको चाहिये कि वे यथासाध्य सबके उपकार और सेवा

करनेमें तत्परताके साथ लग जायँ। सेवा और उपकारमें भी अन्तर है, सेवामें तो विनयकी अधिकता और अहङ्कारका अभाव है, किन्तु उपकारमें अहङ्कारका समावेश भी है। दूसरेके हित-साधनमें रत रहनेवालेको स्वार्थ और अहङ्कारका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। निःस्वार्थभावसे निरहङ्कार होकर सबकी सेवा करना ही सबके प्रेमको प्राप्त करना है। सेवक होकर यदि अपने सेवा-कार्यको गिना दे, उसका अहसान कर दे तो उस सेवाकी कीमत वहीं घट जाती है—निष्कामभावमें कलङ्क लग जाता है। यदि सेवा निष्कामभावसे की गयी तो उसे प्रकट क्यों किया गया, प्रकट करते ही वह सकाम हो जाती है। सेवा करके उसे कह देनेपर सेवाका महत्त्व तो घट ही जाता है, किन्तु उसके साथ ही यदि यह कह दिया गया कि 'मैंने तो निष्कामभावसे सेवा की, तो उसका दर्जा और भी घट जाता है। निष्कामभाव तो हृदयमें रखने योग्य एक गोपनीय निधि है। वह ढिंढोरा पीटनेकी चीज नहीं।

हमलोगोंका प्रेम उच्च कोटिका नहीं, साधारण श्रेणीका है। जहाँ प्रेम होता है वहाँ नेम नहीं रहता। संकोच, भय और आदर आदिको प्रेमके राज्यमें कोई स्थान नहीं मिलता। मान-बड़ाई और संकोच आदिकी वहाँ गन्ध भी नहीं है। इन भावोंका जितना ही अभाव होता है उतना ही प्रेम अधिक महत्त्वका माना जाता है। प्रेम, प्रेमी और प्रेमास्पद—ये तीनों वास्तवमें एक ही हैं। प्रेमास्पद प्रेमीका जितना ही निरादार करता है उतना ही वह आनन्दित होता है। प्रेमीको चाहे कितनी खोटी-खरी सुनायी जाय, कितना ही वह तिरस्कृत हो किन्तु फिर भी प्रेमास्पदके प्रति उसके मनमें

अधिकाधिक प्रेम ही बढ़ता रहता है। जिसको हम बिना हिचकिचाहटके उपालम्भ दे सकें, निस्संकोच कड़ी बातें सुना सकें, वही सच्चा प्रेमी है। जिसमें प्रेमका अभाव है, वह कड़ी आलोचना या निन्दा सह नहीं सकता। मान लीजिये कि मैं किसीके सामने आपकी बुराई, आपके दोषोंकी चर्चा करूँ अथवा आपकी चीज किसीको दे दूँ या किसीके सामने आपकी जिम्मेवारी ले लूँ और आपके चित्तमें कोई विकार न हो तो समझा जाय कि आपका मुझपर प्रेम है। यदि प्रेमास्पद प्रेमीकी चीजको उसकी सम्मति लिये बिना ही किसीको दे देता है तो प्रेमीके चित्तमें आनन्द होता है। वह यह कभी नहीं सोचता कि मेरे पूछे बिना ही मेरी वस्तुका इस प्रकार उपयोग क्यों किया गया? प्रेमीको कठिन-से-कठिन काममें यदि प्रेमास्पद नियुक्त कर दे, यहाँतक कि उसकी सम्मतिके बिना उसका बलिदान भी कर दे तो भी प्रेमी प्रसन्न ही रहता है, उसके चित्तमें इतना उल्लास होता है कि मानो उसे साक्षात् ईश्वरके दर्शन ही हो गये; किन्तु ऐसा प्रेमी मिलना बहुत मुश्किल है। अस्तु—

जिन्हें प्रेम प्राप्त करना हो उन्हें दो बातोंको भूल जाना चाहिये। दूसरेके प्रति किया हुआ उपकार और दूसरेके द्वारा किया हुआ अपना अपकार। इनका संस्काररूपसे भी मनमें रहना निष्काम भावके लिये कलङ्कस्वरूप है। दो बातें कभी भुलानी नहीं चाहिये—(१) हमारे प्रति दूसरेका किया हुआ उपकार और (२) अपने द्वारा किया हुआ दूसरेका अपकार। इन बातोंको जीवनपर्यन्त याद रखना चाहिये। जो हमारा उपकार करता है उसे याद रखनेसे हमारे मनमें उसका उपकार करनेकी भावना सदा बनी रहेगी, जो

हमारे कल्याणमें सहायक सिद्ध होगी। हमारे द्वारा जो अपकार बन गया है उसको याद रखनेपर हमारे मनमें पश्चात्ताप होगा। पश्चात्ताप एक प्रकारका प्रायश्चित्त है जो अन्तःकरणकी शुद्धि करके हमें कल्याण-मार्गमें अग्रसर करता है। उपकारकके प्रति जब हम कृतज्ञ बने रहेंगे तो समय पड़नेपर हम उस उपकारके ऋणसे मुक्त हो सकेंगे। अपने द्वारा किये हुए अनिष्टका चिन्तन रहनेसे पश्चात्ताप-रूपी प्रायश्चित्तके द्वारा हम पापसे मुक्त हो सकेंगे। बार-बार जन्म होनेमें दो ही प्रधान हेतु हैं—(१) पाप, (२) ऋण। जो निष्पाप और उऋण हैं वे मुक्त ही हैं।

यदि हमने किसीका उपकार करके वाणीसे प्रकट नहीं किया किन्तु मनमें संस्काररूपसे भी उसे रहने दिया तो भी निष्काम भावके लिये, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, कलङ्करूप ही है। इसी प्रकार दूसरेके द्वारा किये हुए अपने अपकारको भी यदि हृदयसे सर्वथा नहीं हटाया तो हमारे मनमें इस बातकी इच्छा बनी रहेगी कि उस अपकारकको किसी प्रकार दण्ड मिल जाय तो ठीक है। अतएव प्रेमकी वृद्धिके लिये मन, वाणी और व्यवहारमें निष्काम-भाव तथा अहिंसा और निरहङ्कारताका होना बहुत ही आवश्यक है। जहाँ स्वार्थ और अहङ्कार होता है वहाँ प्रेम नहीं ठहर सकता।

व्यवहारमें समताके भावकी भी बड़ी आवश्यकता है। संसारमें वस्तुतः वही मनुष्य धन्य है जिसे सम भावकी प्राप्ति हो गयी है। इस भावको कार्यरूपमें परिणत करना ही गौरवकी बात है। मनुष्यका अपने शरीरके सभी अङ्गोंमें आत्मीयता और प्रेमका भाव समानरूप-से रहता है। सिर, हाथ-पैर आदि शरीरके किसी भी अवयवके

दुःखका अनुभव मनुष्यको समान रूपसे होता है। इसी प्रकार यदि मनुष्य सबके सुख-दुःखोंका अनुभव अपने सुख-दुःखोंकी भाँति करने लगे तो उसमें समताका भाव माना जा सकता है। भगवान् श्रीकृष्णने यही बात गीतामें कही है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥
(६। ३२)

'हे अर्जुन! जो योगी अपनी भाँति सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।'

वास्तवमें महात्मा वही है जो ब्रह्माण्डभरमें अपने आत्माको व्यापक देखता है। एक देशमें—अर्थात् केवल शरीरमें ही आत्माको सीमित समझनेवाला महात्मा नहीं—अल्पात्मा है। वह महात्माकी भाँति समस्त प्राणियोंके सुख-दुःखोंका अनुभव नहीं कर सकता। उसमें सहानुभूति और समवेदनाका बड़ा अभाव रहता है। समदर्शी महात्माओंकी स्थितिका ज्ञान-दृष्टिसे वर्णन करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥
(गीता ६। २९)

'सर्वव्यापी अनन्त चेतनमें एकीभावसे स्थितिरूप योगसे युक्त आत्मावाला तथा सबमें समभावसे देखनेवाला योगी आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें देखता है।'

यह समदर्शिताकी स्थिति—यह समताका भाव भगवान्‌की कृपासे प्राप्त हो सकता है। इसलिये भगवान्‌को याद रखते हुए ऐसा भाव प्राप्त करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

जब भक्तिके सिद्धान्तसे विचार करते हैं तो समस्त संसारको ईश्वरका रूप समझ लेनेपर समताका भाव प्राप्त हो जाता है। श्रीतुलसीदासजी महाराजने कहा है—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

वास्तवमें भगवान्‌का वही अनन्य भक्त है, जो समस्त सचराचर भूतसमुदायको साक्षात् ईश्वरका स्वरूप समझकर सबके साथ समताका व्यवहार करता है। ज्ञानकी दृष्टिसे यह भाव रहता है कि यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मेरा ही आत्मा है और भक्तिकी दृष्टिसे यह भाव रहता है कि यह सब मेरे स्वामीका ही रूप है और मैं इस समस्त भूतसमुदायका सेवक हूँ।

दोनोंमेंसे किसी एक मार्गसे भी समत्वबुद्धि प्राप्त हो जानेपर मनुष्यमें स्वाभाविक ही दया, विनय और प्रेम आदि उत्तमोत्तम गुणोंका अधिकाधिक विकास हो जाता है और उसके अन्तःकरणके राग-द्वेष आदि समस्त विकार नष्ट हो जाते हैं। ऐसे राग-द्वेषरहित समदर्शी महात्माके द्वारा जो भी व्यवहार होता है, वह लोगोंके लिये आदर्श और कल्याणप्रद ही होता है। अतएव समताका भाव प्राप्त करनेके लिये निरन्तर भगवान्‌को याद रखनेकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये।

शरणागति और प्रेम

भगवान्‌की शरणमें रहनेसे साधकको बड़ी शक्ति मिलती है। फिर उसमें दुर्गुण-दुराचार रह ही नहीं सकते। जिस प्रकार सूर्यकी सन्निधिमें रहनेवालेके पास शीत और अन्धकार नहीं फटक सकते, उसी प्रकार जिसके हृदयमें श्रीभगवान् विराजमान हैं उसके पास दुर्गुण नहीं आ सकते। यही नहीं, जिस तरह सूर्यके आश्रयसे अनायास ही गर्मी और प्रकाश प्राप्त होते हैं, वैसे ही भगवान्‌के आश्रयसे भी स्वतः ही सद्‌गुण और सदाचारकी वृद्धि होने लगती है। भगवदाश्रयका सुदृढ़ निश्चय होनेपर ही ऐसा होता है। ऐसे शरणागत भक्तको यदि कभी किसी दुर्गुणसे बाधा होगी भी तो उसके 'हे नाथ! हे नाथ!' ऐसा पुकारते ही वह दुर्गुण दूर चला जायगा। यदि निर्भरताकी कमीके कारण कभी ऐसा जान पड़े कि हमारे हृदयमें कोई कुविचार प्रवेश करना चाहता है, तो हमें कातर स्वरसे 'हे नाथ! हे नाथ!' पुकारना चाहिये। प्रभुका आश्रय लेनेसे चिन्ता, भय, शोक एवं सब प्रकरके दुर्गुण-दुराचार मूलसहित नष्ट हो जाते हैं तथा सद्‌गुण, सदाचार एवं शान्ति आदिका स्वतः ही विकास होता है।

इन सारे गुणोंकी प्राप्ति भगवच्छरणागतिसे हो जाय—इसमें तो कहना ही क्या, ये सब तो भगवान्‌के प्रेमियोंके सहवाससे भी प्राप्त हो सकते हैं। जो पुरुष भगवत्कृपाके रहस्यको समझ जाता है, उसमें दया, गम्भीरता, शान्ति और सरलता आदि सद्‌गुण स्वयं ही आ जाते हैं। उसके हृदयमें आनन्दका समुद्र उमड़ने लगता है तथा

दृष्टिमें सर्वत्र समताका साम्राज्य छा जाता है । हमलोग भगवद्दर्शन-के लिये बहुत उतावले रहते हैं; परन्तु भगवान् कभी अपात्रको दर्शन नहीं देते । यदि हम पात्र होंगे तो हमारे सामने प्रभु आप ही प्रकट हो जायँगे । इसके लिये अनन्य प्रेमकी आवश्यकता है । जो सच्चे प्रेमी होते हैं, वे यदि कहीं भगवच्चर्चा या भगवन्नामकीर्तन सुनते हैं तो उनकी बड़ी विचित्र अवस्था हो जाती है। जैसे कामिनी-के नूपुरोंकी झनकार सुनकर कामी पुरुषके हृदयमें काम जाग्रत् हो उठता है, वैसे ही यदि प्रेमीके कानोंमें भगवन्नामकीर्तनकी ध्वनि पड़ जाती है तो वह प्रेममें विभोर हो जाता है। वह यदि किसी भगवद्रसिक महापुरुषके दर्शन कर लेता है तो उसके नेत्र गुलाबके फूलकी तरह खिल उठते हैं और उनसे झर-झर अश्रुपात होने लगता है। हमलोग तो प्रेमका केवल नाम लेते हैं। असली प्रेम तो दूसरी ही चीज है। वह सर्वथा अलौकिक और अनिर्वचनीय है। उसतक मन और वाणीकी पहुँच नहीं है। बुद्धि भी उसका स्पर्श तो करती है, परन्तु पूरा-पूरा पता नहीं लगा सकती।

जो एक बार प्रेमसे घायल हो जाता है, उसपर कोई भी औषध काम नहीं करती। हमलोगोंको निरन्तर प्रेमकी वृद्धि करनी चाहिये— यहाँतक कि उससे बाध्य होकर प्रभुको आना पड़े। प्रेमीको प्रभु त्याग नहीं सकते। प्रेमकी लोग ठीक-ठीक कदर नहीं करते। प्रेमियों-की बड़ी आवश्यकता है। प्रेमी बहुत कम मिलते हैं—प्रायः मिलते ही नहीं। सर्वस्व समर्पण करनेपर भी यदि एक रत्तीभर प्रेम मिले तो सर्वस्व दे डालना चाहिये। सच्चा प्रेमी ऐसा ही करता है। रत्नका वास्तविक मूल्य जौहरी ही जानता है। यदि भीलनीके सामने

एक लाख रुपयेका हीरा रक्खा जाय तो वह उसके बदलेमें चार पैसे भी देना नहीं चाहेगी, कहेगी कि यह काँचका टुकड़ा मेरे किस कामका। परन्तु जौहरी उसके लिये खुशी-खुशी अपना सर्वस्व दे डालेगा। इसी प्रकार प्रेमका मूल्य भी कोई विरले ही जानते हैं। प्रेमके लिये जो जितना कम मूल्य देना चाहते हैं, वे प्रेमके तत्त्वको उतना ही कम जानते हैं। प्रेम तो स्वार्थत्यागसे ही मिलता है। सच्चे प्रेमी सिरकी बाजी लगाकर भी प्रभुका प्रेम प्राप्त करते हैं।

प्रेमी लोग सर्वदा वही किया करते हैं, जिससे भगवान्‌की प्रसन्नता हो। यदि उन्हें कोई भगवान्‌का प्यारा मिलता है तो उसके भजन-ध्यानादिमें सहायक होकर वे बदलेमें प्रभुकी प्रसन्नता प्राप्त करते हैं। जब दो प्रेमी मिलते हैं तो एक अपूर्व आनन्दकी बाढ़-सी आ जाती है। ऐसे प्रेमसम्मेलनको देखकर प्रभु भी उनके हाथ बिक जाते हैं। जो उनकी छोटी-से-छोटी आज्ञाका पालन करनेके लिये अपने सर्वस्वको निछावर करनेको तैयार रहते हैं, भगवान् उनके ऋणी हो जाते हैं। इस विषयमें अतिथिप्रेमी महाराज मयूरध्वजकी कथा प्रसिद्ध ही है। जिस समय साधु बने हुए भगवान्‌की आज्ञासे राजा अपने शरीरको अपनी रानी और कुमारके द्वारा आरेसे चिरवाकर सिंहको देनेके लिये तैयार होते हैं, उस समय उनकी यही भावना रहती है कि इस प्रकार सिंहकी तृप्ति होनेसे साधु प्रसन्न होंगे और इनकी प्रसन्नतासे भगवान् खुश होंगे। उनकी उतनी उदारता तो छद्मवेषधारी भगवान्‌के लिये थी। यदि प्रभु अपने निजरूप-से उनके सामने आते तो न जाने वे क्या करते। नामदेवजीके सामने-से कुत्ता रोटी लेकर भागा तो वे उसके पीछे घी लेकर दौड़े

कि 'भगवन्! अभी रोटी सूखी है, इसे चुपड़ देने दीजिये।' इस प्रकारकी भगवन्निष्ठा भगवान्‌को बलात्कारसे अपना ऋणी बना लेती है।

गोपियोंके विचित्र प्रेमकी बात सबपर प्रकट ही है। उद्धवजी श्यामसुन्दरका सन्देश लेकर आते हैं, उन्हें तरह-तरहसे उपदेश देकर धैर्य बँधानेका प्रयत्न करते हैं। परन्तु अन्तमें उनका अद्भुत प्रेमोन्माद देखकर स्वयं भी उन्हींके चरण-किङ्कर होनेकी कामना करने लगते हैं। अहा! अपने प्यारेकी यादमें कितना मिठास है? कोई पुरुष प्यारेके पाससे आता है तो हम उतावले हो जाते हैं; पहले उससे पूछते हैं, 'क्यों जी, क्या तुम उससे मिले थे?' उसके 'हाँ' कहनेपर हम आनन्दमग्न हो जाते हैं। फिर पूछते हैं, 'कुछ मेरी बात भी हुई थी?' वह स्वीकार करता है तो हम उछलने लगते हैं। फिर कहते हैं, 'क्या, कुछ भेजा है?' वह कहता है, 'हाँ, पत्र भेजा है,' तो इतना आनन्द होता है कि पत्रको लेकर स्वयं पढ़नेकी भी सामर्थ्य नहीं रहती। पत्रके ऊपर प्यारेके हाथका लिखा हुआ सिरनामा देखकर हृदयमें अपूर्व आनन्द छा जाता है। यह सब प्यारेके प्रेमकी बात है। ऐसा ही प्रेम जब प्रभुके चरणोंमें हो तो क्या कहना है?

महात्माओंसे सुना है 'भगवान् प्रेमीके अधीन हो जाते हैं।' किन्तु आज हमारी क्या दशा है? हम जगह-जगह जाते हैं। भगवान्‌की स्तुति और प्रार्थनादि भी करते हैं; परन्तु वे मिजाज किये बैठे हैं, आते ही नहीं। कारण क्या है, हमारे अंदर प्रेम नहीं है। इसीसे वे खुशामद करनेपर भी नहीं आते। यदि प्रेम होता तो स्वयं वे ही हमारे पीछे-पीछे घूमते। इस विषयमें एक

दृष्टान्त दिया जाता है। मान लीजिये, कई मिलवाले मंदे भावमें गन्ना खरीद रहे हैं। इसी समय कोई बुद्धिमान् धनी पुरुष सोचता है कि यदि गन्नेके दाम बढ़ाकर इस प्रान्तका सारा गन्ना खरीद लूँ तो पीछे इनसे मनमाना दाम ले सकता हूँ। यह सोचकर वह गन्नेका खेला करता है। जिस समय उसके पास रुपयेमें चार आनेभर गन्ना था, मिलके मैनेजर उसके दलालसे बात भी नहीं करते थे। अब जब उसने सारा गन्ना अपने हाथमें कर लिया और मिलको उसकी जरूरत पड़ी तो साहबको चिन्ता हुई। दलाल भेजे गये तो उसने कह दिया अभी गन्ना बेचना नहीं है। साहबने स्वयं मिलनेके विषयमें पुछवाया तो कह दिया 'अभी बेचनेकी गरज नहीं है, जब गरज होगी तब मिल लेंगे।' साहब बिना बुलाये स्वयं ही आये तो उन्हें बाहर ठहराकर भोजनादिसे निवृत्त होनेपर मिले। साहब पूछते हैं, सेठजी! ऐसा क्या अपराध हुआ? आप तो बात करनेका भी मौका नहीं देते?' तो सेठजी कहते हैं, 'सब समयकी बात है। आपके पास कितनी बार दलाल भेजते थे, किन्तु आप बात भी नहीं करते थे; अब आपको स्वयं ही आना पड़ा। गन्ना तो आपका ही है, आपको जितना चाहिये ले जाइये।' हमारे भगवान् भी ऐसे ही हैं। वे साधारण स्तुति प्रार्थनासे काबूमें आनेवाले नहीं हैं; उन्हें तो प्रेमकी प्यास है। हमलोग यदि प्रेम संग्रह कर लें तो उन्हें विवश होकर आना पड़ेगा। अतः जिस भावमें भी मिले उसी भावमें प्रेम खरीदना चाहिये। यदि हमारे पास प्रेमका संग्रह होगा तो भगवान्का सब मिजाज ढीला पड़ जायगा। प्रेमके बिना भगवान्का काम नहीं चलता, उनके सब कल-कारखाने बंद हो जाते हैं।

प्रेम खरीदनेके लिये भगवान्‌का नाम ही पूँजी है। इसलिये निरन्तर नाम-जपका अभ्यास करना चाहिये।

संसारमें ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो प्रेमके बदले न दी जा सके। तन, मन, धन, प्राण—सभी इसपर निछावर किये जा सकते हैं। प्रह्लादको देखिये। उन्हें न राज्यकी परवा है न प्राणोंकी। उन्हें तरह-तरहके कष्ट दिये जाते हैं—बार-बार मार पड़ती है, पर्वतशिखरसे गिराया जाता है, साँपोंसे डसाया जाता है, हाथियोंसे खुँदवाया जाता है, अग्निमें गिराया जाता है, तो भी वे अपनी टेक नहीं छोड़ते—प्राणोंकी बाजी लगाकर भी भगवत्प्रेमकी रक्षा करते हैं। आखिर भगवान् प्रकट होते हैं और आनेमें विलम्ब हुआ, इसके लिये प्रह्लादसे क्षमा माँगते हैं। जिस समय साधुवेषधारी भगवान्‌ने अपने सिंहके लिये मयूरध्वजसे उसका शरीर माँगा तो राजा बड़े हर्षसे कहता है, 'महाराज! आप कोई चिन्ता न करें, मैं प्रसन्नतापूर्वक यह शरीर बाघको देनेको तैयार हूँ। यह बाघ तो साक्षात् नारायणका स्वरूप है। इनकी सेवाका सौभाग्य फिर कब प्राप्त होगा?' देखिये कैसी ऊँची दृष्टि है! शरीरकी भिक्षा माँगनेवालेमें भी राजाको साक्षात् श्रीहरिकी ही झाँकी होती है। भगवान् ऐसे प्रेमियोंके ऋणसे किस प्रकार उऋण हो सकते हैं? हमें प्रभुकी प्राप्तिके लिये घरसे तो कुछ भी नहीं देना पड़ता। भगवान्‌की ही चीजें उनको भेंट कर देनी हैं। इसमें हमारा क्या लगता है? यह धन-ऐश्वर्य विचारवानोंकी दृष्टिमें कोई ऊँची चीज नहीं है। इसके तो त्यागमें ही सुख है। इसमें ममता करना तो अपनेको व्यर्थके बन्धनमें डालना ही है। कोई भी विवेकी पुरुष इसके मोहमें नहीं

फँसते। हमारे प्रान्त (राजपूताने) में एक बड़े अच्छे महात्मा थे। एक बार एक भक्त उनके लिये आसामसे एक अंडी (रेशमी चद्दर) गेरुआ रँगवाकर ले गये। एक दिन वे उसे ओढ़े हुए बैठे थे कि एक पण्डितजी बोल उठे, 'बाबाजी! यह अंडी तो बहुत बढ़िया है।' बाबाजीने उसे उसी समय उतारकर पण्डितजीको दे दिया। वे बोले—'बढ़िया चीज हम साधुओंके कामकी नहीं होती। तुम्हारी इसमें प्रीति है, इसलिये अब इसे तुम्हीं रक्खो। जिस वस्तुमें दूसरेका राग हो, उसे साधुको नहीं रखना चाहिये।'

गृहस्थाश्रममें भी अपने सुखकी दृष्टिसे किसी वस्तुका सेवन करना उचित नहीं है। घरमें पाँच फल आवें तो पहले अतिथि-अभ्यागत और घरके अन्य व्यक्तियोंको खिलाकर पीछे गृहस्वामीको खाना चाहिये और उसके बाद गृहस्वामिनीको। यही यज्ञशिष्ट है। यह अमृत है। जो स्वादके लोभमें पढ़कर पहले स्वयं खाता है, वह अमृतके भ्रमसे विष सेवन करता है। बलिवैश्वदेवका भी यही रहस्य है। ऐसा ही नियम साधु-संन्यासियोंके लिये भी है। जब रसोईघरका धूआँ बंद हो जाय, उस समय उन्हें भिक्षाके लिये जाना चाहिये, जिससे कि उनके निमित्तसे गृहस्थको अलग भोजन न बनाना पड़े। उस समय भी यदि किसी द्वारपर पहलेसे दूसरा भिखारी खड़ा हो तो वहाँ न जाय। ऐसा न हो कि दोनोंको देनेसे फिर गृहस्थके लिये अन्नकी कमी हो जाय। इन सब नियमोंमें शास्त्रका लक्ष्य क्या है, उसपर विचार करना चाहिये। इन सभीमें स्वार्थत्यागकी भावना भरी हुई है। यदि कोई चीज बाँटकर खानी है तो उसमें भी अपने लिये अधिक रखनेकी प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये। बहुत-से

लोग मुखसे तो कहते हैं कि हमारा कुछ नहीं है, सब भगवान्‌का ही है, परन्तु चित्तसे एक-एक तिनकेको पकड़े रहते हैं। यह कहनेका त्याग भी अच्छा है, परन्तु वास्तविक लाभ तो सच्चे त्यागसे ही होता है। जो समय पड़नेपर अपना सर्वस्व प्रभुके लिये निछावर करनेको तैयार रहते हैं वही श्रेष्ठ हैं। जो सच्चे दानी होते हैं, उन्हें तो दान देनेका कोई अभिमान ही नहीं होता। कहते हैं, किसी दानीके दानकी प्रशंसा की गयी तो वह रोने लगा। उससे रोनेका कारण पूछा गया तो वह बोला, 'धन उसका, देनेवाला वह, मैं तो केवल निमित्तमात्र हूँ। लोग मुझे दानी कहते हैं, भला, मैं प्रभुके सामने क्या मुँह दिखाऊँगा ?'

अतः यदि भगवत्प्राप्तिकी इच्छा है तो वास्तविक त्याग कीजिये। हृदयसे अपना सर्वस्व प्रभुका समझिये। प्रभुके लिये ही सारे काम कीजिये। ममता, अहंता और आसक्तिको जड़से उखाड़ डालिये। इस प्रकार यदि आपकी सारी चेष्टाएँ प्रभुके ही लिये होंगी और आप अपने तन, मन, धन सबकी सार्थकता प्रभुकी प्रसन्नतामें ही समझेंगे, प्रभुकी प्रसन्नताके लिये उनके त्यागमें तनिक भी संकोच नहीं करेंगे तो प्रभुको विवश होकर आपकी खुशामद करनी होगी। ऐसी बात होनेपर भी आपको तो प्रभुकी ही प्रसन्नतामें प्रसन्न रहना चाहिये, उनसे अपनी खुशामद करानेकी इच्छा रखना भी एक प्रकारका स्वार्थ ही है।

प्रेम-साधन

व्रजराज भगवान् श्रीकृष्णके प्रति अनन्य प्रेम होनेमें ही इस जीवनकी सार्थकता है। जिस बड़भागीने इस दिव्य, अनन्य एवं विशुद्ध प्रेम-पीयूषका पान कर लिया, उसका जन्म सफल हो जाता है। उसकी युग-युगकी, जन्म-जन्मोंकी, विषय-पिपासा बुझ जाती, शान्त हो जाती है। भवतापसे सन्तप्त प्राणी भगवत्प्रेमकी पावन मन्दाकिनीमें निमज्जन करके ही पूर्ण शान्ति प्राप्त कर सकता है। यही वह परम रस है, जिसे पीकर मनुष्य सिद्ध, अमर और तृप्त हो जाता है।* जिस प्रेमके प्राप्त होनेपर मनुष्य न तो किसी भी वस्तुकी इच्छा करता है, न शोक करता है, न द्वेष करता है, न किसी भी वस्तुमें आसक्त होता है और न (विषयभोगोंकी प्राप्तिमें) उसे उत्साह होता है। †

प्रेम साधन भी है और साधनोंका फल (साध्य) भी। ‡ परमात्माकी ही भाँति प्रेमका स्वरूप भी अनिर्वचनीय है, गूँगेके स्वादकी तरह यह वाणीका विषय नहीं होता। × इसीलिये प्रेमका स्वरूप अलौकिक बतलाया गया है; क्योंकि वह लोकसे सर्वथा विलक्षण

---

* यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवत्यमृतो भवति तृप्तो भवति।

(नारदभक्तिसूत्र ४)

† यत्प्राप्य न किञ्चिद् वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति।

(नारदभक्तिसूत्र ५)

‡ साधन सिद्धि राम पग नेहू।

× अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्, मूकास्वादनवत्।

(नारदभक्तिसूत्र ५१, ५२)

है। लौकिक प्रेम भोग-कामनाओं और दुर्वासनाओंसे वासित होनेके कारण शुद्ध नहीं होता। जहाँ वासनाका आधिपत्य है, वह प्रेम नहीं, आसक्तिमूलक मोह है। इसके अलावे लौकिक प्रेमके आलम्बन क्षणिक एवं नाशवान् होते हैं; अतः वह भगवत्प्रेमके सामने हेय ही है। भगवत्प्रेम भी यदि किसी कामनासे किया जाय तो वह सकाम कहलाता है। सकाम प्रेममें दिव्यता, अनन्यता एवं विशुद्धताका अभाव होता है। कामना लौकिक वस्तुके लिये ही होती है, अतः लौकिकताका सम्मिश्रण हो जानेसे उसकी दिव्यता नष्ट हो जाती है। तथा उक्त कामनामें वह प्रेम बँट जाता है, इसलिये उसमें एकनिष्ठता एवं अनन्यता नहीं रह जाती। इसी प्रकार कामनासे मिश्रित या दूषित हो जानेसे वह प्रेम विशुद्ध नहीं रह पाता। दिव्य, अनन्य एवं विशुद्ध प्रेम तो तीनों गुणोंसे अतीत और कामनाओंसे रहित होता है, वह प्रतिक्षण बढ़ता है, कभी घटता नहीं, वह सूक्ष्म-से-सूक्ष्म होता है, उसे वाणीद्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता, वह तो अनुभवकी वस्तु है।*

हेतु या कामना ही प्रेमका दूषण है, निर्हेतुक अथवा निष्काम प्रेममें कामनाकी गन्ध भी नहीं है, इसलिये यह शुद्ध है। अपने अभिन्न प्रियतम परमात्मा श्रीकृष्णके सिवा और कोई इस प्रेमका लक्ष्य नहीं है, इसलिये यह अनन्य है तथा ऊपर कहे अनुसार लोक-से सर्वथा विलक्षण होनेके कारण यह प्रेम दिव्य है।

इस प्रेमको पाकर प्रेमी सदा आनन्दमें मस्त रहता है! संसार-की चिन्ताएँ उसका स्पर्श भी नहीं कर सकतीं, उसकी दृष्टिमें प्रेमके

* गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्। (नारदभक्तिसूत्र ५४)

सिवा और कुछ रह ही नहीं जाता । वह तो प्रेमको ही देखता, प्रेमको ही सुनता और प्रेमका ही वर्णन तथा चिन्तन करता है। उसके मन, प्राण और आत्मा प्रेमकी ही गङ्गामें अनवरत अवगाहन करते रहते हैं । वह अपने सब धर्म और आचरण प्रेममय श्रीकृष्णको ही अर्पण कर देता है । उनकी पलभरके लिये भी याद भूलनेपर वह अत्यन्त व्याकुल—बहुत ही बेचैन हो जाता है ।* वह सर्वत्र प्रेममय भगवान्‌को ही देखता है, सब कुछ भगवान्‌में ही देखता है, ऐसी दृष्टि रखनेवालेकी नजरसे भगवान् अलग नहीं हो सकते तथा वह भी भगवान्‌से अलग नहीं हो सकता ।

इस प्रकार दोनोंका नित्य ऐक्य—शाश्वत संयोग बना रहता है। भगवान् ऐसे भक्तका लोकोत्तर अनुराग देख अपनी महेश्वरता भूल जाते और मुग्ध होकर अपने प्राणप्रिय भक्तको निहारते रहते हैं, उसके साथ उसीके अनुरूप बनकर उसकी इच्छाके अनुकूल विग्रह धारण कर खेलते, नृत्य करते, गाते, बजाते और आनन्दित होते रहते हैं ।

प्रेमी भक्त मिलन और बिछोहकी चिन्तासे भी परे होता है। उसे तो केवल प्रेम करना है, वह भी प्रेमके लिये । वह प्रेमतत्त्वज्ञ प्रियतम स्वयं ही मिले बिना नहीं रह सकता । उसे गरज होगी तो स्वयं ही आवेगा, भक्त क्यों मिलनेके लिये परेशान हो ? तथा वह बिछोहसे भी क्यों डरे ? उसे अपने लिये तो सुख या आनन्दकी चाह है नहीं; वह तो सब कुछ उस प्रियतमके ही सुखके लिये करता है । उसे यदि मिलनमें सुख मिलता हो तो स्वयं ही आकर

---

* नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति ।
(नारदभक्तिसूत्र १९)

मिले। विछोहसे दुःख होता हो तो कभी यहाँसे दूर न जाय। वह तो प्रेमका लोभी है, प्रेम होगा तो अपने-आप दौड़ा आवेगा, न होगा तो बुलानेसे भी नहीं आवेगा। इसीलिये जो निष्काम प्रेमी होते हैं, वे भगवान्‌को बुलाते भी नहीं। वास्तवमें न तो भगवान्‌को दर्शन देनेके लिये बुलानेकी आवश्यकता है, न रोकनेकी। बिना किसी कामना या हेतुके ही भगवान्‌में केवल प्रेम बढ़ाना आवश्यक है। अहङ्कारसे दूर रहकर संयोग-वियोगकी चिन्तासे बेपरवा होकर उत्तरोत्तर प्रेम बढ़ता रहे—इसीके लिये, सारा प्रयत्न—सम्पूर्ण चेष्टा होनी उचित है। प्रह्लादने कभी प्रार्थना नहीं की कि 'मुझे दर्शन दो।' सब कुछ भगवान्‌ने अपने आप ही किया।

भगवत्प्रेमीका पूजन, खाना, पीना, रोना-गाना आदि सब भगवत्प्रीत्यर्थं होना चाहिये। प्रेमीका प्रेममय भगवान्‌के सिवा और कोई लक्ष्य न हो। दर्शन-मिलन आदि तो आनुषङ्गिक फल हैं, अपने आप प्राप्त होंगे। इस प्रेमको पूर्णता उस दिव्य, अनन्य एवं विशुद्ध प्रेममें ही है, जहाँ प्रेम, प्रेमी और प्रियतमकी एकता होती है।

ऐसा प्रेमी उस दिव्य प्रेमका साक्षात् स्वरूप होता है। उसकी वाणी प्रेमसे ओतप्रोत तथा शरीर और मन प्रेमरसमें सराबोर होते हैं। उसका रोम-रोम प्रेमानन्दसे थिरकता दिखायी देता है। उसके साथ सम्भाषण, उसका चिन्तन तथा उसके निकट गमन करनेसे अपने अंदर प्रेमके परमाणु आते हैं, उसका स्पर्श पाकर नीरस हृदयमें भी प्रेमका सञ्चार होता है। बड़े-बड़े नास्तिक भी उसके सम्पर्कमें आनेपर सब कुछ भूलकर प्रेमदीवाने बन सकते हैं।

उसके अनन्य अनुराग या अलौकिक भावोद्रेकको ठीक-ठीक हृदयङ्गम करानेके लिये उपयुक्त शब्द नहीं है। समझानेके लिये उसके भावको चाहे जो भी भाव कह दिया जाय; वास्तवमें वह सब भावोंसे ऊपर उठा होता है।

सख्यभावसे भी इस दिव्य प्रेमकी तुलना नहीं हो सकती। यह सख्यसे भी ऊँचा भाव है। सख्यभावके उदाहरण अर्जुन माने जाते हैं; परन्तु अर्जुनमें भी इस दिव्य अलौकिक भावकी तो कमी ही दीख पड़ती है। वे भगवान्‌का विराट् रूप देखकर भयभीत होते हैं। भगवान्‌के साथ किया हुआ सख्य—समानताका व्यवहार उन्हें महान् अपराध जान पड़ता है; और उसके लिये वे वारंवार क्षमा-याचना करते देखे जाते हैं—

'तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥'

(गीता ११। ४२)

'पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥'

(गीता ११। ४४)

और भगवान् भी उन्हें 'मा ते व्यथा मा च विमूढभावः' (गीता ११। ४९) आदि कहकर आश्वासन देते हैं।

दास्यभावसे भी उस अनन्यप्रेमीका भाव अत्यन्त उत्कृष्ट है। दास्यभावमें ऊँच-नीच, स्वामि-सेवककी दृष्टि है, पर यहाँ तो पूर्ण समता है, न कोई सेवक है, न स्वामी। भक्त भगवान्‌की प्रेम-गङ्गामें निमज्जन करके प्रसन्न होता है तो भगवान् भी वैसे ही प्रेममें मग्न हो जाते हैं।

वात्सल्यभावसे भी इस दिव्य अनन्यभावका स्थान ऊँचा है। वहाँ उस लोकोत्तर साम्यका दर्शन नहीं होता, जो कि यहाँ सहज

ही अनुभवमें आता है। उसमें छोटे-बड़े, पिता-पुत्र आदि भाव रहते हैं, किन्तु यहाँ न कोई छोटा है, न बड़ा; न कोई माता-पिता, न कोई किसीका पुत्र। सब एक समान हैं।

माधुर्यभावसे भी यह अद्भुत प्रेमभाव विलक्षण है। माधुर्य-भावके भी दो स्वरूप हैं—स्वकीयाभाव और परकीयाभाव। परम श्रेष्ठ सतीशिरोमणि पतिव्रता नारीका अपने प्रियतम पतिके प्रति जो भाव होता है, वही स्वकीयाभाव है। तथा परस्त्रीका परपुरुषमें जो गुप्त प्रेम होता है, उसी भावसे जो भगवान्‌के दिव्य स्वरूपमें उच्च श्रेणी-का प्रेम हो, उसे परकीयाभाव कहते हैं। उपर्युक्त प्रेमी इन सभी भावोंसे ऊपर उठा होता है। भगवान्‌के साथ उसका एक क्षणके लिये भी कभी वियोग नहीं होता। भगवान् उसके अधीन होते हैं, उसके हाथों बिके रहते हैं। उसका साथ छोड़कर कहीं जाते ही नहीं। वह अनन्यप्रेमी भक्त पूर्ण प्रेममय हुआ रहता है। भगवान्‌से वह भिन्न नहीं, भगवान् उससे भिन्न नहीं। इस अवस्थामें न भय है न सङ्कोच। मान, आदर और सत्कारका भी यहाँ कुछ खयाल नहीं रहता। बड़े-छोटेका कोई लिहाज नहीं किया जाता। उन (भक्त और भगवान्) में न कोई उत्तम है न मध्यम। दोनों समान हैं।

पतिव्रता पतिको नारायण मानती है और अपनेको उनकी दासी। यह भाव बड़ा ही उत्तम परम कल्याणकारी है। फिर भी इसमें बड़े-छोटेका दर्जा तो है ही। परन्तु उपर्युक्त दिव्य प्रेममें बड़े-छोटे-की कोई श्रेणी नहीं है। वहाँ दोनोंकी एक स्थिति—समान अवस्था है।

परकीयाभावमें भी दूसरोंसे भय है, छिपाव है, पर यहाँ इस दिव्य प्रेममें न भय है, न छिपाव। फिर सङ्कोचकी तो बात ही

क्या है। भगवान्‌के गुण और प्रभावसे प्रभावित होकर ही परकीयाका मन उनकी ओर आकृष्ट होता है, जहाँ अपनेसे अन्यत्र श्रेष्ठताका अनुभव है, वहाँ अपनेमें न्यूनताका भी भाव है ही। अतः वहाँ भी निर्भीकता एवं पूर्ण समानता नहीं है। परन्तु अनन्य और विशुद्ध प्रेममें गुण और प्रभावकी विस्मृति है, स्मृति होनेपर भी उनका कोई मूल्य नहीं है। यहाँ तो दोनोंमें अनिर्वचनीय ऐक्य है। वहाँ सर्वशक्तिमान् और सर्वान्तर्यामी कहकर स्तवन नहीं किया जाता। स्तुतिकी अवस्था तो बहुत पहले ही समाप्त हो जाती है। अब तो कौन सर्वशक्तिमान् और कहाँका सर्वेश्वर! दोनों एक हैं, समान हैं, दोनों ही दोनोंके प्रेमी और प्रियतम हैं; इनमें परस्पर हेतुरहित सहज प्रेम होता है। इस स्थितिमें प्रेम, प्रेमी और प्रेमास्पदमें भेद नहीं रहता। भक्ति, भक्त और भगवन्त—सब एक हो जाते हैं। किसी भावुक भक्तके निम्नाङ्कित वचनसे भी इसी भावकी पुष्टि हुई है—

त्रिधाप्येकं सदागम्यं गम्यमेकप्रभेदने।
प्रेम प्रेमी प्रेमपात्रं त्रितयं प्रणतोऽस्म्यहम्॥

'प्रेम, प्रेमी और प्रेमपात्र (प्रियतम) ये देखनेमें तीन होनेपर भी वास्तवमें एक हैं। इनका तत्त्व सदा सबकी समझमें नहीं आता! इन्हें एक रूप ही जानना चाहिये। मैं इन तीनोंको, जो वस्तुतः एक हैं, प्रणाम करता हूँ।'

ऐसे अनन्यप्रेमीकी दृष्टिमें सर्वत्र और सदा ही दिव्य प्रेमकी अखण्ड ज्योति जगमगाती रहती है। वह सम्पूर्ण जगत्‌पर समानरूपसे प्रेमामृतकी वर्षा करता है। उसकी दृष्टिमें कोई घृणा या द्वेषका पात्र नहीं है। उसके लिये सर्वत्र ही प्रेमका महासागर लहराता रहता है।

ज्ञानमार्गसे चलनेवाले महात्मा अद्वैत—अभेदरूपसे ब्रह्मको प्राप्त होते हैं, 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति ।' 'ब्रह्म होता हुआ ही वह ब्रह्मको प्राप्त होता है ।' पर यहाँ तो इस दिव्य प्रेम-संसारकी अनुभूति निराली ही है । यहाँ न द्वैत है न अद्वैत ! दोनोंसे विलक्षण स्थिति है । प्रेमी और प्रियतमका नित्य-नूतन प्रेम उत्तरोत्तर बढ़ता है, 'प्रतिक्षणवर्धमानम्' (नारदभक्तिसूत्र ५४) की स्थितिमें पुष्ट होता है । बढ़ते-बढ़ते यह असीम—अनन्त हो जाता है । भक्त और भगवान् दोनों एक दूसरेसे इतने मिल जाते हैं कि उनमें द्वैतका-सा भान ही नहीं होता । इनके दिव्यभावको वाणीद्वारा व्यक्त करना असम्भव है । यहाँ प्रेमके सिवा कुछ रहता ही नहीं । इन प्रेमियोंका मिलन भी बड़ा ही विलक्षण, अत्यन्त अलौकिक होता है । यहाँ अद्वैत होते हुए भी द्वैत है और द्वैत होते हुए भी अद्वैत । हमारे दोनों हाथ परस्पर मिलकर—सटकर एक हो जाते हैं; उस समय ये दो होते हुए भी एक हैं और एक होते हुए भी दो । इस प्रकार यहाँ न भेद है, न अभेद ।

गङ्गा और समुद्र मिलकर एक-से हो जाते हैं, किन्तु भगवान् और अनन्यप्रेमी भक्तका दिव्य मिलन इनसे भी विलक्षण और उत्कृष्ट है । वह अलौकिक एवं अनिर्वचनीय अवस्था है । भेद-अभेदसे परेकी फलरूपा स्थिति है । यह मिलन नित्य है ।

यहाँ वस्त्र, आभूषण या आयुधका व्यवधान भी वाञ्छनीय नहीं है । वस्त्रका व्यवधान लज्जा निवारणके लिये अपेक्षित होता है, लज्जा दूसरेसे होती है । यहाँ तो प्रेमी और प्रियतम एकप्राण हो चुके हैं । भला, अपनेसे भी कोई लज्जा करता है ? बंद एकान्त कमरेमें यदि

अपने सिवा कोई दूसरा न हो तो लज्जानिवारणके लिये वस्त्रकी आवश्यकता नहीं होती। इस दिव्य मिलनमें द्वैतभाव मिट चुका है, दूसरोंकी ही दृष्टिमें भेद प्रतीत होता है। इस मिलनमें तो आभूषण भी दूषण जान पड़ते हैं—यहाँ परस्पर मान-सम्मान, आदर-सत्कारका भी कोई व्यवहार नहीं है। जहाँ पूर्णरूपसे प्रेम है, वहाँ आदर-सत्कार तो एक विघ्न है। क्या कोई स्वयं ही अपना आदर करता है। यह स्थिति गोपियोंके प्रेमका फल है।

इस स्थितिमें शोक, मोह और भय आदिका नामोनिशान भी नहीं रहता—यहाँ तो देखनेमात्रकी भिन्नता होते हुए भी वास्तवमें पूर्ण एकत्व है। अनन्य प्रेमीका ऊपरी व्यवहार चाहे जैसा हो, भीतरसे वह एकनिष्ठ है, भगवन्मय है, इसीलिये वह भगवान्‌में नित्य स्थित है। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

> सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
> सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥
> (६।३१)

'जो पुरुष एकीभावमें स्थित होकर सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मरूप-से स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेवको भजता है वह योगी सब प्रकारसे बर्तता हुआ भी मुझमें ही बर्तता है; क्योंकि उसके अनुभव-में मेरे सिवा अन्य कुछ है ही नहीं।'

यह द्वैत-अद्वैत, भेद-अभेदसे विलक्षण अनिर्वचनीय स्थिति है। व्रजराज भगवान् श्रीकृष्णके इस अनन्य प्रेमको प्राप्त करना ही मानवमात्रका वास्तविक लक्ष्य होना चाहिये; क्योंकि इसीकी प्राप्ति-से जन्म और जीवनकी सार्थकता है।

श्रीमद्भगवद्गीताका तात्त्विक विवेचन

वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम् ।
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ॥

गीता-महिमा

श्रीमद्भगवद्गीता साक्षात् भगवान्की दिव्य वाणी है। इसकी महिमा अपार है। अपरिमित है। उसका यथार्थमें वर्णन कोई नहीं कर सकता। शेष, महेश, गणेश भी इसकी महिमाको पूरी तरहसे नहीं कह सकते; फिर मनुष्यकी तो बात ही क्या है। इतिहास, पुराणोंमें जगह-जगह इसकी महिमा गायी गयी है; परन्तु जितनी महिमा इसकी अबतक गायी गयी है, उसे एकत्र कर लिया जाय तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि इसकी महिमा इतनी ही है। सच्ची बात तो यह है कि इसकी महिमाका पूर्णतया वर्णन हो ही नहीं सकता। जिस वस्तुका वर्णन हो सकता है वह अपरिमित कहाँ रही, वह तो परिमित हो गयी।

गीता एक परम रहस्यमय ग्रन्थ है। इसमें सम्पूर्ण वेद और शास्त्रोंका सार संग्रह किया गया है। इसकी रचना इतनी सरल और सुन्दर है कि थोड़ा अभ्यास करनेसे भी मनुष्य इसको सहज ही समझ सकता है, परन्तु इसका आशय इतना गूढ़ और गम्भीर है कि आजीवन निरन्तर अभ्यास करते रहनेपर भी उसका अन्त नहीं आता। प्रतिदिन नये-नये भाव उत्पन्न होते ही रहते हैं, इससे वह सदा नवीन ही बना रहता है। एवं एकाग्रचित्त होकर श्रद्धा-

भक्तिसहित विचार करनेसे इसके पद-पदमें परम रहस्य भरा हुआ प्रत्यक्ष प्रतीत होता है। भगवान्के गुण, प्रभाव, स्वरूप, मर्म और उपासनाका तथा कर्म एवं ज्ञानका वर्णन जिस प्रकार इस गीता-शास्त्रमें किया गया है वैसा अन्य ग्रन्थोंमें एक साथ मिलना कठिन है; भगवद्गीता एक ऐसा अनुपमेय शास्त्र है जिसका एक भी शब्द सदुपदेशसे खाली नहीं है। गीतामें एक भी शब्द ऐसा नहीं है जो रोचक कहा जा सके। उसमें जितनी बातें कही गयी हैं, वे सभी अक्षरशः यथार्थ हैं; सत्यस्वरूप भगवान्की वाणीमें रोचकताकी कल्पना करना उसका निरादर करना है।

गीता सर्वशास्त्रमयी है। गीतामें सारे शास्त्रोंका सार भरा हुआ है। उसे सारे शास्त्रोंका खजाना कहें तो भी अत्युक्ति न होगी। गीताका भलीभाँति ज्ञान हो जानेपर सब शास्त्रोंका तात्त्विक ज्ञान अपने-आप हो सकता है, उसके लिये अलग परिश्रम करनेकी आवश्यकता नहीं रहती।

गीता गङ्गासे भी बढ़कर है। शास्त्रोंमें गङ्गास्नानका फल मुक्ति बतलाया गया है। परन्तु गङ्गामें स्नान करनेवाला स्वयं मुक्त हो सकता है, वह दूसरोंको तारनेका सामर्थ्य नहीं रखता। किन्तु गीतारूपी गङ्गामें गोते लगानेवाला स्वयं तो मुक्त होता ही है; वह दूसरोंको भी तारनेमें समर्थ हो जाता है। गङ्गा तो भगवान्के चरणोंसे उत्पन्न हुई है और गीता साक्षात् भगवान् नारायणके मुखारविन्दसे निकली है। फिर गङ्गा तो जो उसमें आकर स्नान करता है उसीको मुक्त करती है, परन्तु गीता तो घर-घरमें जाकर उन्हें मुक्तिका मार्ग दिखलाती है। इन सब कारणोंसे गीताको गङ्गासे बढ़कर कहते हैं।

ऊपर यह बतलाया गया है कि गीता सर्वशास्त्रमयी है। महाभारतमें भी कहा है—'सर्वशास्त्रमयी गीता' (भीष्म० ४३।२)। परन्तु इतना ही कहना पर्याप्त नहीं है। क्योंकि सारे शास्त्रोंकी उत्पत्ति वेदोंसे हुई है, वेदोंका प्राकट्य भगवान् ब्रह्माजीके मुखसे हुआ और ब्रह्माजी भगवान्के नाभि-कमलसे उत्पन्न हुए। इस प्रकार शास्त्रों और भगवान्के बीचमें बहुत अधिक व्यवधान पड़ गया है। किन्तु गीता तो स्वयं भगवान्के मुखारविन्दसे निकली है, इसलिये उसे सभी शास्त्रोंसे बढ़कर कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। स्वयं भगवान् वेदव्यासने कहा है—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥

(महा० भीष्म० ४३। १)

'गीताका ही भली प्रकारसे गान करना चाहिये, अन्य शास्त्रोंके विस्तारकी क्या आवश्यकता है? क्योंकि वह स्वयं पद्मनाभ भगवान्के साक्षात् मुख-कमलसे निकली हुई है।'

इस श्लोकमें 'पद्मनाभ' शब्दका प्रयोग करके महाभारतकारने यही बात व्यक्त की है। तात्पर्य यह है कि यह गीता उन्हीं भगवान्के मुखकमलसे निकली है, जिनके नाभिकमलसे ब्रह्माजी उत्पन्न हुए और ब्रह्माजीके मुखसे वेद प्रकट हुए, जो सम्पूर्ण शास्त्रोंके मूल हैं।

गीता गायत्रीसे बढ़कर है। गायत्री-जपसे मनुष्यकी मुक्ति होती है, यह बात ठीक है; किन्तु गायत्री-जप करनेवाला भी स्वयं ही मुक्त होता है, पर गीताका अभ्यास करनेवाला तो तरन-तारन

बन जाता है। जब मुक्तिके दाता स्वयं भगवान् ही उसके हो जाते हैं, तब मुक्तिकी तो बात ही क्या है। मुक्ति उसकी चरणधूलिमें निवास करती है। मुक्तिका तो वह सत्र खोल देता है।

गीताको हम स्वयं भगवान्‌से भी बढ़कर कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

गीताश्रयेऽहं तिष्ठामि गीता मे चोत्तमं गृहम्।
गीताज्ञानमुपाश्रित्य त्रींल्लोकान् पालयाम्यहम्॥

(वाराहपुराण)

'मैं गीताके आश्रयमें रहता हूँ, गीता मेरा श्रेष्ठ गृह है। गीताके ज्ञानका सहारा लेकर ही मैं तीनों लोकोंका पालन करता हूँ।'

इसके सिवा, गीतामें ही भगवान् मुक्तकण्ठसे यह घोषणा करते हैं कि जो कोई मेरी इस गीतारूप आज्ञाका पालन करेगा, वह निःसन्देह मुक्त हो जायगा; यही नहीं, भगवान् कहते हैं कि जो कोई इसका अध्ययन भी करेगा, उसके द्वारा ज्ञानयज्ञसे मैं पूजित होऊँगा। जब गीताके अध्ययनमात्रका इतना माहात्म्य है, तब जो मनुष्य इसके उपदेशोंके अनुसार अपना जीवन बना लेता है, और इसका रहस्य भक्तोंको धारण कराता है और उनमें इसका विस्तार एवं प्रचार करता है उसकी तो बात ही क्या है। उसके लिये तो भगवान् कहते हैं, कि वह मुझको अतिशय प्रिय है। वह भगवान्‌को प्राणोंसे भी बढ़कर प्यारा होता है, यह भी कहा जाय तो कुछ अनुचित न होगा! भगवान् अपने ऐसे भक्तोंके अधीन बन जाते हैं। अच्छे पुरुषोंमें भी यह देखा जाता है कि उनके सिद्धान्तोंका पालन

करनेवाला जितना उन्हें प्रिय होता है, उतने प्यारे उन्हें अपने प्राण भी नहीं होते। गीता भगवान्का प्रधान रहस्यमय आदेश है। ऐसी दशामें उसका पालन करनेवाला उन्हें प्राणोंसे भी बढ़कर प्रिय हो, इसमें आश्चर्य ही क्या है।

गीता भगवान्का श्वास है, हृदय है और भगवान्की वाङ्मयी मूर्ति है। जिसके हृदयमें, वाणीमें, शरीरमें तथा समस्त इन्द्रियों एवं उनकी क्रियाओंमें गीता रम गयी है वह पुरुष साक्षात् गीताकी मूर्ति है। उसके दर्शन, स्पर्श, भाषण एवं चिन्तनसे भी दूसरे मनुष्य परम पवित्र बन जाते हैं। फिर उसके आज्ञापालन एवं अनुकरण करनेवालोंकी तो बात ही क्या है। वास्तवमें गीताके समान संसारमें यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत, संयम और उपवास आदि कुछ भी नहीं है।

गीता साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णके मुखारविन्दसे निकली हुई वाणी है। इसके सङ्कलनकर्ता श्रीव्यासजी हैं। भगवान् श्रीकृष्णने अपने उपदेशका कितना ही अंश तो पद्योंमें ही कहा था, जिसे व्यासजीने ज्यों-का-त्यों रख दिया। कुछ अंश जो उन्होंने गद्यमें कहा था, उसे व्यासजीने स्वयं श्लोकबद्ध कर लिया, साथ ही अर्जुन, सञ्जय एवं धृतराष्ट्रके वचनोंको अपनी भाषामें ग्रथित कर लिया और इस पूरे ग्रन्थको अठारह अध्यायोंमें विभक्त करके महाभारतके अंदर मिला लिया, जो आज हमें इस रूपमें उपलब्ध है।

गीताका तात्पर्य

गीता ज्ञानका अथाह समुद्र है, इसके अंदर ज्ञानका अनन्त भण्डार भरा पड़ा है। इसका तत्त्व समझानेमें बड़े-बड़े दिग्गज

विद्वान् और तत्त्वालोचक महात्माओंकी वाणी भी कुण्ठित हो जाती है। क्योंकि इसका पूर्ण रहस्य भगवान् श्रीकृष्ण ही जानते हैं। उनके बाद कहीं इसके सङ्कलनकर्ता व्यासजी और श्रोता अर्जुनका नम्बर आता है। ऐसी अगाध रहस्यमयी गीताका आशय और महत्त्व समझना मेरे-जैसे मनुष्यके लिये ठीक वैसा ही है, जैसा एक साधारण पक्षीका अनन्त आकाशका पता लगानेके लिये प्रयत्न करना। गीता अनन्त भावोंका अथाह समुद्र है। रत्नाकरमें गहरा गोता लगानेपर जैसे रत्नोंकी प्राप्ति होती है, वैसे ही इस गीता-सागरमें गहरी डुबकी लगानेसे जिज्ञासुओंको नित्य-नूतन विलक्षण भाव-रत्नराशिकी उपलब्धि होती है। परन्तु आकाशमें गरुड़ भी उड़ते हैं तथा साधारण मच्छर भी। इसीके अनुसार सभी अपने-अपने भावके अनुसार कुछ अनुभव करते ही हैं। अतएव विचार करनेपर प्रतीत होता है कि गीताका मुख्य तात्पर्य अनादिकालसे अज्ञानवश संसार-समुद्रमें पड़े हुए जीवको परमात्माकी प्राप्ति करवा देनेमें है और उसके लिये गीतामें ऐसे उपाय बतलाये गये हैं, जिनसे मनुष्य अपने सांसारिक कर्तव्यकर्मोंका भलीभाँति आचरण करता हुआ ही परमात्माको प्राप्त कर सकता है। व्यवहारमें परमार्थके प्रयोगकी यह अद्भुत कला गीतामें बतलायी गयी है और अधिकारी-भेदसे परमात्माकी प्राप्तिके लिये इस प्रकारकी दो निष्ठाओंका प्रतिपादन किया गया है। वे दो निष्ठाएँ हैं—ज्ञाननिष्ठा यानी सांख्यनिष्ठा और योगनिष्ठा (३ । ३)। यहाँ यह प्रश्न होता है कि 'प्रायः सभी शास्त्रोंमें भगवान्‌को प्राप्त करनेके तीन प्रधान मार्ग बतलाये गये हैं—कर्म, उपासना और ज्ञान। ऐसी दशामें गीताने दो ही निष्ठाएँ कैसे मानी हैं ? क्या गीताको भक्तिका सिद्धान्त

मान्य नहीं है ? बहुत-से लोग तो गीताका उपदेश भक्तिप्रधान ही मानते हैं और यत्र-तत्र भगवान्‌ने भक्तिका विशेष महत्त्व भी स्पष्ट शब्दोंमें कहा है (६।४७) और भक्तिके द्वारा अपनी प्राप्ति सुलभ बतलायी है (८।१४; ११।५४)।' इसका उत्तर यह है कि गीताने भक्तिको भगवत्-प्राप्तिका प्रधान साधन माना है—लोगोंकी यह मान्यता ठीक ही है। गीताने भक्तिको बहुत ऊँचा स्थान दिया है और स्थान-स्थानपर अर्जुनको भक्त बननेकी आज्ञा भी दी है (९।३४; १२।८; १८।५७, ६५, ६६)। परन्तु गीताने निष्ठाएँ दो ही मानी हैं। इनमें भक्ति योगनिष्ठामें शामिल है। और भक्तिके क्रियात्मिका होनेसे गीताका ऐसा मानना युक्ति-विरुद्ध भी नहीं कहा जा सकता। भक्ति किस प्रकार योगनिष्ठाके साथ मिली हुई है, इसपर आगे चलकर विचार किया जायगा। अस्तु,

इसके अतिरिक्त 'ज्ञान' और 'कर्म' शब्दोंका जिस अर्थमें गीतामें प्रयोग हुआ है, वह भी विशेष रहस्यमय है। गीताके कर्म और कर्मयोग तथा ज्ञान और ज्ञानयोग एक ही चीज नहीं हैं। गीताके अनुसार शास्त्रविहित कर्म ज्ञाननिष्ठा और योगनिष्ठा दोनों ही दृष्टियोंसे हो सकते हैं। ज्ञाननिष्ठामें भी कर्मका विरोध नहीं है और योगनिष्ठामें तो कर्मोंका सम्पादन ही साधन माना गया है (६।३) और उनका स्वरूपसे त्याग उल्टा बाधक माना गया है (३।४)। दूसरे अध्यायके ४७वेंसे लेकर ५१वें श्लोकतक तथा तीसरे अध्यायके १९वें और चौथे अध्यायके ४२वें श्लोकोंमें अर्जुनको योगनिष्ठाकी दृष्टिसे कर्म करनेकी आज्ञा दी गयी है और अध्याय ३।२८ तथा ५।८, ९, १३ में सांख्य यानी ज्ञाननिष्ठाकी दृष्टिसे कर्म करनेकी बात कही गयी

है। सकाम कर्मके लिये किसी भी निष्ठामें स्थान ही नहीं है, सकाम-कर्मियोंको तो भगवान्‌ने तुच्छ बतलाया है (२। ४२ से ४४; ७। २० से २३; ९। २०, २१)।

ज्ञानका अर्थ भी गीतामें केवल ज्ञानयोग ही नहीं है; फलरूप ज्ञानको भी, जो सब प्रकारके साधनोंका फल है—जो ज्ञाननिष्ठा और योगनिष्ठा दोनोंका फल है, और जिसे यथार्थ ज्ञान तथा तत्त्वज्ञान भी कहते हैं, 'ज्ञान' शब्दसे ही कहा है। अध्याय ४। २४ तथा २५के उत्तरार्द्धमें ज्ञानयोगका वर्णन है और अध्याय ४। ३६-३९ में फलरूप ज्ञानका वर्णन है। इसी प्रकार अन्यत्र भी प्रसङ्गानुसार समझ लेना चाहिये।

शास्त्रोंमें कर्म और ज्ञानके अतिरिक्त जो 'उपासना'का प्रकरण आया है, वह उपासना इन्हीं दो निष्ठाओंके अन्तर्गत है। जब अपनेको परमात्मासे अभिन्न मानकर उपासना की जाती है तब वह सांख्यनिष्ठाके अन्तर्गत आ जाती है, और जब भेददृष्टिसे की जाती है तब योगनिष्ठाके अन्तर्गत मानी जाती है। सांख्यनिष्ठा और योगनिष्ठामें यही मुख्य अन्तर है। इसी प्रकार अध्याय १३। २४में केवल ध्यानके द्वारा परमात्माकी प्राप्ति बतलायी गयी है; परन्तु वहाँ भी यही बात समझनी चाहिये कि जो ध्यान अभेददृष्टिसे किया जाता है वह सांख्यनिष्ठाके अन्तर्गत है, और जो भेददृष्टिसे किया जाता है वह योगनिष्ठाके अन्तर्गत है।

गीतामें केवल भजन-पूजन अथवा केवल ध्यानसे अपनी प्राप्ति बतलाकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि योगनिष्ठाके पूरे साधनसे तो उनकी प्राप्ति होती ही है, उसके एक-एक अङ्गके

साधनसे भी उनकी प्राप्ति हो सकती है। यह उनकी कृपा है कि उन्होंने अपनेको जीवोंके लिये इतना सुलभ बना दिया है। अब, सांख्यनिष्ठा और योगनिष्ठाके क्या स्वरूप हैं, उन दोनोंमें क्या अन्तर है, उनके कितने और कौन-कौन-से अवान्तर भेद हैं तथा दोनों निष्ठाएँ स्वतन्त्र हैं अथवा परस्पर सापेक्ष हैं, इन निष्ठाओंके कौन-कौन अधिकारी हैं, इत्यादि विषयोंपर संक्षेपसे विचार किया जा रहा है—

सांख्यनिष्ठा और योगनिष्ठाका स्वरूप

(१) सम्पूर्ण पदार्थ मृगतृष्णाके जलकी भाँति अथवा स्वप्नकी सृष्टिके सदृश मायामय होनेसे मायाके कार्यरूप सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरतते हैं—इस प्रकार समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरके द्वारा होनेवाले समस्त कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होना (५। ८-९) तथा सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें एकीभावसे नित्य स्थित रहते हुए एक सच्चिदानन्दघन वासुदेवके सिवा अन्य किसीके भी अस्तित्वका भाव न रहना (१३। ३०)—यह तो 'सांख्यनिष्ठा' है। 'ज्ञानयोग' अथवा 'कर्मसंन्यास' भी इसीके नाम हैं। और—

(२) सब कुछ भगवान्‌का समझकर, सिद्धि-असिद्धिमें समभाव रखते हुए, आसक्ति और फलकी इच्छाका त्याग करके भगवत्-आज्ञानुसार सब कर्मोंका आचरण करना (२। ४७ से ५१) अथवा श्रद्धा-भक्तिपूर्वक मन, वाणी और शरीरसे सब प्रकार भगवान्‌के शरण होकर नाम, गुण और प्रभावसहित उनके स्वरूपका निरन्तर चिन्तन करना (६। ४७)—यह 'योगनिष्ठा' है। इसीका भगवान्‌ने

समत्वयोग, बुद्धियोग, तदर्थकर्म, मदर्थकर्म एवं सात्त्विक त्याग आदि नामोंसे उल्लेख किया है।

योगनिष्ठामें सामान्यरूपसे अथवा प्रधानरूपसे भक्ति रहती ही है। गीतोक्त योगनिष्ठा भक्तिसे शून्य नहीं है। जहाँ भक्ति अथवा भगवान्‌का स्पष्ट शब्दोंमें उल्लेख नहीं है (२। ४७ से ५१) वहाँ भी भगवान्‌की आज्ञाका पालन तो है ही और उसका फल भी भगवान्‌की ही प्राप्ति है—इस दृष्टिसे भक्तिका सम्बन्ध वहाँ भी है ही।

ज्ञाननिष्ठाके साधनके लिये भगवान्‌ने अनेक युक्तियाँ बतलायी हैं, उन सबका फल एक सच्चिदानन्दघन परमात्माकी प्राप्ति ही है। ज्ञानयोगके अवान्तर भेद कई होते हुए भी उन्हें मुख्य चार विभागोंमें बाँटा जा सकता है—

(१) जो कुछ है, वह ब्रह्म ही है।

(२) जो कुछ दृश्यवर्ग प्रतीत होता है, वह मायामय है; वास्तवमें एक सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

(३) जो कुछ प्रतीत होता है, वह सब मेरा ही स्वरूप है—मैं ही हूँ।

(४) जो कुछ प्रतीत होता है, वह मायामय है, अनित्य है, वास्तवमें है ही नहीं; केवल एक चेतन आत्मा मैं ही हूँ।

इनमेंसे पहले दो साधन 'तत्त्वमसि' महावाक्यके 'तत्' पदकी दृष्टिसे हैं और पिछले दो साधन 'त्वम्' पदकी दृष्टिसे हैं। इन्हींका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

(१) इस चराचर जगत्‌में जो कुछ प्रतीत होता है, सब

ब्रह्म ही है, एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके अतिरिक्त और कोई वस्तु है ही नहीं। जो कुछ कर्म हम करते हैं वह कर्म, उस कर्मके साधन एवं उपकरण तथा स्वयं कर्ता—सब कुछ ब्रह्म है (४ । २४)। जिस प्रकार समुद्रमें पड़े हुए बरफके ढेलोंके बाहर और भीतर सब जगह जल-ही-जल व्याप्त है तथा वे ढेले स्वयं भी जलरूप ही हैं, उसी प्रकार समस्त चराचर भूतोंके बाहर-भीतर एकमात्र परमात्मा ही परिपूर्ण हैं तथा उन समस्त भूतोंके रूपमें भी वे ही हैं (१३ । १५)।

(२) जो कुछ यह दृश्यवर्ग है, उसे मायामय, क्षणिक एवं नाशवान् समझकर—उसका अभाव करके केवल एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही है, और कुछ भी नहीं है—ऐसा समझते हुए मन-बुद्धिको भी ब्रह्ममें तद्रूप कर देना एवं परमात्मामें एकीभावसे स्थित होकर उनके अपरोक्षज्ञानद्वारा उनमें एकता प्राप्त कर लेना (४ । २५ का उत्तरार्द्ध; ५ । १७)।

(३) चर, अचर सब ब्रह्म है और वह ब्रह्म मैं हूँ; इसलिये सब मेरा ही स्वरूप है—इस प्रकार विचारकर सम्पूर्ण चराचर प्राणियोंको अपना आत्मा ही समझना यानी समस्त भूतोंमें अपने आत्माको देखना और आत्माके अन्तर्गत समस्त भूतोंको देखना (६ । २९)।

इस प्रकारका साधन करनेवालेकी दृष्टिमें एक ब्रह्मके सिवा अन्य कुछ भी नहीं रहता—वह फिर अपने उस विज्ञानानन्दघन स्वरूपमें ही आनन्दका अनुभव करता है (१८ । ५४)।

(४) जो कुछ भी यह मायामय तीनों गुणोंका कार्यरूप दृश्यवर्ग है इसको और इसके द्वारा होनेवाली सारी क्रियाओंको अपने-

से पृथक्, नाशवान् एवं अनित्य समझना तथा इन सबका अत्यन्त अभाव करके केवल भावरूप आत्माका ही अनुभव करना (१३।३४)।

इस प्रकारकी स्थिति प्राप्त करनेके लिये भगवान्ने गीतामें अनेक युक्तियोंसे साधकको जगह-जगह यह बात समझायी है कि आत्मा द्रष्टा, साक्षी, चेतन और नित्य है, तथा यह देहादि जड दृश्यवर्ग—जो कुछ प्रतीत होता है—अनित्य होनेसे असत् है; केवल आत्मा ही सत् है। इसी बातको पुष्ट करनेके लिये भगवान्ने दूसरे अध्यायके ११ वेंसे ३० वें श्लोकतक नित्य, शुद्ध, बुद्ध, निराकार, निर्विकार, अक्रिय, गुणातीत आत्माके स्वरूपका वर्णन किया है। अभेदरूपसे साधन करनेवाले पुरुषोंको आत्माका स्वरूप ऐसा ही मानकर साधन करनेसे आत्माका साक्षात्कार होता है। जो कुछ चेष्टा हो रही है, गुणोंकी ही गुणोंमें हो रही है, आत्माका उससे कोई सम्बन्ध नहीं है (५। ८, ९; १४। १९)—न वह कुछ करता है और न करवाता है—ऐसा समझकर वह नित्य-निरन्तर अपने-आपमें ही अत्यन्त आनन्दका अनुभव करता है (५। १३)।

उपर्युक्त ज्ञानयोगके साधनोंमें पहले दो साधन तो ब्रह्मकी उपासनासे युक्त हैं एवं तीसरा और चौथा साधन अहंग्रह-उपासनासे युक्त है।

यहाँ प्रश्न यह होता है कि 'उपर्युक्त चारों साधन व्युत्थान-अवस्थामें करनेके हैं या ध्यानावस्थामें, या कि वे दोनों ही अवस्थाओंमें किये जा सकते हैं? इसका उत्तर यह है कि पहले साधनका पहला अंश, जो अध्याय ४। २४ के अनुसार करनेका है, तथा चौथे

साधनके अन्तमें जो प्रक्रिया अध्याय ५ । ८, ९ के अनुसार बतलायी गयी है—ये दोनों तो केवल व्यवहारकालमें करनेके हैं और दूसरा साधन केवल ध्यानकालमें ही करनेका है । शेष सब दोनों ही अवस्थाओंमें किये जा सकते हैं ।

यहाँ कोई यह पूछ सकता है कि पहले साधनमें 'वासुदेवः सर्वमिति'—जो कुछ दीखता है सब वासुदेवका ही स्वरूप है (७ । १९) तथा 'सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः'—जो पुरुष एकीभावमें स्थित हुआ मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेवको ही भजता है (६ । ३१)—इनका उल्लेख क्यों नहीं किया गया ?' इसका उत्तर यह है कि ये दोनों श्लोक भक्तिके प्रसङ्गके हैं और दोनोंमें ही परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषका वर्णन है; अतः इनका उल्लेख उस प्रसङ्गमें नहीं किया गया । परन्तु यदि कोई इनको ज्ञान-के प्रसङ्गमें लेकर इनके अनुसार साधन करना चाहे तो कर सकता है; ऐसा करनेमें भी कोई आपत्ति नहीं है ।

जिस प्रकार ऊपर सांख्यनिष्ठाके चार विभाग किये गये हैं, उसी प्रकार योगनिष्ठाके तीन मुख्य भेद हैं—

१—केवल कर्मयोग ।
२—भक्तिमिश्रित कर्मयोग ।
३—और भक्तिप्रधान कर्मयोग ।

(१) केवल कर्मयोगके उपदेशमें कहीं-कहीं भगवान्ने केवल फलके त्यागकी बात कही है (५ । १२; ६ । १; १२ । ११; १८ । ११), कहीं केवल आसक्तिके त्यागकी बात कही है (३ । १९; ६ । ४) और कहीं फल और आसक्ति दोनोंके छोड़नेकी बात

कही गयी है (२ । ४७, ४८; १८ । ६, ९)। जहाँ केवल फलके त्यागकी बात कही गयी है, वहाँ आसक्तिके त्यागकी बात ऊपरसे ले लेनी चाहिये और जहाँ केवल आसक्तिके त्यागकी बात कही है, वहाँ फलके त्यागकी बात ऊपरसे ले लेनी चाहिये। कर्मयोगका साधन वास्तवमें तभी पूर्ण होता है जब फल और आसक्ति दोनोंका ही त्याग होता है।

(२) भक्तिमिश्रित कर्मयोग—इसमें सारे संसारमें परमेश्वरको व्याप्त समझते हुए अपने-अपने वर्णोचित कर्मके द्वारा भगवान्की पूजा करनेकी बात कही गयी है (१८ । ४६); इसीलिये इसको भक्तिमिश्रित कर्मयोग कह सकते हैं।

(३) भक्ति-प्रधान कर्मयोग—

इसके दो अवान्तर भेद हैं—

(क) 'भगवदर्पण' कर्म।

(ख) और 'भगवदर्थ' कर्म।

भगवदर्पण कर्म भी दो तरहसे किया जाता है। पूर्ण 'भगवदर्पण' तो वह है जिसमें समस्त कर्मोंमें ममता, आसक्ति और फलेच्छाको त्यागकर तथा यह सब कुछ भगवान्का है, मैं भी भगवान्का हूँ और मेरेद्वारा जो कर्म होते हैं वे भी भगवान्के ही हैं, भगवान् ही मुझसे कठपुतलीकी भाँति सब कुछ करवा रहे हैं—ऐसा समझते हुए भगवान्के आज्ञानुसार भगवान्की ही प्रसन्नताके लिये शास्त्रविहित कर्म किये जाते हैं (३ । ३०; १२ । ६; १८ । ५७, ६६)।

इसके अतिरिक्त पहले किसी दूसरे उद्देश्यसे किये हुए कर्मोंको पीछेसे भगवान्के अर्पण कर देना; कर्म करते-करते बीचमें ही भगवान्-

के अर्पण कर देना, कर्म समाप्त होनेके साथ-साथ भगवान्के अर्पण कर देना अथवा कर्मोंका फलमात्र भगवान्के अर्पण कर देना—यह भी 'भगवदर्पण' का ही प्रकार है, यद्यपि यह भगवदर्पणकी प्रारम्भिक सीढ़ी है। ऐसा करते-करते ही उपर्युक्त पूर्ण भगवदर्पण होता है।

'भगवदर्थ' कर्म भी दो प्रकारके होते हैं—

भगवान्के विग्रह आदिका अर्चन तथा भजन-ध्यान आदि उपासनारूप कर्म जो भगवान्के ही निमित्त किये जाते हैं और जो स्वरूपसे भी भगवत्सम्बन्धी होते हैं, उनको 'भगवदर्थ, कह सकते हैं।

इनके अतिरिक्त जो शास्त्रविहित कर्म भगवत्प्राप्ति, भगवत्प्रेम अथवा भगवान्की प्रसन्नताके लिये भगवदाज्ञानुसार किये जाते हैं, वे भी 'भगवदर्थ' कर्मके ही अन्तर्गत हैं। इन दोनों प्रकारके कर्मोंका 'मत्कर्म' और 'मदर्थकर्म' नामसे भी गीतामें उल्लेख हुआ है (११।५५; १२।१०)।

जिसे अनन्य भक्ति अथवा भक्तियोग कहा गया है (८।१४, २२; ९।१३, १४, २२, ३०, ३४; १०।९; १३।१०; १४।२६), वह भी 'भगवदर्पण' और 'भगवदर्थ' इन दोनों कर्मोंमें ही सम्मिलित है। इन सबका फल एक भगवत्प्राप्ति ही है।

अब प्रश्न यह होता है कि योगनिष्ठा स्वतन्त्ररूपसे भगवत्प्राप्ति करा देती है या ज्ञाननिष्ठाका अङ्ग बनकर? इसका उत्तर यह है कि गीताको दोनों ही सिद्धान्त मान्य हैं। अर्थात् भगवद्गीता योगनिष्ठाको भगवत्प्राप्ति यानी मोक्षका स्वतन्त्र साधन भी मानती है और ज्ञाननिष्ठामें सहायक भी। साधक चाहे तो बिना ज्ञाननिष्ठाकी

सहायताके सीधे ही कर्मयोगसे परम सिद्धि प्राप्त कर सकता है अथवा कर्मयोगके द्वारा ज्ञाननिष्ठाको प्राप्त कर फिर ज्ञाननिष्ठाके द्वारा परमात्माकी प्राप्ति कर सकता है । दोनोंमेंसे वह कौन-सा मार्ग ग्रहण करे, यह उसकी रुचिपर निर्भर है । योगनिष्ठा स्वतन्त्र है, इस बातको भगवान्ने स्पष्ट शब्दोंमें अध्याय ५ । ४, ५ तथा १३ । २४ में कहा है । भगवान्में चित्त लगाकर भगवान्के लिये ही कर्म करनेवालेको भगवान्की कृपासे भगवान् शीघ्र मिल जाते हैं, यह बात जगह-जगह भगवान्ने कही है (८ । ७; ११ । ५५; १२ । ६ से ८; १८ । ५६ से ५८, ६२) । इसी प्रकार निष्काम कर्म और उपासना दोनों ही ज्ञाननिष्ठाके अङ्ग भी बन सकते हैं। किन्तु अभेद-उपासना होनेसे ज्ञाननिष्ठा भेद-उपासनारूप भक्तियोग यानी योगनिष्ठाका अङ्ग नहीं बन सकती । यह दूसरी बात है कि किसी ज्ञाननिष्ठाके साधककी आगे चलकर रुचि अथवा मत बदल जाय और वह ज्ञाननिष्ठाको छोड़कर योगनिष्ठाको पकड़ ले और उसे फिर योगनिष्ठाके द्वारा ही भगवत्प्राप्ति हो ।

यदि कोई पूछे कि कर्मयोगका साधन करके फिर सांख्ययोगके साधनद्वारा जो सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्राप्त होते हैं, उनकी प्रणाली कैसी होती है, तो इसे जाननेके लिये 'त्याग' के नामसे सात श्रेणियोंमें विभाग करके उसे यों समझना चाहिये—

(१) निषिद्ध कर्मोंका सर्वथा त्याग ।

चोरी, व्यभिचार, झूठ, कपट, छल, जबरदस्ती, हिंसा, अभक्ष्य-भोजन और प्रमाद आदि शास्त्रविरुद्ध नीच कर्मोंको मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी न करना । यह पहली श्रेणीका त्याग है ।

(२) काम्य कर्मोंका त्याग ।

स्त्री, पुत्र और धन आदि प्रिय वस्तुओंकी प्राप्तिके एवं रोग-सङ्कटादिकी निवृत्तिके उद्देश्यसे किये जानेवाले यज्ञ, दान, तप और उपासना आदि सकाम कर्मोंको अपने स्वार्थके लिये न करना । यह दूसरी श्रेणीका त्याग है ।

यदि कोई लौकिक अथवा शास्त्रीय ऐसा कर्म संयोगवश प्राप्त हो जाय, जो स्वरूपसे तो सकाम हो परन्तु उसके न करनेसे किसीको कष्ट पहुँचता हो या कर्म-उपासनाकी परम्परामें किसी प्रकारकी बाधा आती हो तो स्वार्थका त्याग करके केवल लोकसंग्रह-के लिये उसे कर लेना सकाम कर्म नहीं है ।

(३) तृष्णाका सर्वथा त्याग

मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा एवं स्त्री, पुत्र और धनादि जो कुछ भी अनित्य पदार्थ प्रारब्धके अनुसार प्राप्त हुए हों; उनके बढ़नेकी इच्छाको भगवत्प्राप्तिमें बाधक समझकर उसका त्याग करना । यह तीसरी श्रेणीका त्याग है ।

(४) स्वार्थके लिये दूसरोंसे सेवा करानेका त्याग ।

अपने सुखके लिये किसीसे भी धनादि पदार्थोंकी अथवा सेवा करानेकी याचना करना एवं बिना याचनाके दिये हुए पदार्थोंको या की हुई सेवाको स्वीकार करना तथा किसी प्रकार भी किसीसे अपना स्वार्थ सिद्ध करनेकी मनमें इच्छा रखना—इत्यादि जो स्वार्थके लिये दूसरोंसे सेवा करानेके भाव हैं, उन सबका त्याग करना । यह चौथी श्रेणीका त्याग है ।

यदि कोई ऐसा अवसर योग्यतासे प्राप्त हो जाय कि शरीर-सम्बन्धी सेवा अथवा भोजनादि पदार्थोंके स्वीकार न करनेसे किसीको कष्ट पहुँचता हो या लोकशिक्षामें किसी प्रकारकी बाधा आती हो तो उस अवसरपर स्वार्थका त्याग करके केवल उनकी प्रीतिके लिये सेवादिका स्वीकार करना दोषयुक्त नहीं है। क्योंकि स्त्री, पुत्र और नौकर आदिसे की हुई सेवा एवं बन्धु-बान्धव और मित्र आदिद्वारा दिये हुए भोजनादि पदार्थोंके स्वीकार न करनेसे उनको कष्ट होना एवं लोकमर्यादामें बाधा पड़ना सम्भव है।

(५) सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्मोंमें आलस्य और फलकी इच्छाका सर्वथा त्याग।

ईश्वरकी भक्ति, देवताओंका पूजन, माता-पितादि गुरुजनोंकी सेवा, यज्ञ, दान, तप तथा वर्णाश्रमके अनुसार आजीविकाद्वारा गृहस्थका निर्वाह एवं शरीर-सम्बन्धी खान-पान आदि जितने कर्तव्यकर्म हैं, उन सबमें आलस्यका और सब प्रकारकी कामनाका त्याग करना।

(६) संसारके सम्पूर्ण पदार्थों और कर्मोंमें ममता और आसक्तिका सर्वथा त्याग।

धन, मकान और वस्त्रादि संपूर्ण वस्तुएँ तथा स्त्री, पुत्र और मित्रादि सम्पूर्ण बान्धवजन एवं मान, बड़ाई और प्रतिष्ठा इत्यादि इस लोकके और परलोकके जितने विषय-भोगरूप पदार्थ हैं, उन सबको क्षणभङ्गुर और नाशवान् होनेके कारण अनित्य समझकर उनमें ममता और आसक्तिका न रहना तथा केवल एक परमात्मामें ही अनन्यभावसे विशुद्ध प्रेम होनेके कारण मन, वाणी और शरीरके द्वारा

होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंमें और शरीरमें भी ममता और आसक्ति-का सर्वथा अभाव हो जाना। यह छठी श्रेणीका त्याग है।

उक्त छठी श्रेणीके त्यागको प्राप्त हुए पुरुषोंका संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंमें वैराग्य होकर केवल एक परम प्रेममय भगवान्‌में ही अनन्य प्रेम हो जाता है। इसलिये उनको भगवान्‌के गुण, प्रभाव और रहस्यसे भरी हुई विशुद्ध प्रेमके विषयकी कथाओंका सुनना-सुनाना और मनन करना तथा एकान्त देशमें रहकर निरन्तर भगवान्‌का भजन, ध्यान और शास्त्रोंके मर्मका विचार करना ही प्रिय लगता है। विषयासक्त मनुष्योंमें रहकर हास्य, विलास, प्रमाद, निन्दा, विषय-भोग और व्यर्थ वार्तादिमें अपने अमूल्य समयका एक क्षण भी बिताना अच्छा नहीं लगता एवं उनके द्वारा सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्म भगवान्‌के स्वरूप और नामका मनन रहते हुए ही बिना आसक्तिके केवल भगवदर्थ होते हैं।

यह कर्मयोगका साधन है; इस साधनके करते-करते ही साधक परमात्माकी कृपासे परमात्माके स्वरूपको तत्त्वतः जानकर अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है (१८।५६)।

किन्तु यदि कोई सांख्ययोगके द्वारा परमात्माको प्राप्त करना चाहे तो उसे उपर्युक्त साधन करनेके अनन्तर निम्नलिखित सातवीं श्रेणीकी प्रणालीके अनुसार सांख्ययोगका साधन करना चाहिये।

(७) संसार, शरीर और सम्पूर्ण कर्मोंमें सूक्ष्म वासना और अहंभावका सर्वथा त्याग।

संसारके सम्पूर्ण पदार्थ मायाके कार्य होनेसे सर्वथा अनित्य हैं

और एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही सर्वत्र समभावसे परिपूर्ण है—ऐसा दृढ़ निश्चय होकर शरीरसहित संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंमें और सम्पूर्ण कर्मोंमें सूक्ष्म वासनाका सर्वथा अभाव हो जाना अर्थात् अन्तःकरणमें उनके चित्रोंका संस्काररूपसे भी न रहना एवं शरीरमें अहंभावका सर्वथा अभाव होकर मन, वाणी और शरीरद्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका लेशमात्र भी न रहना तथा इस प्रकार शरीरसहित सम्पूर्ण पदार्थों और कर्मोंमें वासना और अहंभावका अत्यन्त अभाव होकर एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें ही एकीभावसे नित्य-निरन्तर दृढ़ स्थिति रहना। यह सातवीं श्रेणीका त्याग है।

इस प्रकार साधन करनेसे वह पुरुष तत्काल ही सच्चिदानन्दघन परमात्माको सुखपूर्वक प्राप्त हो जाता है (६। २८)। किन्तु जो पुरुष उक्त प्रकारसे कर्मयोगका साधन न करके आरम्भसे ही सांख्ययोगका साधन करता है, वह परमात्माको कठिनतासे प्राप्त होता है।

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।

(५। ६)

यहाँ यह प्रश्न होता है कि कोई साधक एक ही समयमें दोनों निष्ठाओंके अनुसार साधन कर सकता है या नहीं—यदि नहीं तो क्यों? इसका उत्तर यह है कि—सांख्ययोग और कर्मयोग—इन दोनों साधनोंका सम्पादन एक कालमें एक ही पुरुषके द्वारा नहीं किया जा सकता। क्योंकि कर्मयोगी साधनकालमें कर्मोंको, कर्मफलको, परमात्माको और अपनेको भिन्न-भिन्न मानकर कर्मफल और आसक्ति-

का त्याग करके ईश्वरार्थ या ईश्वरार्पणबुद्धिसे समस्त कर्म करता है (३ । ३०; ५ । १०; ११ । ५५; १२ । १०; १८ । ५६-५७) और सांख्ययोगी मायासे उत्पन्न सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं अथवा इन्द्रियाँ ही इन्द्रियोंके अर्थोंमें बरत रही हैं—ऐसा समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरके द्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंमें कर्तापन-के अभिमानसे रहित होकर केवल सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें अभिन्नभावसे स्थित रहता है (३ । २८; ५ । १३; १३ । २९; १४ । १९-२०; १८ । ४९ से ५५)। कर्मयोगी अपनेको कर्मोंका कर्ता मानता है (५ । ११), सांख्ययोगी कर्ता नहीं मानता (५ । ८, ९)। कर्मयोगी अपने कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण करता है (९ । २७, २८), सांख्ययोगी मन और इन्द्रियोंके द्वारा होनेवाली अहंतारहित क्रियाओंको कर्म ही नहीं मानता (१८ । १७)। कर्मयोगी परमात्माको अपनेसे पृथक् मानता है (१२ । १०), सांख्ययोगी सदा अभेद मानता है (१८ । २०)। कर्मयोगी प्रकृति और ईश्वरकी भिन्न सत्ता स्वीकार करता है (१८ । ६१), सांख्ययोगी एक ब्रह्मके सिवा किसीकी भी सत्ता नहीं मानता (१३ । ३०)। कर्मयोगी कर्मफल और कर्मकी सत्ता मानता है, सांख्ययोगी न तो ब्रह्मसे भिन्न कर्म और उनके फलकी सत्ता ही मानता है और न उनसे अपना कोई सम्बन्ध ही समझता है। इस प्रकार दोनोंकी साधनप्रणाली और मान्यतामें पूर्व और पश्चिमकी भाँति महान् अन्तर है। ऐसी अवस्थामें दोनों निष्ठाओंका साधन एक पुरुष एक कालमें नहीं कर सकता। किन्तु जैसे किसी मनुष्यको भारतवर्षसे अमेरिका, न्यूयार्क शहरको जाना है, तो वह यदि ठीक

रास्तेसे होकर यहाँसे पूर्व-ही-पूर्व दिशामें जाता रहे तो भी अमेरिका पहुँच जायगा और पश्चिम-ही-पश्चिमकी ओर चलता रहे तो भी अमेरिका पहुँच जायगा; वैसे ही सांख्ययोग और कर्मयोगकी साधन-प्रणालीमें परस्पर भेद होनेपर भी जो मनुष्य किसी एक साधनमें दृढ़तापूर्वक लगा रहता है, वह दोनोंके ही एकमात्र परम लक्ष्य परमात्मातक पहुँच ही जाता है (गीता ५ । ४) ।

अधिकारी

अब प्रश्न यह रह जाता है कि गीतोक्त सांख्ययोग और कर्मयोगके अधिकारी कौन हैं—क्या सभी वर्णों और सभी आश्रमोंके तथा सभी जातियोंके लोग इनका आचरण कर सकते हैं अथवा किसी खास वर्ण, किसी खास आश्रम तथा किसी खास जातिके लोग ही इनका साधन कर सकते हैं। इसका उत्तर यह है कि यद्यपि गीतामें जिस पद्धतिका निरूपण किया गया है वह सर्वथा भारतीय और ऋषिसेवित है, तथापि गीताकी शिक्षापर विचार करनेपर यह कहा जा सकता है कि गीतामें बतलाये हुए साधनोंके अनुसार आचरण करनेका अधिकार मनुष्यमात्रको है। जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णका यह उपदेश समस्त मानवजातिके लिये है—किसी खास वर्ण अथवा किसी खास आश्रमके लिये नहीं। यही गीताकी विशेषता है। भगवान्ने अपने उपदेशमें जगह-जगह 'मानवः', 'नरः', 'देहभृत', 'देही' इत्यादि शब्दोंका प्रयोग करके इस बातको स्पष्ट कर दिया है। अध्याय ५ । १३ में जहाँ सांख्ययोगका मुख्य साधन बतलाया गया है, भगवान्ने देही शब्दका प्रयोग करके मनुष्यमात्रको उसका अधिकारी

बतलाया है। इसी प्रकार अध्याय १८। ४६ में भगवान्ने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है कि मनुष्यमात्र अपने-अपने शास्त्रविहित कर्मोंद्वारा सर्वव्यापी परमेश्वरकी पूजा करके सिद्धि प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार भक्तिके लिये भगवान्ने स्त्री, शूद्र तथा पापयोनितकको अधिकारी बतलाया है (९। ३२)। और भी जहाँ-जहाँ भगवान्ने किसी भी साधनका उपदेश दिया है, वहाँ ऐसा नहीं कहा है कि इस साधनको करनेका किसी खास वर्ण, आश्रम या जातिको ही अधिकार है, दूसरोंको नहीं।

ऐसा होनेपर भी यह स्मरण रखना चाहिये कि सभी कर्म सभी मनुष्योंके लिये उपयोगी नहीं होते। इसीलिये भगवान्ने वर्ण-धर्मपर बहुत जोर दिया है। जिस वर्णके लिये जो कर्म विहित हैं, उसके लिये वे ही कर्म कर्तव्य हैं दूसरे वर्णके नहीं। इस बातको ध्यानमें रखकर ही कर्म करने चाहिये। ऐसे वर्णधर्मके द्वारा नियत कर्तव्य-कर्मोंको अपने-अपने अधिकार और रुचिके अनुकूल योगनिष्ठाके अनुसार मनुष्यमात्र ही कर सकते हैं। वर्णधर्मके अतिरिक्त मानवमात्रके लिये पालनीय सदाचार, भक्ति आदिका साधन तो सभी कर सकते हैं।

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि सांख्ययोगके साधनका अधिकार संन्यासियोंको ही है, दूसरे आश्रमवालोंको नहीं। यह बात भी युक्तिसङ्गत नहीं मालूम होती। अध्याय २। १८ में भगवान्ने सांख्यकी दृष्टिसे भी युद्ध ही करनेकी आज्ञा दी है। भगवान् यदि केवल संन्यासियोंको ही सांख्ययोगका अधिकारी मानते तो वे अर्जुनको उस दृष्टिसे युद्ध करनेकी आज्ञा कभी न देते। क्योंकि संन्यास-आश्रममें स्वरूपसे ही कर्ममात्रका त्याग कहा गया है, युद्धरूपी घोर कर्मकी

तो बात ही क्या है। फिर अर्जुन तो संन्यासी थे भी नहीं। उन्हें भगवान्ने ज्ञानियोंके पास जाकर ज्ञान सीखनेतककी बात कही है (४। ३४)।

इसके अतिरिक्त तीसरे अध्यायके चौथे श्लोकमें भगवान्ने सांख्ययोगकी सिद्धि केवल कर्मोंके स्वरूपतः त्यागसे नहीं बतलायी। यदि भगवान् सांख्ययोगका अधिकारी केवल संन्यासियोंको ही मानते तो सांख्ययोगके लिये कर्मोंका स्वरूपसे त्याग आवश्यक बतलाते और यह नहीं कहते कि कर्मोंको स्वरूपतः त्याग देनेमात्रसे ही सांख्ययोगकी सिद्धि नहीं होती। यही नहीं; अध्याय १३। ७ से ११ में जहाँ ज्ञानके साधन बतलाये गये हैं, वहाँ एक साधन स्त्री, पुत्र, धन, मकान आदिमें आसक्ति एवं ममताका त्याग भी बतलाया है—

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।

स्त्री, पुत्र, मकान आदिके साथ स्वरूपतः सम्बन्ध होनेपर ही उनके प्रति आसक्ति एवं ममताके त्यागकी बात कही जा सकती है। संन्यास-आश्रममें इनका स्वरूपसे ही त्याग है; ऐसी दशामें यदि संन्यासियोंको ही ज्ञानयोगके साधनका अधिकार होता तो उनके लिये इन सबके प्रति आसक्ति और ममताके त्यागका कथन अनावश्यक था।

तीसरी बात यह है कि अठारहवें अध्यायमें जहाँ अर्जुनने खास संन्यास और त्यागके सम्बन्धमें प्रश्न किया है, वहाँ भगवान्ने १३ वें-से लेकर ४०वें श्लोकतक संन्यासके स्थानपर सांख्ययोगका ही वर्णन किया है, संन्यास-आश्रमका कहीं भी उल्लेख नहीं किया। यदि भगवान्को 'संन्यास' शब्दसे संन्यास-आश्रम अभिप्रेत होता अथवा

सांख्ययोगका अधिकारी वे केवल संन्यासियोंको ही मानते तो इस प्रसङ्गपर अवश्य उसका स्पष्ट शब्दोंमें उल्लेख करते। इन सब बातों-से यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि सांख्ययोगके साधनका अधिकार संन्यासी, गृहस्थ सभीको समान रूपसे है। हाँ, इतनी बात अवश्य है कि सांख्ययोगका साधन करनेके लिये संन्यास-आश्रममें सुविधाएँ अधिक हैं। इस दृष्टिसे उस आश्रमको गृहस्थाश्रमकी अपेक्षा सांख्ययोग-के साधनके लिये अवश्य ही अधिक उपयुक्त कह सकते हैं।

कर्मयोगके साधनमें कर्मकी प्रधानता है और स्ववर्णोचित विहित कर्म करनेकी विशेष रूपसे आज्ञा है (३ । ८); बल्कि कर्मोंका स्वरूपसे त्याग इसमें बाधक बतलाया गया है (३ । ४)। इसलिये संन्यास-आश्रममें द्रव्यसाध्य कर्मयोगका आचरण नहीं बन सकता, क्योंकि वहाँ द्रव्य और कर्मोंका स्वरूपसे त्याग है; किन्तु भगवान्‌की भक्ति सभी आश्रमोंमें की जा सकती है। कुछ लोगोंमें यह भ्रम फैला हुआ है कि गीता तो साधु-संन्यासियोंके कामकी चीज है, गृहस्थीके कामकी नहीं; इसीलिये वे प्रायः बालकोंको इस भयसे गीता नहीं पढ़ाते कि इसे पढ़कर ये लोग गृहस्थका त्याग कर देंगे। परन्तु उनका ऐसा समझना सर्वथा भूल है, यह बात ऊपरकी बातोंसे स्पष्ट हो जाती है। वे लोग यह नहीं सोचते कि मोहके कारण अपने क्षात्रधर्मसे विमुख होकर भिक्षाके अन्नसे निर्वाह करनेके लिये उद्यत अर्जुनने जिस परम रहस्यमय गीताके उपदेशसे आजीवन गृहस्थमें रह-कर अपने कर्तव्यका पालन किया, उस गीता-शास्त्रका यह उल्टा परिणाम किस प्रकार हो सकता है। यही नहीं, गीताके उपदेष्टा स्वयं भगवान् जबतक इस धराधामपर अवताररूपमें रहे, तबतक

बराबर कर्म ही करते रहे—साधुओंकी रक्षा की, दुष्टोंका संहार करके उद्धार किया और धर्मकी स्थापना की। यही नहीं, उन्होंने तो यहाँतक कहा है कि यदि मैं सावधान होकर कर्म न करूं तो लोग मेरी देखा-देखी कर्मोंका परित्याग कर आलसी बन जायं और इस प्रकार लोककी मर्यादा छिन्न-भिन्न करनेका दायित्व मुझीपर रहे (३ । २३-२४)। इसका यह अर्थ भी नहीं कि गीता संन्यासियोंके लिये नहीं है। गीता सभी वर्णाश्रमवालोंके लिये है। सभी अपने-अपने वर्णाश्रमके कर्मोंको करते हुए सांख्य या योग—दोनोंमेंसे किसी एक निष्ठाके द्वारा अधिकारानुसार साधन कर सकते हैं।

गीतामें भक्ति

गीतामें कर्म, भक्ति, ज्ञान—सभी विषयोंका विशदरूपसे विवेचन किया गया है; सभी मार्गोंसे चलनेवालोंको इसमें यथेष्ट सामग्री मिल सकती है किन्तु अर्जुन भगवान्‌के भक्त थे; अतः सभी विषयोंका प्रतिपादन करते हुए जहाँ अर्जुनको स्वयं आचरण करनेके लिये आज्ञा दी है, वहाँ भगवान्‌ने उसे भक्तिप्रधान कर्मयोगका ही उपदेश दिया है (३ । ३०; ८ । ७; १२ । ८; १८ । ५७, ६२, ६५, ६६)। कहीं-कहीं केवल कर्म करनेकी भी आज्ञा दी है (देखिये २ । ४८, ५०; ३ । ८, ९, १९; ४ । ४२; ६ । ४६; ११ । ३३-३४) परन्तु उसके साथ भी भक्तिका अन्य स्थलोंसे अध्याहार कर लेना चाहिये। केवल ४ । ३४ में भगवान्‌ने अर्जुनको ज्ञानियोंके पास जाकर ज्ञान सीखनेकी आज्ञा दी है, वह भी ज्ञान प्राप्त करनेकी प्रणाली बतलाने तथा अर्जुनको चेतावनी देनेके लिये।

वास्तवमें भगवान्का आशय अर्जुनको ज्ञान सीखनेके लिये किसी ज्ञानीके पास भेजनेका नहीं था और न अर्जुनने जाकर उस प्रक्रिया-से कहीं ज्ञान सीखा ही। उपक्रम-उपसंहारको देखते हुए भी गीताका पर्यवसान शरणागतिमें ही प्रतीत होता है। वैसे तो गीताका उपदेश 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्' (२। ११) इस श्लोकसे प्रारम्भ हुआ है, किन्तु इस उपक्रमका बीज 'कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः' (२। ७) अर्जुनकी इस उक्तिमें है, जिसमें 'प्रपन्नम्' पदसे शरणागतिका भाव व्यञ्जित होता है। इसीलिये 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' (१८। ६६) इस श्लोकसे भगवान्ने शरणागतिमें ही अपने उपदेशका उपसंहार भी किया है।

गीताका ऐसा कोई भी अध्याय नहीं है, जिसमें कहीं-न-कहीं भक्तिका प्रसङ्ग न आया हो। उदाहरणके लिये दूसरे अध्यायका ६१ वाँ, तीसरेका ३० वाँ, चौथेका ११ वाँ, पाँचवेंका २९ वाँ, छठेका ४७ वाँ, सातवेंका १४ वाँ, आठवेंका १४ वाँ, नवेंका ३४ वाँ, दसवेंका ९ वाँ, ग्यारहवेंका ५४ वाँ, बारहवेंका २ रा, तेरहवेंका १० वाँ, चौदहवेंका २६ वाँ, पंद्रहवेंका १९ वाँ, सोलहवेंका १ ला (जिसमें 'ज्ञानयोगव्यवस्थितिः' पदके द्वारा भगवान्के ध्यानकी बात कही गयी है), सतरहवेंका २७ वाँ, अठारहवेंका ६६ वाँ श्लोक देखना चाहिये। इस प्रकार प्रत्येक अध्यायमें भक्तिका प्रसङ्ग आया है। सातवेंसे लेकर बारहवें अध्यायतकमें तो भक्तियोगका प्रकरण भरा पड़ा है; इसीलिये इन छहों अध्यायोंको भक्तिप्रधान

माना गया है। यहाँ उदाहरणके लिये प्रत्येक अध्यायके एक-एक श्लोककी ही संख्या दी गयी है। इसी प्रकार ज्ञानपरक श्लोक भी प्रायः सभी अध्यायोंमें मिलते हैं। उदाहरणके लिये—दूसरे अध्यायका २९ वाँ, तीसरेका २८ वाँ, चौथेके २५ वेंका उत्तरार्द्ध, पाँचवेंका १३ वाँ, छठेका २९ वाँ, आठवेंका १३ वाँ, नवेंका १५ वाँ, बारहवेंका ३ रा, तेरहवेंका ३४ वाँ, चौदहवेंका १९ वाँ और अठारहवेंका ४९ वाँ श्लोक देखना चाहिये। इनमें भी दूसरे, पांचवें, तेरहवें, चौदहवें तथा अठारहवें अध्यायोंमें ज्ञानपरक श्लोक बहुत अधिक मिलते हैं।

गीतामें जिस प्रकार भक्ति और ज्ञानका रहस्य अच्छी तरहसे खोला गया है, उसी प्रकार कर्मोंका रहस्य भी भलीभाँति खोला गया है। दूसरे अध्यायके ३९ वेंसे ५३ वें श्लोकतक, तीसरे अध्यायके ४ थे श्लोकसे ३५ वें श्लोकतक, चौथे अध्यायके तेरहवेंसे ३२ वें श्लोकतक, पाँचवें अध्यायके २ रे श्लोकसे ७ वें श्लोकतक तथा छठे अध्यायके १ले श्लोकसे ४थे श्लोकतक तो कर्मोंका रहस्य पूर्णरूपसे भरा हुआ है। इनमें भी अध्याय २। ४७में कर्मका तथा ४।१६ से १८में कर्म, अकर्म एवं विकर्मके नामसे कर्मोंके रहस्यका विशेषरूपसे विवेचन हुआ है। गीतातत्त्वाङ्कमें उपर्युक्त श्लोकोंकी व्याख्यामें इस विषयका विस्तारसे विवरण किया गया है। इसी प्रकार अन्यान्य अध्यायोंमें भी कर्मोंका वर्णन है। इससे यह विदित होता है कि गीतामें केवल भक्तिका ही वर्णन नहीं है, ज्ञान, कर्म और भक्ति—तीनोंका ही सम्यक्तया प्रतिपादन हुआ है।

सगुण-निर्गुण-तत्त्व

ऊपर यह बात कही गयी कि परमात्माकी उपासना भेद-दृष्टिसे की जाय अथवा अभेद-दृष्टिसे, दोनोंका फल एक ही है—'यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।' (५।५) यह बात कैसे कही गयी ? भेदोपासकको भगवान् साकाररूपमें दर्शन देते हैं; और अभेदोपासक स्वयं ब्रह्मरूप हो जाता है, वह कहीं जाता-आता नहीं। फिर यह कैसे कहा जाता है कि दोनों प्रकारकी उपासनाका—सांख्यनिष्ठाका और योगनिष्ठाका फल एक ही है। इसका उत्तर यह है कि ऊपर जो बात कही गयी वह ठीक है और प्रश्नकर्ताने जो बात कही वह भी ठीक है। दोनोंका समन्वय कैसे है, अब इसीपर विचार किया जाता है।

साधनकालमें साधक जिस प्रकारके भाव और श्रद्धासे भावित होकर परमात्माकी उपासना करता है, उसको उसी भावके अनुसार परमात्माकी प्राप्ति होती है। भगवान् स्वयं भी कहते हैं कि 'जो मुझे जिस भावसे भजते हैं, मैं उन्हें उसी भावसे भजता हूँ (४।११)। जो अभेदरूपसे अर्थात् अपनेको परमात्मासे अभिन्न मानकर परमात्माकी उपासना करते हैं, उन्हें अभेदरूपसे परमात्माकी प्राप्ति होती है; और जो भेदरूपसे उन्हें भजते हैं, उन्हें भेदरूपसे ही वे दर्शन देते हैं। साधकके निश्चयानुसार भगवान् भिन्न-भिन्न रूपसे सब लोगोंको मिलते हैं।

भेदोपासना तथा अभेदोपासना—दोनों ही उपासनाएँ

भगवान्‌की उपासना हैं। क्योंकि भगवान् सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, व्यक्त-अव्यक्त सभी कुछ हैं। जो पुरुष भगवान्‌को निर्गुण-निराकार समझते हैं, उनके लिये वे निर्गुण-निराकार हैं (१२।३; १३।१२)। जो उन्हें सगुण-निराकार मानते हैं, उनके लिये वे सगुण-निराकार हैं (८।९)। जो उन्हें सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वव्यापी, सर्वोत्तम आदि उत्तम गुणोंसे युक्त मानते हैं, उनके लिये वे सर्वसद्गुणसम्पन्न हैं (१५।१५, १७, १९ *)। जो पुरुष उन्हें सर्वरूप मानते हैं, उनके लिये वे सर्वरूप हैं (७।७ से १२; ९।१६ से १९)। जो उन्हें सगुण-साकार मानते हैं, उन्हें वे सगुण-साकार रूपमें दर्शन देते हैं (४।८; ९।२६)।

ऊपर जो बात कही गयी, वह तो ठीक है; परन्तु इससे प्रश्नकर्ताकी मूल शङ्काका समाधान नहीं हुआ, वह ज्यों-की-त्यों बनी है। शङ्का तो यही थी कि जब भगवान् सबको अलग-अलग रूपमें मिलते हैं तब फलमें एकता कहाँ हुई? इसका उत्तर यह है कि प्रथम भगवान् साधकको उसके भावके अनुसार ही मिलते हैं। उसके बाद जो भगवान्‌के यथार्थ तत्त्वकी उपलब्धि होती है, वह वाणीके द्वारा अकथनीय है, वह शब्दोंद्वारा बतलायी नहीं जा सकती। भेद अथवा अभेदरूपसे जितने प्रकारसे भी भगवान्‌की उपासना होती है, उन सबका अन्तिम फल एक ही होता है। इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये भगवान्‌ने कहीं-कहीं अभेदोपासकोंको अपनी प्राप्ति बतलायी है

* उक्त श्लोकोंमें भगवान्‌के श्रेष्ठ गुणोंका ही वर्णन है, अतएव १५।१५ में हमने 'अपोहन' शब्दका अर्थ ज्ञान और स्मृतिका नाश न लेकर संशय-विपर्ययका नाश हो लिया है।

(१२ । ४; १४ । १९; १८ । ५५) और भेदोपासकके लिये यह कहा है कि वह ब्रह्मको प्राप्त होता है (१४ । २६), अनामय पदको प्राप्त होता है (२ । ५१), शश्वत् शान्तिको प्राप्त होता है (९ । ३१), ब्रह्मको जान जाता है (७ । २९), अविनाशी शाश्वत पदको प्राप्त होता है (१८ । ५६) इत्यादि-इत्यादि। भेदोपासना तथा अभेदोपासना—दोनों प्रकारकी उपासनाका फल एक ही होता है, इसी बातको लक्ष्य करानेके लिये भगवान्‌ने एक ही बातको उलट-फेरकर कई प्रकारसे कहा है। भेदोपासक तथा अभेदोपासक दोनोंके द्वारा प्रापणीय वस्तु, यथार्थ तत्त्व अथवा 'स्थान' एक ही है (५ । ५); उसीको कहीं परम शान्ति और शाश्वत स्थानके नामसे कहा है (१८ । ६२), कहीं परमधामके नामसे (१५ । ६), कहीं अमृतके नामसे (१३ । १२), कहीं 'माम्' पदसे (९ । ३४), कहीं परम गतिके नामसे (८ । १३), कहीं परम संसिद्धिके नामसे (८ । १५), कहीं अव्यय पदके नामसे (१५ । ५), कहीं ब्रह्मनिर्वाणके नामसे (५ । २४), कहीं निर्वाणपरमा शान्तिके नामसे (६ । १५) और कहीं नैष्ठिक शान्तिके नामसे (५ । १२) व्यक्त किया है। इनके अतिरिक्त और भी कई शब्द गीतामें उस अन्तिम फलको व्यक्त करनेके लिये प्रयुक्त हुए हैं। परन्तु वह वस्तु सभी साधनोंका फल है—इसके अतिरिक्त उसके विषयमें कुछ भी कहा नहीं जा सकता। वह वाणीका अविषय है। जिसे वह वस्तु प्राप्त हो गयी है, वही उसे जानता है; परन्तु वह भी उसका वर्णन नहीं कर सकता, उपर्युक्त शब्दों तथा इसी प्रकारके अन्य शब्दोंद्वारा वह शाखाचन्द्रन्यायसे उसका लक्ष्यमात्र करा सकता है। अतः सब

साधनोंका फलरूप जो परम वस्तु-तत्त्व है वह एक है, यही बात युक्तिसङ्गत है।

ईश्वरका यह तात्त्विक स्वरूप अलौकिक है, परम रहस्यमय है, गुह्यतम है। जिन्हें वह प्राप्त है, वे ही उसे जानते हैं। परन्तु यह बात भी उसका लक्ष्य करानेके उद्देश्यसे ही कही जाती है। युक्तिसे विचारकर देखा जाय तो यह कहना भी नहीं बनता।

गीतामें समता

गीतामें समताकी बात प्रधानरूपसे आयी है। भगवत्प्राप्तिकी तो समता ही कसौटी है। ज्ञान, कर्म एवं भक्ति—तीनों ही मार्गोंमें साधनरूपमें भी समताकी आवश्यकता बतलायी गयी है और तीनों ही मार्गोंसे परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषोंका भी समता एक असाधारण लक्षण बतलाया गया है। साधन भी उसके विना अधूरा है, सिद्धि तो अधूरी है ही। जिसमें समता नहीं, वह सिद्ध ही कैसा? अध्याय २। १५ में 'समदुःखसुखम्' पदसे ज्ञानमार्गके साधकोंमें समतावालेको ही अमृतत्व अर्थात् मुक्तिका अधिकारी बतलाया गया है। अध्याय २। ४८ में 'सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते' इस श्लोकार्धके द्वारा कर्मयोगके साधकको समतायुक्त होकर कर्म करनेकी आज्ञा दी गयी है। अध्याय १२। १८, १९ इन दो श्लोकोंमें सिद्ध भक्तके लक्षणोंमें समताका उल्लेख किया गया है और उसी अध्यायके २० वें श्लोकमें भक्तिमार्गके साधकके लिये भी इन्हीं गुणोंके सेवनकी बात कही गयी है। इसी प्रकार ६। ७ से ९ में सिद्ध कर्मयोगीको सम बतलाया गया है और अध्याय १४। २४-२५ में

गुणातीत (सिद्ध ज्ञानयोगी) के लक्षणोंमें भी समताका प्रधानरूपसे समावेश पाया जाता है।

इस समताका तत्त्व सुगमताके साथ भलीभाँति समझानेके लिये श्रीभगवान्‌ने गीतामें अनेकों प्रकारसे सम्पूर्ण क्रिया, भाव, पदार्थ और भूतप्राणियोंमें समताकी व्याख्या की है। जैसे—

मनुष्योंमें समता

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥
(६।९)

'सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और बन्धुगणोंमें, धर्मात्माओं और पापियोंमें भी समान भाव रखनेवाला श्रेष्ठ है।'

मनुष्यों और पशुओंमें समता

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥
(५।१८)

'ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मणमें तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी समदर्शी ही होते हैं।'

सम्पूर्ण जीवोंमें समता

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥
(६।३२)

'हे अर्जुन ! जो योगी अपनी भाँति सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।'

कहीं-कहींपर भगवान्‌ने व्यक्ति, क्रिया, पदार्थ और भावकी समताको एक ही साथ वर्णन किया है। जैसे—

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ॥
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥
(१२।१८)

'जो शत्रु-मित्रमें और मान-अपमानमें सम है तथा सरदी-गरमी और सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें सम है और आसक्तिसे रहित है (वह भक्त है)।'

यहाँ शत्रु-मित्र 'व्यक्ति' के वाचक हैं, मान-अपमान 'परकृत क्रिया' हैं, शीत-उष्ण 'पदार्थ' हैं और सुख-दुःख 'भाव' हैं।

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥
(१४।२४)

'जो निरन्तर आत्मभावमें स्थित, दुःख-सुखको समान समझनेवाला, मिट्टी, पत्थर और स्वर्णमें समान भाववाला, ज्ञानी, प्रिय तथा अप्रियको एक-सा माननेवाला और अपनी निन्दा-स्तुतिमें भी समान भाववाला है (वही गुणातीत है)।'

इसमें भी दुःख-सुख 'भाव' हैं, लोष्ट, अश्म और काञ्चन

'पदार्थ' हैं, निन्दा-स्तुति 'परकृत क्रिया' हैं और प्रिय-अप्रिय 'प्राणी', 'भाव', 'पदार्थ' तथा 'क्रिया' सभीके वाचक हैं।

इस प्रकार जो सर्वत्र समदृष्टि है, व्यवहारमें कथनमात्रकी अहंता-ममता रहते हुए भी जो सबमें समबुद्धि रखता है जिसका समष्टिरूप समस्त संसारमें आत्मभाव है, वह समतायुक्त पुरुष है और वही सच्चा साम्यवादी है।

गीताके साम्यवाद और आजकलके कहे जानेवाले साम्यवादमें बड़ा अन्तर है। आजकलका साम्यवाद ईश्वरविरोधी है और यह गीतोक्त साम्यवाद सर्वत्र ईश्वरको देखता है; वह धर्मका नाशक है, यह पद-पदपर धर्मकी पुष्टि करता है; वह हिंसामय है, यह अहिंसाका प्रतिपादक है; वह स्वार्थमूलक है, यह स्वार्थको समीप भी नहीं आने देता; वह खान-पान-स्पर्शादिमें एकता रखकर आन्तरिक भेद-भाव रखता है, यह खान-पान-स्पर्शादिमें शास्त्रमर्यादानुसार यथायोग्य भेद रखकर भी आन्तरिक भेद नहीं रखता और सबमें आत्माको अभिन्न देखनेकी शिक्षा देता है; उसका लक्ष्य केवल धनोपासना है, इसका लक्ष्य ईश्वरप्राप्ति है; उसमें अपने दलका अभिमान है और दूसरोंका अनादर है, इसमें सर्वथा अभिमानशून्यता है और सारे जगत्‌में परमात्माको देखकर सबका सम्मान करना है; उसमें बाहरी व्यवहारकी प्रधानता है; इसमें अन्तःकरणके भावकी प्रधानता है; उसमें भौतिक सुख मुख्य है, इसमें आध्यात्मिक सुख मुख्य है; उसमें परधन और परमतसे असहिष्णुता है, इसमें सबका समान आदर है; उसमें राग-द्वेष है, इसमें रागद्वेषरहित व्यवहार है।

जीवोंकी गति

गीतामें जीवोंके गुण एवं कर्मानुसार उनकी उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ—तीन गतियाँ बतलायी गयी हैं।

योग तथा सांख्यकी दृष्टिसे शास्त्रोक्त कर्म एवं उपासना करनेवाले साधकोंकी गति अध्याय ८। २४ में बतलायी गयी है। उनमें जो योगभ्रष्ट हो जाते हैं अर्थात् साधन करते-करते उसके सिद्ध होनेके पूर्व ही जिनका देहान्त हो जाता है, उनकी गतिका अध्याय ६। ४० से ४५ में वर्णन किया गया है। वहाँ यह बतलाया गया है कि मरनेके बाद वे स्वर्गादि लोकोंको प्राप्त होते हैं और सुदीर्घकालतक उन दिव्यलोकोंके सुख भोगकर पवित्र आचरणवाले श्रीमान् लोगोंके घरोंमें जन्म लेते हैं अथवा योगियोंके ही कुलमें जन्मते हैं और वहाँ पूर्व अभ्यासके कारण पुनः योगके साधनमें प्रवृत्त होकर परम गतिको प्राप्त हो जाते हैं।

सकामभावसे विहित कर्म एवं उपासना करनेवालोंकी गतिका अध्याय ९। २०-२१ में वर्णन किया गया है—जहाँ स्वर्गकी कामनासे यज्ञ-यागादि वेदविहित कर्म करनेवालोंको स्वर्गके भोगोंकी प्राप्ति तथा पुण्योंके क्षय हो जानेपर उनके पुनः मर्त्यलोकमें ढकेले जानेकी बात कही गयी है। वे लोग किस मार्गसे तथा किस तरह स्वर्गको जाते हैं, इसकी प्रक्रिया अध्याय ८। २५में बतलायी गयी है। गीतातत्त्वाङ्कमें उक्त श्लोककी व्याख्यामें उसका विस्तारसे वर्णन किया गया है।

चौदहवें अध्यायके १४ वें, १५ वें और १८ वें श्लोकोंमें सामान्य भावसे सभी पुरुषोंकी गति संक्षेपमें बतलायी गयी है।

सत्त्वगुणकी वृद्धिमें मरनेवाले उत्तम लोकोंमें जाते हैं, रजोगुणकी वृद्धिमें मरनेवाले मनुष्योंमें उत्पन्न होते हैं तथा तमोगुणकी वृद्धिमें मरनेवाले पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग तथा वृक्षादि योनियोंमें जन्मते हैं। इस प्रकार सत्त्वगुणमें स्थित पुरुष मरकर ऊपरके लोकोंमें जाते हैं, रजोगुणमें स्थित राजस पुरुष मनुष्यलोकमें ही रहते हैं और तमोगुणमें स्थित तामस पुरुष अधोगतिको अर्थात् नरकोंको और तिर्यक् योनियोंको प्राप्त होते हैं। सोलहवें अध्यायके १९ वेंसे २१ वें श्लोकतक आसुरी प्रकृतिके तामसी मनुष्योंके सम्बन्धमें भगवान्‌ने कहा है कि उन्हें मैं बार-बार आसुरी योनियोंमें अर्थात् कूकर-शूकर आदि योनियोंमें डालता हूँ और इसके बाद वे घोर नरकोंमें गिरते हैं। इसी प्रकार और-और स्थलोंमें भी गुणकर्मके अनुसार गीतामें जीवोंकी गति बतलायी गयी है। मुक्त पुरुषोंकी गतिका वर्णन विस्तारसे सांख्य और योगके फलरूपमें कहा गया है।

गीताकी कुछ खास बातें

(१) गुणोंकी पहिचान

गीतामें सात्त्विक-राजस-तामस पदार्थों, भावों एवं क्रियाओंकी कुछ खास पहिचान बतलायी गयी है। वह इस प्रकार है—

(१) जिस पदार्थ, भाव या क्रियाका स्वार्थसे सम्बन्ध न हो और जिसमें आसक्ति एवं ममता न हो तथा जिसका फल भगवत्प्राप्ति हो, उसे सात्त्विक जानना चाहिये।

(२) जिस पदार्थ, भाव या क्रियामें लोभ, स्वार्थ एवं आसक्ति-

का सम्बन्ध हो तथा जिसका फल क्षणिक सुखकी प्राप्ति एवं अन्तिम परिणाम दुःख हो, उसे राजस समझना चाहिये ।

(३) जिस पदार्थ, भाव या क्रियामें हिंसा, मोह एवं प्रमाद हो तथा जिसका फल दुःख एवं अज्ञान हो, उसे तामस समझना चाहिये ।

इस प्रकार तीनों तरहके पदार्थों, भावों एवं क्रियाओंका भेद बतलाकर भगवान्‌ने सात्त्विक पदार्थों, भावों एवं क्रियाओंको ग्रहण करने तथा राजस और तामस पदार्थों, भावों एवं क्रियाओंका त्याग करनेका उपदेश दिया है ।

(२) गीतामें आचरणकी अपेक्षा भावकी प्रधानता

यद्यपि उत्तम आचरण एवं अन्तःकरणका उत्तम भाव दोनों-हीको गीताने कल्याणका साधन माना है, किन्तु प्रधानता भावको ही दी है । दूसरे, बारहवें तथा चौदहवें अध्यायोंके अन्तमें क्रमशः स्थितप्रज्ञ, भक्त एवं गुणातीत पुरुषोंके लक्षणोंमें भावकी ही प्रधानता बतलायी गयी है (देखिये २ । ५५ से ७१; १२ । १३ से १९; १४ । २२ से २५) । दूसरे तथा चौदहवें अध्यायोंमें तो अर्जुनने प्रश्न किया है आचरणको लक्ष्य करके, परन्तु भगवान्‌ने उत्तर दिया है भावको ही दृष्टिमें रखकर । गीताके अनुसार सकामभावसे की हुई यज्ञ, दान, तप आदि ऊँची-से-ऊँची क्रिया एवं उपासनासे भी निष्कामभावसे की हुई शिल्प, व्यापार एवं सेवा आदि छोटी-से-छोटी क्रिया भी मुक्तिदायक होनेके कारण श्रेष्ठ है (अ० २ । ४०, ४९; १२ । १२; १८ । ४६) । चौथे अध्यायमें जहाँ कई प्रकारके

यज्ञरूप साधन बतलाये गये हैं, उनमें भी भावकी प्रधानतासे ही मुक्ति बतलायी है।

गीता और वेद

गीता वेदोंको बहुत आदर देती है। अध्याय १५। १५ में भगवान् अपनेको समस्त वेदोंके द्वारा जानने योग्य, वेदान्तका रचनेवाला और वेदोंका जाननेवाला कहकर उनका महत्त्व बहुत बढ़ा देते हैं। अध्याय १५। १ में संसाररूपी अश्वत्थवृक्षका वर्णन करते हुए भगवान् कहते हैं कि 'मूलसहित उस वृक्षको तत्त्वसे जाननेवाला ही वास्तवमें वेदके तत्त्वको जाननेवाला है।' इससे भगवान्ने यह बतलाया कि जगत्के कारणरूप परमात्माके तत्त्वसहित जगत्के वास्तविक स्वरूपको जनाना ही वेदोंका तात्पर्य है। अध्याय १३। ४ में भगवान्ने कहा है कि 'जो बात वेदोंके द्वारा विभागपूर्वक कही गयी है, उसीको मैं कहता हूँ।' इस प्रकार अपनी उक्तियोंके समर्थनमें वेदोंको प्रमाण बतलाकर भगवान्ने वेदोंकी महिमाको बहुत अधिक बढ़ा दिया है। अध्याय ९। १७ में तो भगवान्ने ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद—वेदत्रयीको अपना ही स्वरूप बतलाकर उसको और भी अधिक आदर दिया है। अध्याय ३। १५ और १७। २३ में भगवान् वेदोंको अपनेसे ही उत्पन्न हुए बतलाते हैं और अध्याय ४। ३२ में भगवान्ने यह कहा है कि परमात्माको प्राप्त करनेके अनेकों साधन वेदोंमें बतलाये हैं। इससे मानो भगवान् स्पष्टरूपसे यह कहते हैं कि वेदोंमें केवल भोगप्राप्तिके साधन ही नहीं हैं—जैसा कि कुछ अविवेकीजन समझते हैं—किन्तु भगवत्प्राप्तिके भी एक-दो नहीं,

अनेकों साधन भरे पड़े हैं। अध्याय ८। ११ में भगवान् परमपदके नामसे अपने स्वरूपका वर्णन करते हुए कहते हैं कि वेदवेत्तालोग उसे अक्षर (ओंकार) के नामसे निर्देश करते हैं। इससे भी भगवान् यही सूचित करते हैं कि वेदोंमें सकाम पुरुषोंद्वारा प्रापणीय इस लोकके एवं स्वर्गके अनित्य भोगोंका ही वर्णन नहीं है, उनमें परमात्माके अविनाशी स्वरूपका भी विशद वर्णन है।

उपर्युक्त वर्णनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वेदोंको भगवान्ने बहुत अधिक आदर दिया है। इसपर यह शङ्का होती है कि 'फिर भगवान्ने कई स्थलोंपर वेदोंकी निन्दा क्यों की है। उदाहरणतः अध्याय २।४२में उन्होंने सकाम पुरुषोंको वेदवादमें रत एवं अविवेकी बतलाया है। अध्याय २।४५में उन्होंने वेदोंको तीनों गुणोंके कार्य-रूप सांसारिक भोगों एवं उनके साधनोंका प्रतिपादन करनेवाले कहकर अर्जुनको उन भोगोंमें आसक्तिरहित होनेके लिये कहा है और अध्याय ९। २१ में वेदत्रयीधर्मका आश्रय लेनेवाले सकाम पुरुषोंके सम्बन्धमें भगवान्ने यह कहा है कि वे बारम्बार जन्मते-मरते रहते हैं, आवागमनके चक्करसे छूटते नहीं। ऐसी स्थितिमें क्या माना जाय ?'

इस शङ्काका उत्तर यह है कि उपर्युक्त वचनोंमें यद्यपि वेदोंकी निन्दा प्रतीत होती है, परन्तु वास्तवमें उनमें वेदोंकी निन्दा नहीं है। गीतामें सकामभावकी अपेक्षा निष्कामभावको बहुत अधिक महत्व दिया गया है और भगवान्की प्राप्तिके लिये उसे आवश्यक बतलाया है। इसीसे उसकी अपेक्षा सकामभावको नीचा और नाशवान्

विषय-सुखके देनेवाला बतलानेके लिये ही उसको जगह-जगह तुच्छ सिद्ध किया है, निषिद्ध कर्मोंकी भाँति उनकी निन्दा नहीं की है। अध्याय ८। २८ में जहाँ वेदोंके फलको लाँघ जानेकी बात कही गयी है, वहाँ भी सकाम कर्मको लक्ष्य करके ही वैसा कहा गया है। उपर्युक्त विवेचनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भगवान्ने गीतामें वेदोंकी निन्दा कहीं भी नहीं की है; बल्कि जगह-जगह वेदोंकी प्रशंसा ही की है।

गीता और सांख्यदर्शन तथा योगदर्शन

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि गीतामें जहाँ-जहाँ 'सांख्य' शब्दका प्रयोग हुआ है, वहाँ वह महर्षि कपिलके द्वारा प्रवर्तित सांख्यदर्शनका वाचक है, परन्तु यह बात युक्तिसङ्गत नहीं मालूम होती। गीताके तेरहवें अध्यायमें लगातार तीन श्लोकों (१९, २० और २१) में तथा अन्यत्र भी 'प्रकृति' और 'पुरुष' दोनों शब्दोंका साथ-साथ प्रयोग हुआ है और प्रकृति-पुरुष सांख्यदर्शनके खास शब्द हैं, इससे लोगोंने अनुमान कर लिया कि गीताको कापिल सांख्यका सिद्धान्त मान्य है। इसी प्रकार 'योग' शब्दको भी कुछ लोग पातञ्जल योगका वाचक मानते हैं। पाँचवें अध्यायके प्रारम्भमें तथा अन्यत्र भी कई जगह 'सांख्य' और 'योग' शब्दोंका एक ही जगह प्रयोग हुआ है; इससे भी लोगोंने यह मान लिया कि 'सांख्य' और 'योग' शब्द क्रमशः कापिल सांख्य तथा पातञ्जलयोगके वाचक हैं; परन्तु यह बात युक्तिसङ्गत नहीं मालूम होती। न तो गीताका 'सांख्य' कापिल सांख्य ही है और न गीताका 'योग' पातञ्जल योग ही। नीचे लिखी बातोंसे यह स्पष्ट हो जाता है।

(१) गीतामें ईश्वरको जिस रूपमें माना है, उस रूपमें सांख्यदर्शन नहीं मानता ।

(२) यद्यपि 'प्रकृति' शब्दका गीतामें कई जगह प्रयोग आया है, परन्तु गीताकी 'प्रकृति' और सांख्यकी 'प्रकृति' में महान् अन्तर है। सांख्यने प्रकृतिको अनादि एवं नित्य माना है; गीताने भी प्रकृतिको अनादि तो माना है (१३ । १९), परन्तु गीताके अनुसार ज्ञानीकी दृष्टिमें ब्रह्मके सिवा प्रकृतिकी अलग सत्ता नहीं रहती।

(३) गीताके 'पुरुष' और सांख्यके 'पुरुष' में भी महान् अन्तर है । सांख्यके मतमें पुरुष नाना हैं; किन्तु गीता एक ही पुरुषको मानती है (१३ । ३०; १८ । २०) ।

(४) गीताकी 'मुक्ति' और सांख्यकी 'मुक्ति' में भी महान् अन्तर है। सांख्यके मतमें दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति ही मुक्तिका स्वरूप है; गीताकी 'मुक्ति' में दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति तो है ही, किन्तु साथ-ही-साथ परमानन्दस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति भी है।

(५) पातञ्जलयोगमें योगका अर्थ है—'चित्तवृत्तिका निरोध।' परन्तु गीतामें प्रकरणानुसार 'योग' शब्दका विभिन्न अर्थोंमें प्रयोग हुआ है (देखिये गीतातत्त्वाङ्क अध्याय २ । ५३ की टीका)।

इस प्रकार गीता और सांख्यदर्शन तथा योगदर्शनके सिद्धान्तोंमें बड़ा अन्तर है ।

वैराग्य-चर्चा

वैराग्यका विषय बड़े ही महत्त्वका है। वन हो, पहाड़ हो, गङ्गाका किनारा हो—ऐसे स्थलोंमें वैराग्यकी चर्चा अधिक शोभा देती है। ऋषि-महात्मालोग वनों, पहाड़ों और गङ्गातटपर रहकर ही तप किया करते थे। अब भी उत्तराखण्डमें रहनेसे स्वाभाविक ही वैराग्य होता है। वहाँके स्थानोंमें वैराग्यके परमाणु ओतप्रोत हैं। वैराग्यके योग्य भूमि हो, वक्ता वैराग्यमय हो और श्रोता सत्पात्र हो तो वैराग्यका वर्णन करते ही वैराग्य जाग्रत् हो जाता है—वैसे ही, जैसे कामीके हृदयमें कामिनीके वर्णनसे काम जाग्रत् हो जाता है। वैराग्यकी बात वैराग्यवान् ही कह सकता है। सच्चे वैराग्यवान् पुरुषको तो कहनेकी भी जरूरत नहीं पड़ती, उसके साथ तो वैराग्य

मूर्तिमान् होकर चलता है। वह जिस मार्गसे जाता है, उस मार्गमें मानो वैराग्यकी बाढ़ आ जाती है। उसके नेत्रोंसे वैराग्यका भाव निकलकर सब जगह व्याप्त हो जाता है।

वैराग्यके साथ उपरामता लगी रहती है और उसके साथ भगवान्‌का ध्यान लगा रहता है। आगे वैराग्य, बीचमें उपरामता, पीछे ध्यान, इस प्रकार तीनों साथ-साथ चलते हैं—जैसे वन जाते समय राम, सीता और लक्ष्मण चल हैं। रामके साथ सीता रहती ही हैं, साथ ही रामके बिना लक्ष्मणको चैन नहीं और लक्ष्मणके बिना रामको चैन नहीं रहता। राम सीताको बीचमें रखते हैं। जहाँ सच्चा वैराग्य हो, ध्यान होता हो, साधन तीव्र हो, वहाँ उपरामता रहती ही है।

वैराग्यवान्‌के दर्शनमात्रसे वैराग्य हो जाता है, फिर उसके इशारेसे—व्याख्यानसे वैराग्य हो जाय, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? वैराग्यवान्‌के व्याख्यानसे तो वेश्याका हृदय भी पलट जाता है। दत्तात्रेयजीके दर्शनसे ही एक वेश्याको वैराग्य हो गया। भक्त हरिदासजीके सम्पर्कमें आकर एक दूसरी वेश्या वैराग्यवती हो गयी। इसी प्रकार और भी कई उदाहरण दिये जा सकते हैं।

शुकदेवजी राजा परीक्षित्‌की सभामें जा रहे हैं, रास्तेमें बालक उनके ऊपर धूल फेंकते हैं, पर वे उनकी ओर ध्यानतक नहीं देते, अपनी मस्तीमें चले जाते हैं। सभामें पहुँचनेपर उनका महान् आदर होता है। शुकदेवजीमें अलौकिक उपरामता थी, अलौकिक वैराग्य था। नदीके किनारे स्त्रियाँ नहा रही थीं। शुकदेवजी उसी मार्गसे होकर निकल गये, पर किसीने लज्जा नहीं की। जब वेदव्यासजी

धातुः			गणः
८१९ यम:	भ्वा०	प०	से०
९१६ यम	चु०	उ०	,,
१२१० यसु	दि०	प०	,,
१०४९ या	अ०	प०	अ०
८६३ (टु) याचृ	भ्वा०	उ०	,,
१०३३ यु	अ०	प०	से०
१७११ यु	चु०	आ०	,,
१५६ युगि	भ्वा०	प०	,,
२१४ युछ	भ्वा०	प०	,,
१२७७ युज	दि०	आ०	अ०
१८०७ युज	चु०	उ०	से०
१४४४ युजिर्	रु०	उ०	अ०
१४७९ युञ्	क्र्या०	उ०	अ०
३१ युतृ	भ्वा०	आ०	से०
१२७३ युध	दि०	आ०	अ०
१२३५ युप	दि०	प०	से०
५८० यूव	भ्वा०	प०	से०
१९१ यौट्ट	भ्वा०	प०	से०

र

धातुः			गणः
१८३७ रक	चु०	उ०	से०
६५८ रक्ष	भ्वा०	प०	से०
१३६ रख	भ्वा०	प०	से०
१३७ रखि	भ्वा०	प०	से०
१७३८ रग (पा०)	चु०	उ०	से०
१४४ रगि	भ्वा०	प०	से०
७८५ रगे	भ्वा०	प०	से०
१७३८ रघ (पा०)	चु०	उ०	से०
१०७ रघि	भ्वा०	आ०	से०
१७९६ रघि	चु०	उ०	से०
१८६५ रच	चु०	उ०	से०
२९७ रट	भ्वा०	प०	से०
३३४ रट	भ्वा०	प०	से०
३३४ रठ (पा०)	भ्वा०	प०	से०
४४५ रण	,,	प०	,,
७९५ रण	,,	प०	,,
८१६ रणि (पा०)	,,	प०	,,
५३ रद	,,	प०	,,
११९३ रध	दि०	प०	वे०
९९९ रञ्ज	भ्वा०	उ०	अ०
११६७ रञ्ज	दि०	उ०	अ०
४०१ रप	भ्वा०	प०	से०
४१३ रफ	,,	प०	,,
४१४ रफि	,,	प०	,,
३७६ रबि	,,	आ०	,,
९७४ रभ	,,	आ०	अ०
३८५ रभि (पा०)	,,	आ०	से०
८५३ रमु	,,	आ०	अ०
४८२ रय	,,	आ०	से०
५९६ रवि	,,	प०	,,
७१३ रस	,,	प०	,,
१९३१ रस	चु०	उ०	,,
७३१ रह	भ्वा०	प०	,,
१६२८ रह	चु०	उ०	,,
१८५९ रह	चु०	उ०	,,
७३२ रहि	भ्वा०	प०	,,
१७९९ रहि	चु०	उ०	,,
१०५७ रा	अ०	प०	अ०
१२२ राखृ	भ्वा०	प०	से०
११२ राघृ	भ्वा०	आ०	से०
८२२ राजृ	भ्वा०	उ०	से०
११८० राध:	दि०	प०	अ०
१२६२ राध	स्वा०	प०	अ०
६२६ रासृ	भ्वा०	आ०	से०
१४०४ रि	तु०	प०	अ०
[illegible] रि	स्वा०	प०	अ०
१५५ रिखि (पा०)	भ्वा०	प०	से०

धातुः	गणः		
१५४ रिगि	भ्वा०	प०	से०
१८१७ रिच	चु०	उ०	से०
१४४१ रिचिर्	रु०	उ०	अ०
१३०६ रिफ	तु०	प०	से०
५९५ रिवि	भ्वा०	प०	अ०
१४२० रिश	तु०	प०	अ०
६९४ रिख	भ्वा०	प०	से०
१[illegible]३१ रिष	दि०	प०	से०
१३०६ रिह(पा०)	तु०	प०	से०
१५०० री	क्र्या०	प०	अ०
११३८ रीङ्	दि०	आ०	अ०
१०३४ रु	अ०	प०	स०
९५९ रुङ्	भ्वा०	आ०	स०
९४५ रुच	भ्वा०	आ०	स०
१८०५ रुज	चु०	उ०	स०
१४१६ रुजो	तु०	प०	अ०
७४७ रुट	भ्वा०	आ०	से०
१६७१ रुट(पा०)	चु०	उ०	से०
१७८४ रुट	चु०	उ०	से०
३२७ रुटि	भ्वा०	प०	से०
३३६ रुठ	भ्वा०	प०	से०
३२७ रुठि(पा०)	भ्वा०	प०	से०
३४५ रुठि	भ्वा०	प०	से०
३२७ रुडि(पा०)	भ्वा०	प०	से०
१०६७ रुदिर्	अ०	प०	से०
११७४(अनो)रुध	दि०	आ०	अ०
१४३८ रुधिर्	रु०	उ०	अ०
१२३६ रुप	दि०	प०	से०
१४१९ रुश	तु०	प०	अ०
१७८९ रुशि	चु०	उ०	से०
६९३ रुष	भ्वा०	प०	से०
११३० रुष	दि०	प०	से०
१६७१ रुष	चु०	उ०	से०
१७९१ रुसि	चु०	उ०	से०

धातुः	गणः	
८५९ रुह	भ्वा०	प०
१९१० रूक्ष	चु०	उ०
१९३३ रूप	[illegible]	उ०
६७८ रूष	भ्वा०	प०
८० रेकृ	,,	आ०
८६४ रेटृ	,,	उ०
३७२ रेटृ	,,	उ०
३८५ रेमृ	,,	उ०
५०७ रेवृ	,,	उ०
६२० रेषृ	,,	उ०
९०९ रै	,,	प०
३५६ रोडृ	,,	प०
३५५ रौडृ	,,	प०

ल

धातुः	गणः	
१६९७ लक्ष	चु०	आ०
१५३८ लक्ष	चु०	उ०
१३८ लख	भ्वा०	प०
१३९ लखि	भ्वा०	प०
१७३८ लग	चु०	उ०
१४५ लगि	भ्वा०	प०
७८६ लगे	भ्वा०	प०
३०८ लघि	भ्वा०	आ०
१७६१ लघि	चु०	उ०
१७९७ लघि	चु०	उ०
२०६ लछ	भ्वा०	प०
२३८ लज	भ्वा०	प०
१५४३ लज(पा०)	चु०	उ०
१९२० लज	चु०	उ०
२३९ लजि	भ्वा०	प०
१५५६ लजि(पा०)	चु०	उ०
[illegible] लजि	,,	उ०
१९२० लजि(पा०)	,,	उ०
१२९० (ओ)लजी	तु०	आ०

अमरीश उपाध्याय

आये तो उनको देखकर सभी स्त्रियोंने लज्जावश कपड़े पहन लिये। वेदव्यासजीने इसका कारण पूछा, तब स्त्रियोंने कहा कि 'शुकदेवजीकी दृष्टिमें स्त्री-पुरुषका भेद ही नहीं है। आप हमें स्त्री समझते हैं, इसलिये हमने मर्यादावश आपको देखकर कपड़े पहन लिये।' इतनी भारी उपरामता शुकदेवजीमें थी।

जडभरतजीपर भी वैराग्यका इतना नशा चढ़ा रहता था, मानो किसीने शराब पी ली हो! शराबका नशा तामसिक है, अन्नका राजसिक है और वैराग्यका सात्त्विक है। जडभरत वैराग्य और उपरामताके सात्त्विक नशेमें चूर रहते थे। तीनों जन्मकी बातें उनको याद थीं। मस्त बने बैठे रहते थे। घरवालोंने उन्हें मूर्ख समझ रक्खा था। पर जडभरतजीको किसीकी परवा नहीं थी। देवी भद्रकालीकी बलिके लिये जडभरतजीको राजाके आदमी पकड़ ले गये, उन्होंने उनकी गरदनपर तलवार मारनेको ज्यों ही हाथ उठाया कि देवी प्रकट हो गयीं और उन्होंने मारनेवालोंको मार डाला। तत्पश्चात् देवीने जडभरतजीको वरदान माँगनेके लिये कहा। देवीके आग्रहसे उन्होंने यही वर माँगा कि 'मेरे मारनेवालोंको जिला दो।' ऐसे ही एक बार राजा रहूगणकी पालकीमें जडभरतजी जोत दिये गये, वे अपने नित्यके अभ्यासके अनुसार कूदते-फाँदते चलने लगे। राजाने यह देखकर उन्हें बहुत डाँटा-डपटा तथा मारनेकी धमकी दी। जडभरतजी राजाकी बातोंको शान्तिपूर्वक सुनते रहे और अन्तमें उन्होंने उसकी बातोंका बड़ा सुन्दर और ज्ञानपूर्ण उत्तर दिया। जब राजाने इस प्रकारका सुन्दर उत्तर उस पालकी ढोनेवाले मनुष्यसे सुना तो उसके मनमें यह निश्चय हो गया कि हो-न-हो, ये कोई

छद्मवेषधारी महात्मा हैं । वह तुरंत पालकीसे उतरकर जडभरतजी-के चरणोंमें गिर पड़ा और लगा उनसे गिड़गिड़ाकर क्षमा माँगने। दयालु जडभरतजीने उसे उपदेश दिया ।

ध्यान लगानेके लिये सौ युक्तियोंकी एक युक्ति वैराग्य है। युक्तियाँ तो फिर अपने-आप उपजने लगती हैं । ध्यान करनेवाले योगी महात्मालोग वैराग्यका ही आश्रय लेते हैं ।

ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥

(गीता १८ । ५२)

फलतः—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥

(गीता १८ । ५४)

—इत्यादि

'फिर वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें एकीभावसे स्थित, प्रसन्न मनवाला योगी न तो किसीके लिये शोक करता है और न किसी-की आकाङ्क्षा ही करता है । ऐसा समस्त प्राणियोंमें समभाव-वाला योगी मेरी परा भक्तिको प्राप्त हो जाता है ।'

इन श्लोकोंके अनुसार उनकी स्थिति हो जाती है । जब वैराग्यकी इतनी महिमा है, तब पर-वैराग्यका तो कहना ही क्या है?

संसारके पदार्थोंमें आसक्ति न होनेका नाम वैराग्य है । संसारके किसी भी भोगमें आसक्ति न रहे, प्रीति न रहे, लगाव न रहे—यहाँतक कि ब्रह्मलोकके सम्पूर्ण भोग भी काकविष्ठावत् प्रतीत होने लगें; यही

वैराग्य है। भोग्य पदार्थोंकी ओर वृत्तियाँ ही न जायँ, यह उपरामता है। वैराग्ययुक्त उपरामता ही श्रेष्ठ है, बिना वैराग्यके उपरामता कच्ची होती है। ऋषभदेवजीमें बड़ी भारी उपरामता थी, गौतमबुद्ध-से भी बढ़कर! ऋषभदेवजीके समान उपरामताका कोई दूसरा उदाहरण नहीं मिलता। संसारमें विचरते हुए भी उन्हें संसारका ज्ञान न था। वनमें आग लगी है; किन्तु उन्हें इस बातका पता भी नहीं। अन्तमें शरीरमें आग लग गयी, शरीर आगमें जलकर भस्म हो गया; पर ऋषभदेवजीको तब भी आगका पता न चला। यह उपरामताकी सीमा है। ऐसी मस्तीमें स्थित हो जाया जाय कि कुछ पता ही न चले। शरीरका अध्यास ही न रह जाय। किसी भी संन्यासी अथवा गृहस्थमें ऐसी उपरामता आ जाय तो वह बहुत प्रशंसनीय है। केवल भीतरी उपरामता कम महत्त्वकी बात नहीं है। आत्माके कल्याणके लिये तो भीतरी उपरामताकी ही विशेष आवश्यकता है। राजा जनकमें बाहरी उपरामता नहीं थी। वास्तवमें तो उनकी दृष्टिमें जगत्का अभाव ही था। शुकदेवजीमें बाहरी-भीतरी दोनों प्रकारकी उपरामता थी। जनकजीने शुकदेवजीसे कहा था—'महाराज! आपमें बाहरी और भीतरी—दोनों प्रकारकी उपरामता है; अतः आप मुझसे श्रेष्ठ हैं। आपको कुछ सीखना नहीं है। जाकर ध्यान लगाइये।' यह सुनकर शुकदेवजी चले गये, जाकर उन्होंने ध्यान लगाया। ध्यान लगाते ही उनको समाधि लग गयी, भगवान्-की प्राप्ति हो गयी।

समुद्रमें अनेकों नदियोंका जल पड़ता है; परन्तु वह ज्यों-का-त्यों गम्भीर है, अपनी महिमामें परिपूर्ण है। ऐसे ही ज्ञानी महात्मा,

विरक्त, निष्कामी पुरुष अपनी महिमामें परिपूर्ण होते हैं। उन्हें संसारके पदार्थ आप-से-आप आकर प्राप्त होते हैं। वे व्यवहार भी करते हैं, परन्तु विकारको नहीं प्राप्त होते; उन्हें शान्ति ही प्राप्त होती है (देखिये गीता २। ७१)। ज्ञानी महात्माकी दृष्टिमें संसार-का अत्यन्त अभाव होता है और संसारी नास्तिक पुरुषोंकी दृष्टिमें परमात्माका अत्यन्त अभाव है। विषयी पुरुषके मनमें यह शङ्का रहती है कि परमात्मा है या नहीं। किन्तु नास्तिक कहता है कि 'परमात्मा है ही नहीं।' इसी प्रकार ज्ञानीके लिये संसार नहीं है। सच्ची उपरामता वैराग्यसे ही होती है। उसीका फल है ब्राह्मी स्थिति। उसे जो प्राप्त कर लेता है, वह मोहको नहीं प्राप्त होता। अन्तकालमें भी उस स्थितिके प्राप्त हो जानेपर ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है। गीताके दूसरे अध्यायके ६८, ६९, ७०, ७१, ७२ इन श्लोकोंमें महात्माओंके स्वाभाविक वैराग्य एवं उपरामताका दिग्दर्शन कराया गया है। ६८ वें, ६९ वें श्लोकमें उपरामताकी तथा ७० वें और ७१ वें श्लोकमें वैराग्यकी बातें कही गयी हैं। ये प्राप्त पुरुषोंके लक्षण हैं और साधकोंके लिये यही साधन हैं। इनको लक्ष्यमें रखकर साधन करनेवाले विरक्त पुरुषोंका भाव और आचरण संसारी पुरुषोंकी अपेक्षा विलक्षण होते हैं।

रागी और विरागी पुरुषोंमें रात-दिनका अन्तर है, अन्धकार और प्रकाश-जितना अन्तर है। वास्तवमें तो वैराग्यवान् पुरुषकी पहचान होना ही कठिन है। कपूर और कस्तूरीकी गन्धको कुत्ता और गदहा क्या पहचान सकता है? वैराग्यवान् पुरुष ही वैराग्यवान्-की स्थितिका थोड़ा अनुमान कर सकता है। जो पदार्थ रागी पुरुषको प्रिय होते हैं, वे वैराग्यवान्को उलटे ही प्रतीत होते हैं। मान-बड़ाई

रागी पुरुषको अमृत-सी लगती है, पर वैराग्यवान्‌को वह विष-सी प्रतीत होती है। रागीको इत्र, फुलेल, लवेंडर आदि सुगन्धित द्रव्य अच्छे लगते हैं; पर वैराग्यवान् इनको घृणाकी दृष्टिसे देखता है। दोनोंकी रुचि विपरीत होती हैं। मखमलका गद्दा रागीको अच्छा मालूम देता है, पर वैराग्यवान्‌को वह अच्छा नहीं लगता। जहाँ मन आया वहीं पड़ रहे; भूमि हो या चटाई, उसके लिये सब बराबर है—वैराग्यके नशेमें उसे सब कुछ अमृत-तुल्य भासता है। वैराग्यवान्‌की वृत्तियाँ संसारसे तनी हुई होती हैं। किसी स्थानपर रातको रागी-विरागी सभी सो रहे हों, जाड़ा पड़ रहा हो, आस-पास दुशाले, कम्बल और चट्टियाँ पड़ी हों; उस स्थिति-में रागीका हाथ सर्वप्रथम दुशालेपर पड़ेगा। कम्बलपर वह तभी हाथ डालेगा, जब दुशालेसे उसकी सर्दी दूर होती नहीं दीखेगी। परन्तु वैराग्यवान्‌का हाथ उस स्थितिमें भी स्वाभाविक ही चट्टियों-पर जायगा, दुशालेपर नहीं।

वैराग्यवान्‌को जो सुख प्राप्त होता है वह रागीको कभी नहीं मिलता। वैराग्यवान्‌का सुख सात्त्विक सुख होता है। जहाँ फूलोंकी वर्षा हो रही होगी वहाँ वह जायगा ही नहीं। उसे तो संसारके सभी सुख बुरे मालूम होते हैं। संसारके सुख ही क्यों, देवता उसके सामने विमान लेकर आवें तो भी वह उनकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखेगा। दधीचिके पास इन्द्र जाता है, ऋषि ध्यानमें मस्त हैं। आँख खुलनेपर इन्द्र उन्हें कुछ उपदेश सुनानेके लिये कहता है। ऋषि कहते हैं—'इन्द्र! तेरा सुख कुत्तोंका-सा है।' जिस स्थितिमें इन्द्रलोकका सुख—इन्द्राणीका सुख भी कुत्तोंके सुख-सा लगता है, वह कितने अगाध सुखकी स्थिति है, जरा इसका विचार तो कीजिये।

छोटे बच्चे मखमलके कोट पहनते हैं, गोटेकी कामदार टोपी पहनते हैं, खिलौनोंको लेकर खूब आमोद-प्रमोद करते हैं। वे अपने पितासे कहते हैं कि 'तुम भी खेलो।' पर पिता उनके इस आग्रहपर हँसता है। बालकके चमकीले कपड़ोंसे हम सबको स्वाभाविक ही वैराग्य होता है, वे हमें अच्छे नहीं लगते। इसी प्रकार वैराग्यवान् पुरुषोंको जो भोगकी चीजें देते हैं, उनकी इस चेष्टापर वैराग्यवान् हँसते हैं। उनकी वृत्तियोंमें वैराग्यके कारण इतना आनन्द भरा रहता है कि उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। उसे अमृतकी भी उपमा नहीं दी जा सकती। उनके हृदयमें क्षण-क्षणमें आनन्दकी लहरें उठा करती हैं। हम उनकी स्थितिको कैसे समझें, वैराग्य हो तो कुछ समझें भी। साँपके काटनेपर जिस प्रकार क्षण-क्षणमें विषकी लहरें आती हैं, समुद्रमें जिस प्रकार जलकी लहरें उठती हैं, बिजलीका करेण्ट छू जानेपर जिस प्रकार रक्तमें दुःखद लहरें उठती हैं वैसे ही वैराग्यमें सुख और शान्तिकी लहरें उठती हैं। वास्तवमें ये उदाहरण भी वैराग्यजनित सुखकी लहरोंको समझा नहीं सकते। उनको समझानेके लिये संसारमें कोई उदाहरण है ही नहीं। यदि कामी पुरुषका दृष्टान्त दें तो उसको शान्ति और सच्चे सुखका क्या पता! लोभीको पारस मिलनेपर जो आनन्द मिलता है, उसके साथ भी इसकी तुलना नहीं की जा सकती; क्योंकि उस आनन्दके साथ यह भय भी लगा रहता है कि उस पारसको कोई छीन न ले जाय। पारसके छिन जानेके भयके साथ उसे अपनी मृत्युका भी भय रहता है कि इस पारसके पीछे कोई उसे मार न दे। अस्तु; वैराग्यवान्के अनन्त सुखके सामने सांसारिक सुखका कोई भी उदाहरण नहीं रहता।

रागीको संसारके विषयभोगोंको भोगनेमें जो आनन्द प्रतीत होता है, वैराग्यवान्‌को वही दुःख प्रतीत होता है। वैराग्यवान्‌पर वैराग्यका ऐसा नशा चढ़ा रहता है कि भोगोंकी ओर वह दृष्टि ही नहीं डालता; उनमें उसे रस ही नहीं मिलता। वह तो वैराग्यके रसमें ही सराबोर रहता है। उपरामता होनेपर जो रस मिलता है, वह वैराग्यसे भी अधिक होता है और भगवान्‌के ध्यानमें तो और भी विशेष सुख मिलता है। गीताके ५ वें अध्यायका २१ वाँ श्लोक देखिये—

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥

'बाहरके विषयोंमें आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला साधक आत्मामें स्थित जो ध्यानजनित सात्त्विक आनन्द है, उसको प्राप्त होता है; तदनन्तर वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके ध्यानरूप योगमें अभिन्नभावसे स्थित पुरुष अक्षय आनन्दका अनुभव करता है।'

इस सुखको कैसे समझाया जाय! सारा जगत् तो परमात्मरूप अमृतसागरकी एक बूँदके आभासमें ही आनन्दित हो रहा है— मुग्ध हो रहा है; ध्यानजनित सुख उसकी एक बूँदके समान है। जिसकी बूँदमें इतना सुख है, उस सुखसागरके साक्षात् मिल जानेपर कितना अपार सुख मिलता है, उसे कोई समझा नहीं सकता। वह तो मन-वाणीसे अतीत है। अतः इसकी प्राप्तिके लिये संसारके भोगोंसे विरक्त और उपराम होकर मनको परमात्माके ध्यानमें लगानेके लिये कटिबद्ध होकर चेष्टा करनी चाहिये।

आत्माके सम्बन्धमें कुछ प्रश्नोत्तर

आत्माके सम्बन्धमें कई सज्जनोंके कुछ प्रश्न मेरे पास आये हैं। उन सबके प्रश्नोंको एकत्र कर सबके उत्तर एक ही साथ अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार नीचे दिये जाते हैं। प्रश्नोंकी भाषा आवश्यकतानुसार कुछ बदल दी गयी है। प्रश्न संक्षेपमें इस प्रकार हैं-

(१) 'जीव', 'आत्मा' और 'परमात्मा'के अलग-अलग लक्षण बतलाते हुए आपने लिखा है कि 'स्थूल, सूक्ष्म और कारण-इन तीनों शरीरोंके सम्बन्धसे रहित व्यष्टि-चेतनका नाम 'आत्मा' है। इसको कूटस्थ भी कहते हैं।' इसपर यह शङ्का होती है कि एक, दो या तीन शरीरोंके आवरणसहित चेतनको तो व्यष्टि-चेतन कह सकते हैं; परन्तु इन शरीरोंके आवरणके अतिरिक्त चेतनको और कौन-सा आवरण है, जिससे उसकी व्यष्टि-सत्ता बनी रह सकती है? और आवरणरहितको व्यष्टि कैसे कह सकते हैं? यदि आवरणके बिना भी चेतन व्यष्टिरूपमें रह सकता है, तो फिर व्यष्टि और समष्टिमें अन्तर ही क्या रहा ? और आत्माके स्वरूपको समझानेके लिये आपने जो खाली घटमें रहनेवाले आकाशका दृष्टान्त दिया है, वह आपके ही कथनानुसार आत्मामें लागू नहीं होता; क्योंकि दृष्टान्तमें घटरूपी आवरण मौजूद है। आपके उत्तरसे जान पड़ रहा है कि आपने अद्वैत-सिद्धान्तके अनुसार उत्तर दिया है। किन्तु आपके कथनानुसार यदि शरीरोंके आवरण बिना आत्माकी व्यष्टि-सत्ता बनी रह सकती है, तो अनेकात्मवाद मानना पड़ेगा। उस हालतमें अद्वैत-सिद्धान्त और द्वैत-सिद्धान्तमें भेद ही क्या रह जायगा?

(२) स्थूलशरीर, सूक्ष्मशरीर और कारणशरीरकी परिभाषा

क्या है ? तथा महाप्रलयके समय जीवका केवल कारणशरीरके साथ सम्बन्ध रहता है, यह कहनेका क्या अभिप्राय है ? और मन-बुद्धिका कारणशरीरमें लय हो जाना किसे कहते हैं ?

(३) जाग्रत्-अवस्था, स्वप्नावस्था, सुषुप्ति-अवस्था और तुरीयावस्थाका क्या स्वरूप है ?

(४) डाक्टर लोग जो क्लोरोफार्म आदिका प्रयोग करके कृत्रिम मूर्च्छा ले आते हैं, उसमें कष्टका अनुभव क्यों नहीं होता ? तथा उस कृत्रिम मूर्च्छा लानेका क्या मतलब है ?

(५) स्थूलशरीरसे सूक्ष्मशरीरके साथ जीवका प्रस्थान कब होता है—हृदयकी गति बंद होनेपर या पहले ही ?

(६) जीवके एक शरीर छोड़कर दूसरे शरीरमें प्रवेश करनेमें कुछ समय लगता है या तुरंत उसे दूसरी योनि मिल जाती है ? यदि समय लगता है तो कितना समय लगता है तथा उतने समय-तक जीव कहाँ रहता है ? सूक्ष्मशरीरसे जीव किसी दूसरे स्थूल-शरीरमें प्रवेश कर सकता है या नहीं ?

(७) एक जन्ममें जो पुरुष है, वह क्या दूसरे जन्मोंमें भी पुरुष ही रहेगा और इस जन्ममें जो स्त्री है, क्या उसे प्रत्येक जन्ममें स्त्रीका शरीर ही मिलेगा ? अथवा इसमें परिवर्तन भी हो सकता है ?

(८) एक बार मनुष्य-जन्म मिलनेपर क्या दुबारा मनुष्य-जन्म ही मिलेगा या दूसरी योनि भी मिल सकती है ? यदि किसी मनुष्यको मरनेपर दूसरी योनि प्राप्त हुई तो वह अन्य योनियोंमें कबतक रहेगा और उसे पुनः मनुष्ययोनि कब मिलेगी ?

ऊपर लिखे हुए प्रश्नोंका उत्तर क्रमशः नीचे दिया जाता है—

(१) आपकी शङ्का बिल्कुल युक्तियुक्त है। आपका यह कहना ठीक ही है कि स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीरोंसे सम्बन्ध छूट जानेपर अद्वैत-सिद्धान्तके अनुसार जीवका व्यष्टिभाव नहीं रह जाता, वह समष्टिके साथ मिल जाता है। इसीका नाम कैवल्य-मुक्ति या निर्वाण है। 'जीव' और 'आत्मा' का भेद समझानेके लिये तथा इन दोनों संज्ञाओंकी पृथक्-पृथक् उपपत्ति बतलानेके लिये ही यह बात लिखी गयी थी कि उपर्युक्त शरीरोंमेंसे एक, दो या तीनोंसे सम्बन्धित चेतनका नाम 'जीव' है और इन तीनोंके सम्बन्धसे रहित व्यष्टि-चेतनका नाम 'आत्मा' है। वास्तवमें तीनों आवरणोंसे रहित आत्माकी कोई व्यष्टि-सत्ता रहती हो सो बात नहीं है। अवश्य ही, जैसा कि आपने लिखा है, अद्वैत-सिद्धान्तके अनुसार 'आत्मा' और 'परमात्मा' में कोई वास्तविक भेद नहीं है, केवल नामका ही भेद है। किन्तु एक या एकसे अधिक शरीरोंका आवरण रहनेपर भी चेतन तो उनके साथ रहता ही है, त्रिविध शरीरोंसे पृथक् केवल उस चेतनको द्योतित करनेके लिये ही 'आत्मा' का ऐसा लक्षण किया गया था। दृष्टान्तमें भी ऐसी ही बात समझनी चाहिये। यद्यपि घटरूप आवरणसे पृथक् घटावच्छिन्न आकाशकी कल्पना नहीं की जा सकती, किन्तु घटसे भिन्न उसके स्वरूपको समझानेके लिये ही उसकी पृथक् संज्ञा की जाती है। सिद्धान्तकी दृष्टिसे तो आपका कहना ठीक ही है। उसके सम्बन्धमें हमको कोई विप्रतिपत्ति नहीं है।

(२) स्थूल पञ्चमहाभूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश) से बने हुए देव, तिर्यक्, मनुष्य, सरीसृप, कीट-पतङ्गादि भेदसे अनेकों भेदवाले व्यक्त शरीरका नाम 'स्थूलशरीर' है। इस

शरीरके साथ संयोग और वियोग होनेका नाम ही जन्म और मृत्यु है। इस शरीरको लेकर ही प्राणियोंके अनेक भेद दृष्टिगोचर होते हैं।

पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय, पञ्च प्राण तथा मन, बुद्धि—इन सत्रह तत्त्वोंसे बने हुए अव्यक्त शरीरका नाम सूक्ष्मशरीर है। मृत्युके समय एक स्थूलशरीरसे दूसरे स्थूलशरीरमें गमनागमन इसीका होता है। इसीके गमनागमनका आत्मापर आरोप होनेसे आत्माका गमनागमन कहा जाता है, वास्तवमें आत्मा सर्वव्यापी होनेके कारण अचल है यह हमलोगोंकी इन्द्रियोंका विषय न होनेके कारण 'सूक्ष्म' कहलाता है। सूक्ष्मशरीर प्राणमय होनेके कारण वायुप्रधान होता है। इसे 'लिङ्ग-शरीर' भी कहते हैं। स्वप्नावस्थामें जीव प्रधानरूपसे इसीके साथ सम्बद्ध रहता है।

कारणशरीर केवल प्रकृतिका बना हुआ होता है। इसको स्वभाव भी कहते हैं। सूक्ष्मशरीर स्थूलशरीरकी अपेक्षा सूक्ष्म होनेपर भी कारणशरीरकी अपेक्षा स्थूल है। गाढ़ निद्रा तथा मूर्च्छाकी अवस्थामें जीवका केवल इसी शरीरके साथ सम्बन्ध रहता है; स्थूल एवं सूक्ष्म दोनों ही शरीरोंके साथ उसका सम्बन्ध नहीं रहता। महाप्रलयके समय जब महत्तत्त्वपर्यन्त सारी प्राकृतिक सृष्टि महाकारण अर्थात् मूल प्रकृति (अव्याकृत माया) में लीन हो जाती है, उस समय जीव इसी कारणशरीरसे संश्लिष्ट होकर प्रकृतिरूप कारणाब्धिमें लीन रहते हैं और महासर्गके आदिमें—जब प्रकृतिमें क्षोभ होता है—पुनः पूर्वकर्मोंके अनुसार सूक्ष्मशरीरको प्राप्त हो जाते हैं और फिर क्रमशः स्थूलशरीरको ग्रहण करते हैं।

सुषुप्ति एवं मूर्च्छाकी अवस्थामें तथा महाप्रलयके समय इन्द्रिय तथा मन-बुद्धिकी प्रकृतिसे अलग सत्ता नहीं रहती । वे इन्द्रिय, मन और बुद्धि अपने कारण—प्रकृति—में लीन हो जाते हैं। इसीलिये उस समय जीवको सुख-दुःखका बोध नहीं होता; उनके कारणशरीरमें लीन हो जानेका यही भाव है ।

(३) जाग्रत्-अवस्थाका अर्थ है जागनेकी अवस्था । जिस समय हमारे स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीर संयुक्त होकर कार्य करते हैं, इन्द्रिय एवं मनके साथ-साथ शरीर भी सचेष्ट रहता है, कर्मेन्द्रियाँ सजग रहती हैं, शरीरमें चेतना रहती है, उस अवस्थाको जाग्रत्-अवस्था कहते हैं ।

जिस समय हमारा स्थूलशरीर निश्चेष्ट रहता है; केवल सूक्ष्मशरीर जाग्रत् रहता है—एवं इन्द्रिय, मन, बुद्धिकी चेष्टा भीतर-ही-भीतर चालू रहती है, मन, बुद्धि एवं इन्द्रियोंके द्वारा हम अनेक प्रकारके दृश्योंकी कल्पना करके सुख-दुःखका अनुभव करते हैं, स्थूलशरीरके एक ही स्थानपर सोये रहनेपर भी सूक्ष्मशरीरके द्वारा भिन्न-भिन्न स्थानोंकी सैर करते हैं और भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंसे मिलते हैं, जिस समय हमारी इन्द्रियाँ स्थूलशरीरसे वियुक्त होकर कार्य करती हैं, स्थूल विषयोंके साथ संयोग न होनेपर भी सूक्ष्म विषयोंका उपभोग करती हैं,—उस अवस्थाका नाम स्वप्नावस्था है ।

गाढ़ निद्राकी स्थितिको सुषुप्ति-अवस्था कहते हैं । इसमें स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीर निश्चेष्ट हो जाते हैं, दोनोंका कार्य बंद हो जाता है । केवल प्राणोंका व्यापार बंद नहीं होता, श्वास-प्रश्वासकी क्रिया चलती रहती है। इन्द्रिय तथा मन, बुद्धि इस अवस्थामें अपने कारण—प्रकृति अर्थात् अज्ञान—में लीन हो जाते हैं । इसलिये

जीवको उस समय किसी पदार्थका कुछ भी ज्ञान नहीं रहता। गाढ़ निद्राके बाद जब हम जागते हैं तो कहते हैं कि ऐसी नींद आयी कि हमें कुछ चेत ही न रहा। सुषुप्तिकी अवस्था मूर्च्छाकी-सी अवस्था होती है। इसमें चिन्ता, शोक, पीड़ा आदिका भी उतने समयके लिये नाश ही हो जाता है। इसीलिये हमलोग जब बहुत थक जाते हैं अथवा मानसिक चिन्ता तथा शारीरिक पीड़ा आदि-से व्यथित होते हैं तो निद्राका आवाहन करते हैं।

यह ऊपर बतलाया जा चुका है कि जाग्रत्-अवस्थामें स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीरोंसे आत्माका सम्बन्ध रहता है; स्वप्नावस्थामें उसका सूक्ष्म और कारण दो ही शरीरोंसे सम्बन्ध रहता है, स्थूलशरीरसे सम्बन्ध छूट जाता है। स्थूलशरीर चाहे कंकड़ोंपर पड़ा रहे अथवा उसमें घोर पीड़ा हो रही हो, स्वप्नकी अवस्थामें यदि हम इन्द्रलोककी सैर कर रहे होते हैं तो उतने समय-के लिये हम अपने स्थूलशरीरमें चुभनेवाले कंकड़ोंको तथा उनसे होनेवाली पीड़ाको बिल्कुल भूले रहेंगे। इसी प्रकार हम मखमलके गद्देपर लेटे हुए हों, पंखा चल रहा हो और दासियाँ हमारे पैर पलोट रही हों तथा चारों ओरसे हम सुरक्षित हों, किन्तु यदि उस समय स्वप्नमें हम किसी घोर जंगलमें पहुँच गये और वहाँ बाघ आकर हमको खाने लगा अथवा हम किसी नदीमें डूबने लगे अथवा चोर-डाकुओंद्वारा पीटे जाने लगे तो उस समय वह मखमल-का गद्दा, जिसपर हम स्थूलशरीरसे लेटे हुए हैं, हमें आराम नहीं पहुँचायेगा और हमारे दास-दासी शस्त्रास्त्रसे सुसज्जित होनेपर भी हमारी उस बाघसे अथवा चोर-डाकुओंसे रक्षा नहीं कर सकेंगे और न हमें नदीमें डूबनेसे बचा सकेंगे। सुषुप्ति-अवस्थामें हमारा

केवल कारणशरीरसे सम्बन्ध रहता है; स्थूल और सूक्ष्म दोनोंसे नहीं रहता। स्थूलशरीर उस समय बिल्कुल निश्चेष्ट पड़ा रहता है और सूक्ष्मशरीर अपने कारणमें लीन हो जाता है; केवल प्राणोंकी क्रिया चालू रहती है। इन तीनों अवस्थाओंसे विलक्षण चौथी अवस्था—तुरीयावस्था—वह है, जिसमें आत्माका उक्त तीनों शरीरोंसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता। यह जीवन्मुक्त महात्माओंकी अवस्था है। इस चौथी अवस्थाको प्राप्त होनेपर जीवका व्यष्टिभाव नष्ट होकर वह समष्टिमें मिल जाता है, इसीको आत्माकी स्वरूपावस्था कहते हैं। यह वास्तवमें कोई अवस्था नहीं है, आत्माका स्वरूप ही है। जिज्ञासुओंको पहली तीन अवस्थाओंसे इसकी विलक्षणता बतलानेके लिये ही इसको 'अवस्था' संज्ञा दी गयी है। इस अवस्थाको प्राप्त हुए महापुरुषोंका केवल दूसरोंके देखनेमें ही शरीरादिसे सम्बन्ध रहता है, वास्तवमें उनसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता। उनके कहलानेवाले शरीरादिका सञ्चालन फिर प्रारब्धानुसार समष्टि-चेतनके सकाशसे होता रहता है।

(४) क्लोरोफार्म आदिके प्रयोगसे शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिकी प्रायः वही अवस्था हो जाती है जो सुषुप्ति-अवस्थामें अथवा स्वाभाविक मूर्च्छाकी दशामें होती है। अर्थात् उस समय स्थूलशरीर बिल्कुल निश्चेष्ट हो जाता है और सूक्ष्मशरीरकी क्रिया भी बंद हो जाती है। केवल प्राणोंकी गति बंद नहीं होती, श्वास-प्रश्वासकी क्रिया चालू रहती है। इन्द्रिय, मन, बुद्धि ही सुख-दुःखके अनुभवके द्वार हैं और ये सब उस समय अपने कारण—प्रकृतिमें लीन हो जाते हैं; अतएव उस अवस्थामें अङ्गोंके काटे जानेपर भी पीड़ा नहीं

होती और न उनके काटे जानेका ज्ञान ही रहता है। इसीलिये डाक्टर लोग चीर-फाड़ करते समय इन द्रव्योंका उपयोग करते हैं, जिससे वह कार्य आसानीसे हो सके और रोगीको कष्ट भी न हो।

(५) स्थूलशरीरसे सूक्ष्मशरीरकेसाथ जीवका प्रस्थान हृदयकी गति बंद होनेके बाद ही होता है। जबतक हृदयमें धड़कन रहती है, तबतक जीवका प्रस्थान नहीं माना जा सकता। हृदयकी धड़कन बंद हो जानेके बाद भी कुछ समयतक जीव रह सकता है और यह भी सम्भव है कि हृदयकी धड़कन इतनी सूक्ष्म हो कि दूसरोंको उसका पता न लगे। अतः हृदयकी धड़कन बंद हो जानेपर भी जीवकी स्थिति शरीरमें रह सकती है; परन्तु इसके विपरीत जबतक हृदयमें धड़कन रहती है, तबतक तो जीवका रहना निश्चित ही है।

(६) प्राणोंका जिस क्षणमें शरीरसे वियोग होता है, जीवका सूक्ष्मशरीर तो उसी क्षण बदल जाता है। जीवको अन्तिम क्षणमें जिस भावकी स्मृति होती है, उसीके आकारका उसका सूक्ष्मशरीर तुरंत बन जाता है, जिस प्रकार कैमरेपर जिस वस्तुका प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसके लेंस (शीशे) पर वैसा ही चित्र अङ्कित हो जाता है, उसी प्रकार प्रयाणकालमें अन्तःकरणपर जिस शरीरका चिन्तन होता है, उसका सूक्ष्मशरीर उसी आकारका बन जाता है। रह गयी स्थूलशरीरकी बात, सो जिस प्रकार कैमरेपर पड़े हुए प्रतिबिम्बके अनुसार फोटो तैयार करनेमें समयकी अपेक्षा होती है, उसी प्रकार बदले हुए सूक्ष्मशरीरके अनुरूप स्थूलशरीरके तैयार होनेमें भी समय लगता है और यह समय प्राप्त होनेवाली योनिके भेदसे न्यूनाधिक

होता है। जीवकी त्रिविध गति गीता (१४। १८) में बतलायी गयी है—ऊर्ध्व, मध्यम और अधम। ऊर्ध्व गतिको जानेवाले जीव धूम-मार्ग अथवा अर्चिमार्गसे ऊपरके लोकोंको जाते हैं, मध्यम गतिको प्राप्त होनेवाले जीव मनुष्ययोनिमें जन्म ग्रहण करते हैं और अधम गतिको प्राप्त होनेवाले जीव पशु-पक्षी, कीट-पतङ्गादि तिर्यक् योनियों अथवा वृक्षादि स्थावर योनियोंमें जन्म लेते हैं या नरकको प्राप्त होते हैं।

सकामभावसे शुभ कर्म अथवा उपासना करनेवाले जीव धूम-मार्गसे चन्द्रलोकादि दिव्य लोकोंमें जाकर देवशरीरको प्राप्त करते हैं। उन्हें उन दिव्य लोकोंमें पहुँचनेके लिये गीतादि शास्त्रोंके अनुसार क्रमशः धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष तथा दक्षिणायन आदिके अभिमानी देवताओंके स्वरूपको प्राप्त होकर जाना होता है और वहाँ वे अपने पुण्योंके अनुसार एक निश्चित अवधितक दिव्य सुख भोगकर पुनः मर्त्यलोकमें जन्म लेते हैं।

निष्काम कर्म अथवा निष्काम उपासना करनेवाले जीवोंमेंसे जिनको आत्मज्ञान होकर यहाँ मुक्ति हो जाती है, उनका तो कहीं गमनागमन होता नहीं। उनके प्राणोंका उत्क्रमण नहीं होता—'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति।' (बृ० उ० ४। ४। ६) इनसे भिन्न जो कैवल्यमुक्ति नहीं चाहते, वे क्रमशः अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायण आदिके अभिमानी देवताओंके स्वरूपको प्राप्त होते हुए अमानव पुरुषके द्वारा दिव्य अप्राकृत शरीरसे भगवान्के परमधामको ले जाये जाते हैं और अधिकारानुसार वहाँ भगवान्के सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य अथवा सायुज्यको प्राप्तकर अलौकिक सुखका अनुभव करते हैं और फिर लौटकर मर्त्यलोकमें नहीं आते।

जो जीव कर्मानुसार मरनेके बाद मनुष्ययोनिको प्राप्त होते हैं अथवा पशु-पक्षी, कीट-पतंगादि मूढ़ योनियोंको प्राप्त होते हैं, वे वायु-रूपसे उन-उन योनियोंके खाद्य पदार्थमें प्रवेश कर जाते हैं। जिस पिताके वीर्यसे उनका जन्म होनेको होता है, वह उसे खाता है और उसका परिपाक होकर जब वीर्य बनता है तो उस वीर्यके साथ वे माताकी योनिमें प्रवेश करते हैं और वहाँ-वहाँ उस-उस योनिके शरीरको धारण करते हैं। इनके अतिरिक्त जो मनुष्य घोर पाप करते हैं वे यातनाशरीर प्राप्तकर विविध नरकोंकी यातना भोगते हैं और भोग समाप्त होनेपर पुनः मर्त्यलोकमें आकर स्थूलशरीर धारण करते हैं।

सूक्ष्मशरीरसे जीव दूसरे स्थूलशरीरमें प्रवेश कर सकता है। जिन योगियोंको परकाय-प्रवेशकी सिद्धि प्राप्त होती है, वे अपने स्थूलशरीरमेंसे इच्छानुसार निकलकर दूसरे किसी मृतशरीरमें प्रवेश कर सकते हैं। इस प्रकारके उदाहरण इतिहासमें मिलते हैं। इसके अतिरिक्त योगबलसे एक शरीर छोड़कर दूसरे जीवित शरीरमें भी सूक्ष्मशरीरद्वारा प्रवेश करनेकी शक्ति प्राप्त की जा सकती है। महाभारत, शान्तिपर्वके ३२० वें अध्यायमें सुलभा नामकी एक संन्यासिनीका उल्लेख आता है, जिसने अपने योगबलसे राजा जनकके शरीरमें प्रवेश किया था।

(७) जो लोग एक जन्ममें पुरुष होते हैं, वे प्रायः आगेके जन्मोंमें भी पुरुष ही होते हैं और जिन्हें एक जन्ममें स्त्रीका शरीर मिला है, उन्हें प्रायः आगे भी स्त्रीका शरीर ही मिलेगा, चाहे वे किसी भी योनिमें जायँ। परन्तु यह कोई अटल नियम नहीं है। इसमें परिवर्तन भी हो सकता है। गुण, कर्म और स्वभावके अनुसार ही

मनुष्यको दूसरी देह प्राप्त होती है। यदि किसी पुरुषका इस जन्ममें स्त्रियोंका-सा स्वभाव बन गया हो, उसमें स्त्रियोंके-से गुण आ गये हों अथवा उसने जीवनभर स्त्रियोंके-से कर्म किये हों तो उसे अगले जन्ममें स्त्रीका ही शरीर मिले, यह बहुत सम्भव हो जाता है। इसी प्रकार यदि किसी पुरुषका चित्त अन्त समयमें स्त्रीका चिन्तन करनेमें लगा हो, तब भी उसका अगले जन्ममें स्त्री होना सम्भव है। यही बात स्त्रियोंके लिये भी लागू होती है। दूसरे जन्मकी तो बात ही क्या है, इसी जन्ममें स्त्रीके पुरुषरूपमें और पुरुषके स्त्रीरूपमें परिवर्तन होनेकी बात इतिहासमें आती है। शिखण्डीके स्त्रीसे पुरुष हो जानेका वर्णन महाभारतमें मिलता है। अर्वाचीन कालमें भी गोस्वामी तुलसीदास-जीके वरदानसे एक कन्याके बालकके रूपमें परिवर्तित हो जानेकी बात उनकी जीवनीमें आयी है। वर्तमान कालमें भी इस प्रकार-की घटनाएँ यूरोप आदि देशोंमें हुई सुनी जाती हैं।

(८) एक बार किसी जीवको मनुष्ययोनि मिल जानेपर सदा-के लिये उसे मनुष्ययोनिका पट्टा मिल जाता है, ऐसी बात नहीं समझनी चाहिये। ऐसा माननेसे भगवान्‌में निर्दयता और वैषम्यका दोष घटता है और कर्मसिद्धान्तमें भी विरोध आता है। इसका अर्थ तो यह होगा कि एक बार जिसे मनुष्य-जन्म मिल गया, वह चाहे कितने ही पाप क्यों न करे; उसे मनुष्ययोनिसे नीचे नहीं ढकेला जायगा। परन्तु ऐसी बात है नहीं। जीवोंको गुण-कर्मके अनुसार ही अच्छी-बुरी योनियाँ प्राप्त होती हैं (गीता ४। १३; १३। २१)। अच्छे कर्म करनेपर हमें मनुष्ययोनि ही क्यों, देवयोनि भी मिल सकती है, भगवान्‌तककी प्राप्ति हो सकती है। परन्तु मनुष्य यदि पापकर्म करता है तो उसे दुबारा मनुष्ययोनि मिलनेका कोई कारण

नहीं रह जाता। पापी मनुष्यको भी पुनः मनुष्यशरीर देना उसके पापोंको प्रोत्साहन देना होगा। भगवान् ऐसा कभी नहीं कर सकते। पापी मनुष्योंके मनुष्ययोनिसे ढकेले जाने तथा बार-बार आसुरी योनियोंमें गिराये जानेकी बात तो स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने अपने श्रीमुखसे कही है (गीता १६ । १९-२०)। इतिहासमें भी पापी मनुष्योंके नीचेकी योनियोंमें तथा नरकादिमें ढकेले जानेकी बात जगह-जगह आयी है। पापियोंकी तो बात ही क्या, राजर्षि भरत-जैसे धर्मात्मा तपस्वी एवं गृहत्यागी पुरुषके मरते समय एक मृगछौनेमें अन्तःकरणकी वृत्ति अटकी रह जानेके कारण मृगयोनिको प्राप्त होनेकी बात श्रीमद्भागवतादि ग्रन्थोंमें आती है। इन सब बातों-से यह सिद्ध होता है कि मनुष्यको मरनेके बाद मनुष्ययोनि ही मिले, यह आवश्यक नहीं है। बल्कि वर्तमान युगके मनुष्योंके आचरण देखते हुए तो उन्हें फिरसे जल्दी ही मनुष्ययोनि मिलनेकी सम्भावना कम ही मालूम होती है। युक्तिसे तो यह बात मालूम होती है कि बारी-बारीसे सभी जीवोंको मनुष्य होनेका सौभाग्य मिलना चाहिये, क्योंकि मुक्तिका अधिकार मनुष्ययोनिमें ही है इस न्यायसे भी जल्दी मनुष्ययोनि मिलनेकी सम्भावना नहीं है। शास्त्रोंमें भी मनुष्य-शरीरको अत्यन्त दुर्लभ बतलाया गया है। इससे भी यही बात सिद्ध होती है। मनुष्यजन्मका मौका तो भगवान् जीवको कभी-कभी ही देते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

कबहुँक करि करुना नरदेही। देत ईस बिनु हेतु सनेही ॥

परन्तु इससे यह भी नहीं मानना चाहिये कि मनुष्ययोनिके बाद फिर मनुष्ययोनि मिल ही नहीं सकती। मनुष्योचित कर्म करनेवालोंको पुनः मनुष्ययोनि भी मिल सकती है।

मुक्तिका स्वरूप-विवेचन

आत्मा सुखस्वरूप है। प्राणिमात्र सुखकी ही अभिलाषा करते हैं। दुखी होना कोई नहीं चाहता। 'सुखं मे भूयात्, दुःखं मे मा स्म भूत्' (हमें सुख-ही-सुख हो, दुःखका हम कदापि अनुभव न करें) यही सबकी इच्छा रहती है। अनुकूलतामें सुख है और प्रतिकूलतामें दुःख है। इसीलिये शास्त्रोंने सुख-दुःखकी परिभाषा करते हुए कहा है—'अनुकूलवेदनीयं सुखम्। प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्' (तर्कसंग्रह)। अपनी स्थितिसे प्रायः किसीको सन्तोष नहीं है। किसीके पास सौ रुपये हैं, वह चाहता है मेरे पास हजार रुपये हो जायँ। हजारवाला लाखकी इच्छा करता है, लाखवाला करोड़की और करोड़ रुपयेवाला राजा होनेकी इच्छा करता है, राजा चक्रवर्ती बनना चाहता है, चक्रवर्ती इन्द्रके पदकी अभिलाषा करता है। तात्पर्य यह कि सभी अधिक-से-अधिक सुख चाहते हैं। अल्पसे किसीको सन्तोष नहीं है। श्रुति भी कहती है—'नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखम्।' (छान्दोग्य० ७।२३।१) 'अल्पमें सुख नहीं है, असीम ही सुखरूप है।' तात्पर्य यह कि हम सभी निरवधि, निरतिशय सुख चाहते हैं— ऐसा सुख चाहते हैं जिसका कभी अन्त न हो, जिसमें दुःखका सम्मिश्रण न हो और जो पूर्ण हो अर्थात् जिससे बढ़कर कोई दूसरा सुख न हो। इस प्रकारके सुखकी खोज जीवको सदा ही बनी रहती है। जबतक जीवको यह अनन्त सुख प्राप्त नहीं होता, तबतक उसका भटकना बंद नहीं होता। यह अनन्त सुख ही जीवका असली लक्ष्य है। इसीको मुक्ति, मोक्ष, परमपुरुषार्थ या निःश्रेयस कहते हैं। इसे पाकर जीव

कृतकृत्य हो जाता है, उसके लिये और कुछ करना अथवा पाना बाकी नहीं रह जाता । यही सुखकी परम सीमा है, यही परम गति है ।

इस सङ्घर्षमय, कोलाहलमय जीवनके पीछे एक ऐसी सुखमय स्थिति है—जहाँ पहुँचनेपर सब समस्याएँ अपने आप हल हो जाती हैं, सारे दुःखोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है, सारे क्लेश-कर्म, शोक-सन्ताप, चिन्ता एवं भय विलीन हो जाते हैं—इस बातको तो सभी आस्तिक-नास्तिक सम्प्रदाय मानते हैं। परन्तु उसके स्वरूपके सम्बन्धमें बहुत मतभेद है। कुछ लोग तो स्वर्गको ही सुख-की अवधि मानते हैं। किन्तु इस सुखका भी नाश हो जाता है, यह अविनाशी नहीं है। यद्यपि वेदोंमें 'अपाम सोमममृता अभूम' (अथर्वशिर उप० ३) 'हमने सोमयज्ञ करके सोमपान किया और अमर हो गये'—इत्यादि श्रुतियाँ मिलती हैं, परन्तु सोमयागादिसे प्राप्त होनेवाला यह अमरत्व (देवत्व) हमारी अपेक्षा दीर्घकालस्थायी होनेपर भी है आपेक्षिक ही। देवताओंकी आयु हमलोगोंकी अपेक्षा बहुत लंबी होनेपर भी, उसका एक दिन अन्त होता है। जिन पुण्यों-से स्वर्गलोककी प्राप्ति होती है, उनका भोगद्वारा क्षय हो जानेपर जीव स्वर्गलोकसे ढकेल दिये जाते हैं और उन्हें पुनः मर्त्यलोकमें जन्म ग्रहण करना पड़ता है—'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' (गीता ९। २१)। गीतामें अन्यत्र भी कहा है कि ब्रह्मलोकपर्यन्त सब लोक पुनरावर्ती हैं अर्थात् उत्पन्न होने और नष्ट होनेवाले हैं (८। १६); उनमें रहनेवाले जीव निश्चित अवधिके बाद पुनः मर्त्यलोकमें ढकेल दिये जाते हैं। दूसरे, स्वर्गादि ऊपरके लोकोंमें, अव्यवहित सुख होने-पर भी उसमें तारतम्य अवश्य होता है। देवताओंमें भी जिनका

पुण्य अधिक होता है, उनकी आयु अधिक लंबी होती है; अन्य बहुत-से देवताओंकी अपेक्षा देवराज इन्द्रकी आयु बहुत अधिक होती है और उन्हें भोग भी अन्य देवताओंकी अपेक्षा कई गुने अधिक प्राप्त होते हैं। इस तारतम्यको लेकर वहाँके जीवोंको एक दूसरेके प्रति ईर्ष्या और अभिमान होते हैं और इन ईर्ष्यादिसे वे जलते रहते हैं। ईर्ष्याके साथ-साथ उन्हें अधिक सुखकी कामना भी सताती रहती है और साथ ही हमारा यह सुख छिन न जाय, इसका भय भी बना रहता है। इन्द्रको भी अपने इन्द्रासनके छिन जानेका भय सदा ही बना रहता है और पृथ्वीके किसी भी जीवको वे उग्र तपस्या करते पाते हैं तो उनके मनमें यह शङ्का उत्पन्न हो जाती है कि कदाचित् यह पुरुष हमारा आसन लेनेके लिये ही तप कर रहा है। इसीलिये वे प्रायः इस प्रकारके तपस्वियोंको तपसे डिगानेकी चेष्टामें लगे रहते हैं और उनकी तपस्यामें विघ्न डालते देखे जाते हैं। ऊपरके विवेचनसे यह सिद्ध हो जाता है कि स्वर्गसुख पृथ्वीके जीवोंकी दृष्टिमें बहुत बड़ी चीज होनेपर भी निरवधि एवं पूर्ण नहीं है। अतः पूर्ण सुख चाहनेवालोंके लिये वह भी अभीष्ट नहीं हो सकता।

वेदान्त-सिद्धान्तके अनुसार ब्रह्म ही निरतिशय पूर्ण सुखस्वरूप है। ब्रह्मका अभेदरूपसे साक्षात्कार हो जानेपर जीव सदाके लिये सब प्रकारके दुःखों एवं बन्धनोंसे मुक्त होकर परमानन्द एवं परम शान्तिको प्राप्त होता है। उसे फिर जन्म-मृत्युका भय नहीं रहता। वह हर्ष-शोकादि समस्त विकारोंसे छूट जाता है—'हर्षशोकौ जहाति' (कठ० १।२।१२)। उसका अज्ञान सदाके लिये नष्ट हो जाता

है—उसकी अविद्यारूप ग्रन्थि खुल जाती है, वह सन्देहरहित हो जाता है, उसके सब प्रकारके क्लेश-कर्म नष्ट हो जाते हैं। उसका संसारमें कोई कर्तव्य नहीं रह जाता।

भेदरूपसे परमात्माका साक्षात्कार हो जानेपर भी मनुष्य जन्म-मृत्युके बन्धन तथा सब प्रकारके क्लेशोंसे मुक्त होकर सगुण भगवान्‌के अप्राकृत नित्य धाममें अप्राकृत देहसे निवास करता है और वह भगवान्‌की सन्निधिके सुखका अनुभव करता है। भेदोपासनासे प्राप्त होनेवाली इस मुक्तिके सालोक्य(भगवान्‌के लोकमें निवास),सामीप्य (भगवान्‌की सन्निधिमें निवास), सारूप्य (भगवान्‌के समान रूपकी प्राप्ति) तथा सायुज्य (भगवान्‌में विलीन होना)—ये चार भेद हैं। उक्त चार प्रकारकी मुक्तिमेंसे किसीको भी प्राप्तकर जीव जन्म-मृत्युके चक्करसे सदाके लिये छूट जाता है और सदा निरतिशय आनन्दका अनुभव करता है। योगियोंके द्वारा यही स्थिति प्रार्थनीय है—यही जीवका अन्तिम लक्ष्य है। इसीको प्राप्त करनेके लिये भगवान् हमें मनुष्यशरीर देते हैं; क्योंकि मनुष्य-शरीरमें ही इसके लिये साधन बन सकता है, अन्य योनियोंमें नहीं। अतः मनुष्य-शरीर पाकर हमें इसीके लिये यत्न करना चाहिये। इसे प्राप्त करनेमें ही मनुष्य-देहकी चरितार्थता है। अन्यथा भोगसुख तो हमें पशु, पक्षी आदि अन्य योनियोंमें भी प्राप्त हो सकते हैं। भोगोंसे यदि हमारी तृप्ति हो सकती होती तो कबकी हो गयी होती; क्योंकि अबतक हमने न जाने कितनी बार भिन्न-भिन्न योनियोंमें जन्म लिया है और कितने असंख्य भोग भोगे हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि भोगोंमें सुख नहीं है, भोगोंके त्यागमें ही सुख है। अतः हमें भोगोंकी आसक्ति छोड़कर

निष्काम कर्म, भक्ति अथवा ज्ञानके द्वारा उपर्युक्त स्थितिको प्राप्त करनेकी पूरी चेष्टा करना चाहिये और इसी जन्ममें अपना काम बना लेना चाहिये। क्योंकि फिर न जाने यह दुर्लभ अवसर हमको कभी मिले या न मिले। मनुष्यजन्मको शास्त्रोंमें देवदुर्लभ बतलाया गया है। नाना प्रकारकी योनियोंमें भटकता हुआ यह जीव जब अत्यन्त थक जाता है, तब भगवान् इसपर दया करके इसे मनुष्य-शरीर देते हैं और इस प्रकार इसे जन्म-मृत्युसे छूटनेका सुन्दर अवसर प्रदान करते हैं। परन्तु यह जीव कृतघ्नकी भाँति इस अवसरको हाथसे खो देता है और अन्तमें पछताता है। परन्तु फिर पछतानेसे क्या होता है?

इस मुक्तिके सम्बन्धमें लोगोंके मनमें कई प्रकारकी शङ्काएँ उठा करती हैं। कुछ लोग मुक्तिको अपुनरावर्तनकी स्थिति नहीं मानते। उनकी मान्यता यह है कि मुक्त पुरुष महाप्रलयपर्यन्त संसारमें नहीं लौटते अर्थात् उनकी वह स्थिति महाप्रलयतक कायम रहती है। महाप्रलयके बाद जब पुनः सृष्टि उत्पन्न होती है अर्थात् महासर्गके आदिमें मुक्त जीव पुनः संसारमें लौट आते हैं। इसके लिये वे युक्ति यह पेश करते हैं कि यदि मुक्त जीव कभी न लौटें तो एक दिन सब जीव मुक्त हो जायँगे और यह संसार फिर रह ही नहीं जायगा, बल्कि जब यह सृष्टि अनादिकालसे चली आयी है तो अबतक सब जीवोंको मुक्त हो जाना चाहिये था। किन्तु अबतक संसारका अभाव नहीं हुआ, इससे तो यही मालूम होता है कि मुक्त जीव महासर्गके आदिमें पुनः लौट आते हैं और इस प्रकार संसार-का क्रम बराबर चलता रहता है।

इसका उत्तर यह है कि यदि मुक्तिकी भी अवधि मानी जाय

तो फिर स्वर्गमें और मोक्षमें कोई विशेष अन्तर नहीं रह जाता। जिस प्रकार स्वर्गस्थ जीवोंकी आयु हमलोगोंकी अपेक्षा बहुत अधिक होनेपर भी उसका एक दिन अन्त हो जाता है, उसी प्रकार ऐसी मुक्तिकी भी अवधि इन्द्रादि देवताओंकी आयुकी अपेक्षा बहुत अधिक होनेपर भी उसकी भी समाप्ति हो जाती है। निरवधि सुख उसे भी नहीं कह सकते। अतः वह स्थिति भी आपेक्षिक एवं अन्तवाली होनेके कारण त्याज्य ही ठहरती है, वह भी गतागतरूप ही कहलायेगी। ऐसी दशामें अनन्त सुखकी कल्पना जीवके लिये स्वप्नवत् ही सिद्ध होती है। उसकी वह अभिलाषा मृगतृष्णारूप ही ठहरती है। वह कभी पूर्ण नहीं होनेकी। इसका अर्थ तो यह हुआ कि जीव अनन्त कालतक भटकता ही रहेगा; उसका भटकना कभी बंद नहीं होगा। वह कभी अनन्त सुखका भागी नहीं हो सकेगा। अतः ऐसा मानना ठीक नहीं। श्रुति भी कहती है—

'न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते ॥'

(छान्दोग्य० ८। १५। १)

तथा भगवान् गीतामें भी कहते हैं—

'मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥'

(८। १६)

'गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥'

(५। १७)

यदि केवल युक्तिके आधारपर इसका निर्णय करें, तो युक्ति भी हमारे पक्षका ही समर्थन करती है। थोड़ी देरके लिये यदि यह मान लिया जाय कि दोनों पक्ष संदिग्ध हैं, मुक्त जीव लौटते हैं

या नहीं—यह विवादास्पद है, तो भी यही मानना कि मुक्त जीव लौटते नहीं अधिक लाभदायक, युक्तियुक्त, सर्वोत्तम एवं सुरक्षित है। हम यदि यह मानते हैं कि मुक्त जीव कभी लौटते नहीं, वे सदाके लिये जन्म-मरणके चक्करसे छूट जाते हैं, अक्षय सुखके भागी हो जाते हैं, तो हम इस आशा और विश्वासपर उक्त स्थितिके लिये प्राणपणसे चेष्टा करेंगे। और यदि ऐसी स्थिति वास्तवमें मिलती होगी और हमारा प्रयत्न ठीक तौरसे जारी रहा तो वह स्थिति हमें एक दिन इसी जन्ममें—यदि कमी रही तो दूसरे किसी जन्ममें—अवश्य प्राप्त हो जायगी। थोड़ी देरके लिये मान लिया जाय कि मुक्त पुरुषका पुनर्जन्म होता है और पुनर्जन्म न माननेवाले भूल करते हैं। किन्तु इस भूलसे उनकी हानि ही क्या है? क्योंकि इस सिद्धान्तके अनुसार पुनरागमन माननेवाला भी वापस आवेगा और न माननेवाला भी। फल दोनोंका एक ही होगा। परन्तु कदाचित् मुक्त पुरुषका पुनरागमन नहीं होता—यही सिद्धान्त सत्य हो, तब तो भूलसे पूर्वोक्त मुक्ति माननेवालेकी बड़ी भारी हानि होगी। कारण, इस पुनरागमन माननेवालेको वह अपुनरावृत्तिरूप परम गति तो कभी मिल ही नहीं सकती, क्योंकि इस आत्यन्तिक स्थितिमें उसका विश्वास ही नहीं है। यदि हम यह मानते हैं कि मुक्ति प्राप्त हो जानेपर भी हमें संसारमें लौटना ही होगा तो फिर हम उस वास्तविक मुक्तिसे—जिसका कभी अन्त नहीं होता—वञ्चित ही रह जायँगे, वह कभी हमें मिलनेकी ही नहीं; क्योंकि जिस स्थितिमें हमारा विश्वास ही नहीं है, वह स्थिति हमें कैसे मिल सकती है। उसके लिये प्रथम तो हम चेष्टा ही नहीं करेंगे और करेंगे भी तो पूरे जोशसे नहीं

फ याद

करेंगे, अतः उसमें सफल नहीं होंगे। हमें मुक्ति मिलेगी भी तो उसी कोटिकी मिलेगी, जिस कोटिकी मुक्तिमें हमारा विश्वास है। अपुनरावर्तनकी स्थिति हमें कभी प्राप्त नहीं होनेकी।

रही यह आशङ्का कि मुक्त जीव यदि लौटते नहीं तो फिर एक दिन अशेष जीव मुक्त हो जायँगे और संसारका अभाव हो जायगा, तो इसमें हमारी क्या हानि है। प्रथम तो जितने जीव संसारमें हैं, उनके मुकाबलेमें मुक्त होनेवाले जीवोंकी संख्या समुद्रमें बूँदके समान भी नहीं है; क्योंकि मुक्तिका अधिकार केवल मनुष्यों-को ही प्राप्त है और मनुष्योंकी संख्या बहुत ही परिमित है। वर्तमान युगमें मनुष्योंकी संख्या कुल मिलाकर दो अरबसे अधिक नहीं है और मनुष्योंमें भी—जैसा भगवान् श्रीकृष्णने गीता (७। ३) में कहा है—हजारोंमें कोई एक मुक्तिरूप सिद्धिके लिये यत्न करता है और उन प्रयत्न करनेवालोंमें भी हजारोंमें कोई एक सफलप्रयत्न होता है। इसके मुकाबलेमें जब हम मनुष्येतर प्राणियोंकी संख्याकी ओर दृष्टि डालते हैं तो हमें मालूम होता है कि अखिल भूमण्डलमें जितने मनुष्य हैं, उनसे अधिक चींटियाँ तो शायद एक साधारण वनमें ही होंगी। एक चींटियोंकी संख्यासे ही मुकाबला करनेमें मनुष्योंक संख्या उसके सामने सरोवरके जलमें बूँदके समान ठहरती है। फिर अखिल ब्रह्माण्डके समस्त चराचर जीवोंकी संख्यासे मुक्त होनेवाले जीवोंकी संख्याका मुकाबला किया जाय तो वह समुद्रके जलमें बूँदके समान भी नहीं ठहरेगी। ऐसी दशामें यह शङ्का करना कि जीवोंके मुक्त होनेका क्रम जारी रहनेपर और मुक्त जीवोंके पुनः संसारमें न लौटनेपर जीवोंकी संख्या एक दिन

समाप्त हो जायगी, वैसा ही है जैसा यह शङ्का करना कि एक चींटीके जल उलीचते रहनेसे समुद्रका जल एक दिन निःशेष हो जायगा। और थोड़ी देरके लिये यदि मान लिया जाय कि ऐसा हो ही जायगा तो यह तो हमें इष्ट ही होना चाहिये; क्योंकि आजतक अनेक श्रेष्ठ पुरुष इससे पूर्व ऐसी चेष्टा कर चुके हैं, महात्मा-गण अब भी कर रहे हैं और आगे भी करते रहेंगे। यदि किसी दिन उनका परिश्रम सफल हो जाय और अखिल जगत्के जीवोंका उद्धार हो जाय तो बहुत ही अच्छी बात है, इससे सिद्धान्तमें कौन-सी बाधा है? हमारे पूर्वज ऋषियोंने प्राणिमात्रके लिये यही प्रार्थना की है—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

'सभी लोग सुखी हों, सभी लोग नीरोग रहें, सबको कल्याणकी प्राप्ति हो, कोई भी दुःखका भागी न हो।'

मुक्तिके सम्बन्धमें दूसरी शङ्का यह उपस्थित की जाती है कि शरीर रहते मनुष्य मुक्त हो सकता है या नहीं? कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि जीवन रहते मुक्ति असम्भव है, किन्तु श्रुति, स्मृति, गीता आदि ऐसा नहीं मानते और उनका यह सिद्धान्त सप्रमाण एवं सयुक्तिक भी है। 'अत्र ब्रह्म समश्नुते' (बृ० उ० ४।४।७)—इसी जन्ममें ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है—आदि श्रुतियाँ तथा 'इहैव तैर्जितः सर्गः' (गीता ५।१९)—इसी जीवनमें उनके द्वारा जन्म-मरणरूप संसार जीत लिया गया है—आदि भगवद्वाक्य इस बातके पोषक हैं। इतिहासमें भी ऐसे अनेक याज्ञवल्क्य, अश्वपति आदि जीवन्मुक्त महापुरुषोंका वर्णन मिलता है, जो संसारमें रहते हुए भी संसारसे पुष्करपलाशवत् (...पत्रके समान) सर्वथा निर्लेप रहते थे, अर्थात् शरीरमें रहते ...कं याद

